स्त्री-लेखा

स्त्री विमर्श का नया मंच

वर्ष: 1, अंक: 3, अक्टूबर-जनवरी, 2023-24

मूल्य 100/-

स्त्री वार्षिकी

रूपरेखा वर्मा, उषा प्रियम्वदा, मृदुला गर्ग, शुभा, चारु गुप्ता, अलका सरावगी

स्त्री दर्पण से जुड़ी नृत्यांगना श्रीमती सीमा मुखर्जी के निर्देशन में पिछले दिनों कृष्ण पर नृत्य नाटिका "Celeberating Krishna" का मंचन किया गया। द परफॉर्मिंग आर्ट्स ट्राइब नामक फोरम ने आयोजन किया।

इसके सह निर्देशक संदीप मुखर्जी ने बताया कि भविष्य में जल्दी ही हम इस तरह के कार्यक्रम अनेकानेक जगहों पर करेंगे जिससे स्तरीय प्रतिभाओं को प्रोत्साहित किया जा सके। कार्यक्रम की मुख्य अतिथि यूरो इंटरनेशनल स्कूल की प्रधानाचार्य नवीना दास थीं। कार्यक्रम में विशिष्ट अतिथि टिम्सी भाटिया (चीफ कॉर्डिनेटर डीएवी स्कूल सेक्टर 38 गुड़गांव)। कार्यक्रम का शुभारंभ टैगोर द्वारा ब्रजभाषा में रचित भानुसिंघर पदावली से किया गया।

स्त्री-लेखा

स्त्री विमर्श का नया मंच

अक्टूबर-जनवरी, 2023-24

वेबसाइट : www.streedarpan.com

शिवपूजन सहाय-बच्चन देवी को समर्पित

सलाहकार मंडल

मृदुला गर्ग
सुधा अरोड़ा
रोहिणी अग्रवाल
सविता सिंह
सुधा सिंह

संपादक

अरविन्द कुमार

प्रबंधन टीम

विजय नारायण, राकेश रंजन,
सीताराम शरण, देवेश्वर शरण

संपादकीय टीम

रीता दास राम, अलका प्रकाश,
अलका तिवारी, पारुल बंसल
अनुराधा ओस, सोमा बनर्जी
सुधा तिवारी

साज-सज्जा

सतीश कुमार (पटना)

सहयोग : "विभूति"

संपादकीय कार्यालय

X-11 नवीन शाहदरा,
दिल्ली-110 032
मो. : +91 9968400416
ई-मेल : streedarpan123@gmail.com

स्वामी, प्रकाशक एवं प्रिंटर दीपक मोंगा की ओर से रॉयल ऑफसेट, 489 पटपड़ गंज इंडस्ट्रियल एरिया, दिल्ली-92 द्वारा मुद्रित एवं X-11 नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 से प्रकाशित

पत्रिका में प्रकाशित लेखों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

अनुक्रमणिका

1.	संपादकीय	02
2.	महात्मा गांधी की फौज : सुजाता चौधरी	03–05
3.	रूपरेखा वर्मा से प्रीति चौधरी की बातचीत	06–11
4.	चारू गुप्ता से अलका तिवारी की बातचीत	12–17
5.	उषा प्रियंवदा से मंजू सिंह की बातचीत	18–20
6.	सुधा आरोड़ा से सुधा तिवारी की बातचीत	21–25
7.	मृदुला गर्ग का लेख	26–28
8.	ईम फॉर्स्टर पर अलका सरावगी का लेख	29–30
9.	जन्मशती प्रसंग : रांगेय राघव – गीता दुबे	31–32
10.	विजय देव नारायण शाही : सुष्मिता श्रीवास्तव	33–35
11.	शिवानी : सपना सिंह	36–37
12.	परसाई के जीवनीकार से बातचीत	38–39
13.	स्वाधीनता संग्राम से रंगकर्म तक : प्रीति लाल	40–41
14.	साहित्यकारों की पत्नियां : नंद चतुर्वेदी की पत्नी	42–44
15.	कहानी का प्लॉट : योगिता यादव	45–49
16.	कविताएँ	50–55
17.	कहानी का प्लॉट : अंजू शर्मा	56–58
18.	कविताएँ	59–68
19.	कहानी का प्लॉट : शर्मिला बोहरा जालान	69–70
20.	कविताएँ	71–75
21.	कहानी का प्लॉट : निधि अग्रवाल	76–78
22.	कोरोना काल की डायरी : प्रत्यक्षा	79–82
23.	बंगला कविता : सुलोचना	83
24.	अम्बपाली : नीलममान सिंह से योजना रावत की बातचीत	84–88
25.	रंगमंच से युग चेतना का निर्माण : विकु	89–90
26.	स्वर मुद्रा में कुमार गंधर्व जी	91
27.	कुमार गन्धर्व : विद्या शाह	92–93
28.	देवानंद की नायिकाएं : यशस्विनी पांडेय	94–95
29.	यात्रा संस्मरण : दिव्या विजय	96–98

मेधा बुक्स

X-11, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032

प्रकाशक
दीपक मोंगा
9868425380

stridarpan.medhabooks@gmail.com

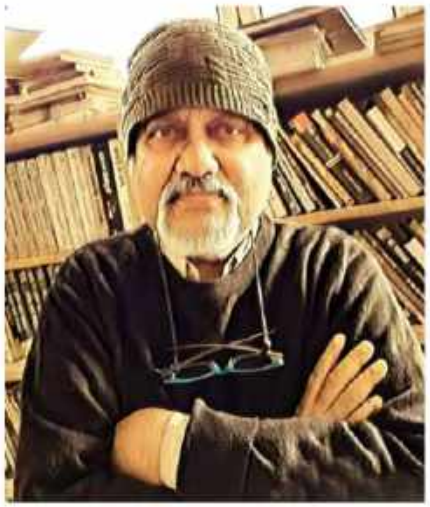

नये मुकाम पर स्त्रियाँ

पिछले दिनों चंद्रयान–3 की सफलता की कहानी मीडिया में खूब छाई रही और इस सफलता का श्रेय लेने का प्रयास सत्ता पक्ष ने खूब किया। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने तो इस मिशन की सफलता का श्रेय अपनी सरकार का बताया और मीडिया में वे छाए रहे पर इसके पीछे महिला वैज्ञानिकों के योगदान को कम रेखांकित किया गया। फिर भी मीडिया के कुछ हिस्से में उन प्रमुख महिला वैज्ञानिकों की कहानियां सामने आई। अगर चंद्रयान–3 मिशन सफल नहीं होता तो हम शायद उन महिला वैज्ञानिकों के बारे में नहीं जान पाते जबकि वे वर्षों से इसरो में काम कर रही हैं और इसमें करीब 65 महिलाएं आज की तारीख में कार्यरत हैं। उप निदेशक रितु करिधल के बारे में भी हम नहीं जानते। यह अलग बात है कि इसरो के इतिहास में अब तक जितने अध्यक्ष हुए हैं वे सब पुरुष वैज्ञानिक हैं। उनमें एक भी महिला वैज्ञानिक इस शीर्ष पद पर आज तक नहीं पहुंच पाई हैं। हमें उम्मीद है कि एक दिन कोई महिला वैज्ञानिक भी इस शीर्ष पद पर पहुंचेगी और अपनी प्रतिभा का लोहा समाज से मनवाएगी।

लेकिन चंद्रयान के बाद जब सूर्य मिशन के लिए आदित्य एल–1 लांच हुआ तो खबर आई कि सूर्य मिशन की कमान एक महिला वैज्ञानिक के हाथ में है। उनका नाम निगार शाजी है। आजकल दुनिया भर में निगार शाजी की चर्चा हो रही है। तमिलनाडु की निगार शाजी लगभग 35 साल से इसरो में अपनी सेवाएं दे रही हैं। वैज्ञानिक निगार शाजी भारतीय रिमोट सेंसिंग, संचार और इंटर प्लेनेटरी सैटेलाइट प्रोग्राम में विभिन्न जिम्मेदारियों को निभा चुकी हैं। इसी तरह पिछले दिनों रेलवे के 118 साल के इतिहास में भी एक महिला सीईओ बनी है। काजीरंगा वन अभ्यारण की सी ओ एक महिला बनी है। भारतीय समाज में महिलाएं अपने श्रम और प्रतिभा से आगे बढ़ रही है। सत्ता और राजनीति भले उन्हें कुछ विशेष दे नहीं रही है, उल्टे उसका राजनीतिक इस्तेमाल ही कर रही है। मणिपुर और राजस्थान में महिलाओं को निर्वस्त्र किया जा रहा। यह चिंता की बात है। आखिर बाज़ार भूमंडलीकरण के बाद स्त्रियों के खिलाफ हिंसा क्यों बढ़ रही है? इसका अध्ययन किया जाना चाहिए। आज जरूरत इस बात की है कि समाज के निचले पायदान की स्त्रियों को आगे बढ़ाया जाए। झारखंड उड़ीसा में खेल की दुनिया में कई लड़कियां आगे आई हैं और उन्होंने देश का नाम रौशन भी किया है। पिछले दिनों एक पान वाले की बेटी ने भी यूपीसीएस की परीक्षा पास की है। ये तमाम उदाहरण बताते हैं कि हमारे समाज में महिलाएं राष्ट्र के निर्माण में कितनी बड़ी भूमिका अदा कर रही हैं। यह अलग बात है कि उनको जितना प्रोत्साहन अवसर मिलना चाहिए था वह अभी मिल नही पा रहा है। इन्हीं बातों को देखते हुए हमने इस बार अपनी पत्रिका का अंक "स्त्री वार्षिकी" के रूप में निकलने का फैसला किया है क्योंकि हिंदी की दुनिया में जितने वार्षिक अंक पूजा के समय में निकलते हैं, उनमें पुरुष लेखक ही केंद्र में रहते हैं। उनमें पूरी तरह से महिलाओं को प्रतिनिधित्व नहीं मिलता उनमें महिला रचनाकारों की संख्या भी कम होती है। यही कारण है कि हमने यह निर्णय लिया है कि इस बार पहली स्त्री वार्षिकी निकालेंगे। इस बार के अंक में हमने कई लेखकों की जन्मशती पर भी सामग्री दी है। इनमें हिंदी की सर्वाधिक लोकप्रिय कथाकार शिवानी भी शामिल है। हिंदी साहित्य में उनके साथ आज तक पूरी तरह न्याय नहीं किया गया है। उन्हें पाठकों का तो प्यार मिला पर उनका मूल्यांकन नहीं किया गया है। उनको एक घरेलू और भावुक लेखिका माना गया। उन्हें हाशिये पर रखा गया। कथाकार सपना सिंह ने इस मुद्दे को अपने लेख में उठाया है। हमने सांगेय राघव की स्त्रियों पर आलोचक गीता दुबे से लिखवाया तो विजय देवनारायण साही पर उनकी पुत्री सुष्मिता जी से लिखवाया। वीरेंद्र नारायण पर उनकी पुत्री प्रीति लाल ने लिखा। साहित्यकारों की पत्नियों पर नंद चतुर्वेद की पुत्री मंजू चतुर्वेदी ने लिखा। इस वर्ष जितनी धूम हरिशंकर परसाई की जन्म शती को लेकर रही, उतनी किसी की नहीं। चूंकि अन्य लेखकों के पीछे कोई गुट या लेखक संगठन नहीं इसलिए उन्हें याद नहीं किया जाता। हमने कोशिश की है कि अपने सभी पुरखों के बारे में कोई न कोई लेख दें। इस कड़ी में रेखा जैन को भी याद किया जाना जरूरी है क्योंकि रंगमंच के क्षेत्र में अभी उनका भी बहुत बड़ा योगदान है। हम अगले अंक में उन पर भी कोई न कोई सामग्री देंगे।

देवानंद की नायिकाओं पर भी हमने एक लेख दिया है। इस साल उनकी भी जन्मशती है। देव साहब ने सबसे अधिक अभिनेत्रियों के साथ काम किया है। उन्होंने एक मुस्लिम अभिनेत्री सुरैया से प्रेम किया तो एक ईसाई महिला कल्पना कार्तिक से विवाह किया। वे बहुत प्रगतिशील आधुनिक और सेक्युलर सोच वाले जिंदादिल इंसान थे। वे जीवन की रोमानियत के पैरोकार थे।

इस अंक में हमने महात्मा गांधी की फौज की 75 महिलाओं के बारे में एक स्टोरी दी है। प्रसिद्ध पत्रकार अरविंद मोहन की किताब के बहाने सुजाता चौधरी ने एक टीप लिखी है। वे खुद गांधीवादी लेखिका सामाजिक कार्यकर्ता हैं। प्रसिद्ध संघर्षशील बुद्धिजीवी रूपरेखा वर्मा पर प्रीती चौधरी ने एक महत्वपूर्ण बातचीत की है। रूपरेखा जी संघर्ष और प्रतिरोध की मिशाल हैं। वे हम सबकी प्रेरणा स्रोत रहीं हैं। समाज की सच्ची नायिका। इस अंक में प्रसिद्ध कथाकार सुधा अरोड़ा ने भी बेबाक इंटरव्यू दिया है। वे भी बहुत साहसी एक्टिविस्ट महिला रहीं है। राजेन्द्र यादव के बारे में कई ऐसी बातें कही हैं जिनसे विवाद हो सकता है।

उषा प्रियम्बदा हमारे समय की सबसे उम्रदराज लेखिका हैं। उनका एक इंटरव्यू भी हम दे रहे हैं। मृदुला गर्ग का एक लेख भी विचारणीय प्रश्नों को उठाता है।

अलका सरावगी ने ई एम फोर्स्टर के विश्व प्रसिद्ध उपन्यास ए पैसेज ऑफ इंडिया का नए सिरे से पाठ किया है। प्रत्यक्षा ने कोरोना काल की महत्वपूर्ण डायरी लिखी है तो दिव्या विजय ने सुंदर संस्मरण लिखा। साथ में 25 कवयित्रियों की कविताएँ और चार कहानियाँ भी दी जा रही है।

-अरविन्द कुमार

"गांधी की महिला फौज"

सुजाता

मो० 09431871677

आजादी की लड़ाई केवल पुरुषों द्वारा नहीं लड़ी गई थी बल्कि उसमें बड़ी संख्या में महिलाओं ने भी अपनी भूमिका अदा की थी लेकिन हम एनी बेसेंट, सरोजिनी नायडू, प्रभावती, सुचेता कृपलानी, अरुणा आसफ अली, उषा मेहता, कमला देवी चट्टोपाध्याय, सुभद्रा कुमारी चौहान, महादेवी वर्मा रामेश्वरी नेहरू जैसी महिलाओं को तो हम जानते हैं लेकिन उनसे भी अधिक संख्या में ऐसी महिलाएं शामिल थीं जिनको हम बिल्कुल नही जानते, उनका नाम भी हमने नहीं सुना लेकिन उन्होंने अपने समय में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी चाहे गांधी जी का चम्पारण आंदोलन हो, असहयोग आंदोलन, सविनय अवज्ञा आंदोलन हो या नमक आंदोलन या 1942 का भारत छोड़ो आंदोलन। सबमें महिलाओं ने बढ़ चढ़ कर भाग लिया था और ये सारी महिलाएं महात्मा गांधी के नेतृत्व में लड़ती रहीं। मनु और आभा तो उनके साये की तरह जीवन भर रहीं। कस्तूरबा ने तो हर कदम पर गांधी जी का साथ दिया था। गांधी जी के लिए आज़ादी की लड़ाई स्त्रियों की मुक्ति की भी लड़ाई थी। स्त्रियों ने तो घर परिवार और बच्चों की देखभाल करते हुए आज़ादी की लड़ाई में भाग लिया और लाठियां खाई जेल गयीं और शहीद भी हुईं।

महात्मा गांधी के सिपाहियों में जहां एक तरफ डॉक्टर राजेंद्र प्रसाद, पंडित जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल, मौलाना अबुल कलाम आजाद, जे पी कृपलानी जैसे लोग शामिल थे वहीं दूसरी तरफ महिलाओं की भी एक बड़ी फौज थी। इसमें करीब 75 महिलाएं थीं। इस स्वतंत्रता संग्राम में करीब 25 हज़ार महिलाओं ने गिरफ्तारियां दी थीं। इतनी बड़ी संख्या में दुनिया के किसी आंदोलन में महिलाएं गिरफ़्तार नहीं हुईं थीं।

वरिष्ठ पत्रकार अरविंद मोहन ने 'महात्मा गांधी की महिला ब्रिगेट' नामक पुस्तक में इन सारी महिलाओं के योगदान को रेखांकित लिया है जिन्हें इतिहास में अनदेखा किया गया। प्रसिद्ध गांधीवादी लेखिका सुजाता ने अरविंद मोहन की किताब के बहाने उन भूली बिसरी महिलाओं को याद किया है जिन्होंने आजादी की लड़ाई में अपना जीवन त्याग दिया।

प्रसिद्ध पत्रकार और लेखक अरविंद मोहन ने गांधी जी के 150 वें वर्ष में गांधी जी से जुड़ी अनेक किताबें लिखीं। चम्पारण आंदोलन पर भी शोधपरक किताब का हिंदी समाज में काफी स्वागत हुआ। उनकी नई पुस्तक "गांधी की महिला फौज" तप्त रेगिस्तान में

स्वतंत्रता मिलने के पचहत्तर वर्ष बीतने पर अमृत महोत्सव मनाए जा रहे हैं। उस आंदोलन में स्त्रियों की जबर्दस्त भागीदारी थी, इसकी चर्चा नगण्य होती है। गांधी के पहले और गांधी के बाद स्वतंत्रता आंदोलन में एक बहुत बड़ा फर्क आ गया था, उसे हम एक शब्द से परिभाषित कर सकते हैं, वह है- व्यापकता। यह व्यापकता कैसे व्याप्त हुई?क्योंकि गांधी ने इस आंदोलन की मुख्यधारा में निम्न वर्ग और स्त्रियों को भी जोड़ दिया। आंदोलन व्यापक होते ही अंग्रेजी हुकूमत समझ गई कि अब उनका भारत में शासन बनाकर टिके रहना नामुमकिन है।

मेरी नानी कहानी सुनाती थी कि उनके सामने अचानक परिदृश्य बदल गए। घरों में रहने वाली स्त्रियां गांव की गलियों से लेकर शहर की सड़कों पर खादी धारिणी बनकर महात्मा गांधी की जय, भारत माता की जय के नारे लगाती हुई आत्म बल से लबालब भरी हुई दिखाई देने लगी। स्त्रियों ने न सिर्फ स्वतंत्रता आंदोलन में हिस्सा लिया बल्कि अपने गीत तो कविताओं के माध्यम से भी स्वतंत्रता की अलग जगाने लगी।

गांधी की महिला फौज की सदस्यों के नामों की सूची

1. सुशीला नैयर
2. राजकुमारी अमृत कौर
3. मृदुला साराभाई
4. सत्यवती बहन
5. मालती देवी चौधरी
6. अकम्मा चेरियन
7. लक्ष्मी
8. मनु गान्धी
9. आभा गान्धी
10. प्रभावती देवी
11. रेहाना तैयबजी
12. प्रेमा कंटक
13. नौरोजी बहनें
14. कमलादेवी चटोपाध्याय
15. अरुणा आसफ अली
16. सुचेता कृपलानी
17. अम्मु स्वामीनाथन
18. रुक्मिणी लक्ष्मीपति
19. उमा कुंडापुर
20. आशालता सेन
21. दुर्गाबाई देशमुख
22. सरोजिनी नायडु
23. अनुसुयाबाई साराभाई
24. आब्दी बानो बेगम (बी अम्मा)
25. अवंतिकाबाई गोखले
26. सरलादेवी चौधरानी
27. स्वरूपरानी नेहरू
28. गंगा बहन
29. कस्तुरबा गान्धी
30. काशीबेन-संतोषबेन गान्धी
31. बसंती देवी
32. मनिबेन पटेल
33. सुशीला मश्रुवाला गान्धी
34. कमला नेहरू
35. जानकीदेवी बजाज
36. नेल्ली सेनगुप्ता
37. सरला बहन
38. मार्गरेट कजिंस
39. सोजा श्लेसिन
40. मार्जरी साइक्स
41. एस्थर फेरिंग
42. मुरियल लिस्टर
43. मीरा बहन
44. आशादेवी आर्यनायकम
45. मिठुबेन पेटिट
46. कुमारी लज्जावती
47. रमादेवी चौधरी
48. अमलप्रभा दास
49. रामेश्वरी नेहरू
50. कुलसुम सायानी
51. पार्वती गिरी
52. अन्नपूर्णा महाराणा
53. हेमप्रभा देवी
54. विजयलक्ष्मी पंडित
55. सुभद्रा जोशी
56. हंसा मेहता
57. पद्मजा नायडु
58. जेठीबेन सिपहमालानी
59. लाडो जुत्शी और बेटियाँ
60. यशोधरा दासप्पा
61. ए.वी. कुट्टिमलु अम्मा
62. उषा मेहता
63. मातंगिनी हाजरा
64. वीणा दास
65. कनकलता बरुआ
66. महादेवी वर्मा
67. एम.एस.सुब्बुलक्ष्मी
68. सुभद्रा कुमारी चौहान
69. सरला देवी चौधरी
70. कुंतल कुमारी सबत
71. चन्द्रप्रभा सैकियानी
72. नलिनबाला देवी
73. कृष्णम्मल जगन्नाथन
74. इला भट्ट

शीतल फुहारों के सदृश्य है। ऐसे समय में जब कुछ लेखक ऐसे विषय को उठाने में अधिक दिलचस्पी ले रहे हैं, जिनमें सनसनी और उत्तेजना होती है, तथ्यों को तोड़ मरोड़ कर इतिहास बनाने की कवायद चल रही है, खासकर गांधी के साथ ऐसी कोशिशें और भी अधिक हो रही हैं, अरविन्द मोहन की किताब का प्रकाशन एक महत्वपूर्ण घटना है। इतने मनोयोग से इस विषय पर शोध परक पुस्तक लेखन करना सत्य और मानवता के पक्ष में खड़े होने जैसा है। महात्मा गांधी ने इस महिला फौज के निर्माण में कट्टर मतालंबियों से न सिर्फ गाली खाई बल्कि गोली भी खाई पर अपने इरादे पर वे डटे रहे। नेताजी सुभाष चंद्र बोस ने कहा है स्वतंत्रता आंदोलन में स्त्रियों को मुख्यधारा में जोड़कर महात्मा गांधी ने मानवता को पल्लवित और पुष्पित किया है।

अरविंद मोहन ने आज़ादी की लड़ाई में इन महिलाओं की भूमिका को बड़ी शिद्दत के साथ उठाया है। उन्होंने इस पुस्तक के माध्यम से न सिर्फ महात्मा गांधी के जीवन का विश्लेषण किया है बल्कि चौहत्तर महान महिलाओं का चरित्र चित्रण बहुत ही गरिमामय ढंग से किया है।

गांधी की महिला फौज की एक सेनानी, लज्जावती भगत सिंह को न्याय दिलाने के लिए प्रिवी कौंसिल तक गई, कितने लोगों को आज इसकी जानकारी है?

भगत सिंह की फांसी के बाद गांधी महिला फौज की मनमोहनी और श्यामा ने भगत सिंह की फांसी के विरोध में पूरे लौहार में सम्पूर्ण हड़ताल करवाया था। ये दोनों वीरांगनाएं पंडित मोतीलाल नेहरू की भांजी थी। लेकिन आज हम उन्हें भी नहीं जानते।

गांधी की फौज में शामिल अधिकांश स्त्रियां उनकी मानस पुत्रियां हैं। उनके मानस पुत्रियों ने बिहार में काफी रचनात्मक कार्य किया। अवंतिका बाई गोखले ने चंपारण में अपनी अनुपम सेवा का विस्तार कैसे किया इन सब की जानकारी को अरविंद मोहन ने एक सूत्र में पिरोया है।

गांधी की फौज की चार कमांडर उमाबाई, सुचिता कृपलानी, मुरियल और अगस्था हैरिस ने 1934 में बिहार में भयंकर आपदा, भूकंप में जी जान से पीड़ितों की सेवा में जुट गई थी। वर्षों तक उनकी निस्वार्थ सेवा की चर्चा बिहार में सुनाई पड़ती थी।

उड़ीसा की रामादेवी हो या मालती चौधरी सभी ने किस तरह गांधी की फौज में शामिल होकर सादगी पूर्ण जीवन जिया, वह अपने आप में एक मिशाल है। गांधी की फौज में शामिल इन महिलाओं के लिए पद प्रतिष्ठा कोई मायने नहीं रखता था, मायने रखता था तो सिर्फ सेवा। सेवा भी कैसी जिसमें विधायक बनने के प्रस्ताव मिलने पर यह कहकर ठुकरा दिया जाता था- विधायक बना भूसी कूटना है और सेवा का काम करना धान कूटना।

गांधी की फौज की सबसे छोटी बच्ची अन्नपूर्णा महाराणा ने अपने हाथ की सोने की चूड़ी उतार कर गांधी के हरिजन कल्याण कोष में डालकर यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि वह कभी सोने की चूड़ी नहीं पहनेंगी। आजीवन इस व्रत का न सिर्फ पालन किया बल्कि समाज सेवा में जुटी रहीं।गांधी की दांडी यात्रा की लोकप्रिय मूर्ति के पीछे की महिला कौन है इसकी जिज्ञासा सभी को रहती है परंतु जानकारी बहुत कम लोगों को है कि वह मेदिनापुर की मतांगिनी देवी हैं। अरविंद मोहन ने इन सब जानकारी को भी इस

अरविंद मोहन की किताब से ...

"चम्पारण में अपना काम शुरु करते ही गांधी जी को लगा कि औरतों के बीच जाना मुश्किल है। सो उन्होंने बाहर से सबसे पहले कस्तुरबा को बुलाया। फिर विज्ञापन देकर स्वयँसेवक बुलाए क्योंकि तब बिहार में कांग्रेस या किसी संस्था के पास एक भी पूर्णकालिक कार्यकर्त्ता न था-महिला कार्यकर्त्ता तो बहुत दूर की बात थी। अवंतिकाबाई गोखले, आनन्दी बहन, सहयोगी नरहरि पारिख की पत्नी मणि बहन, महादेव भाई की नवविवाहिता दुर्गा बहन जैसी महिलाओं के सहयोग से उन्होंने काम शुरु किया तो बिहार के सहयोगी वकीलों ने भी अपनी पत्नियों और बेटियों को लगाया। गांधी मुख्यतः बेतिया और मोतिहारी में रहे, चम्पारण से बाहर आते-जाते रहे लेकिन कस्तुरबा बाजाप्ता गांव में रहीं, भोजपुरी सीख ली, निलहों के दुष्प्रचारतंत्र का शिकार भी हुई, बडे बडे हांडों में भात पकाकर सभी सहयोगियों को खिलाया। और अवंतिकाबाई की बहादुरी के किस्से तो लोग आज तक याद करते हैं। ज्यादा दिन न हुआ जब स्थानीय लडकियों ने जिम्मा सम्भालना शुरु कर दिया। पर मणि बहन और दुर्गा बहन तो बहुत दिन रहीं।

यह 1917 और 1918 की बात है। उसी बिहार के गया में 1922 में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। कांग्रेस के अधिवेशनों में 1890 के आसपास से गिनती की महिलाएँ आती थीं जो कांग्रेस के आम सदस्यों से भी ऊंची हैसियत वाले परिवारों की ही होती थीं। धीरे-धीरे संख्या बढने लगी पर उनके बैठने का इंतजाम अलग रहता था और उनके तथा पुरुष डेलिगेट्स के बीच एक परदा रहता था जो मंच की तरफ खुला होता था जिससे वे मंच का काम तो देख लें लेकिन बाकी 'ताक-झांक' न हो। गया का किस्सा है कि अधिवेशन के पहले दिन तो यह विभाजक परदा बार-बार इधर-से उधर झूलता रहा और दूसरे दिन महिलाओं ने उसे खुद नोंचकर फेंक दिया कि हमें अब इसकी जरूरत नहीं है। महिला प्रतिनिधि आई भी थीं काफी बडी संख्या में। जी हाँ, यह मात्र पांच साल में हुआ जादू था और मंच वही बिहार ही था जिसके पिछडेपन का 'गुणगान' आज भी होता ही है। और याद कर लेने में कोई हर्ज नहीं है कि इन्हीं पांच वर्षों में सिर्फ चंपारण सत्याग्रह, अहमदाबाद मिल मजदूर आन्दोलन और खेडा आन्दोलन ही नहीं हुए थे बिहार और पूरा मुल्क असहयोग आन्दोलन से गुजरा था जिसमें चरखा चलाना और विदेशी वस्त्रों तथा शराब की दुकानों पर महिलाओं का धरना खास कार्यक्रम थे। और इसमें ऐसी-ऐसी महिलाएँ आकर दिन-दिन भर धरने पर बैठती थीं (जाहिर है पचास लोगों से भेंट और पचास तरह की बातें भी करती होंगी) जो अपने पति का, जेठ का, ससुर का नाम लेना पाप मानती थीं, जिनको अपने मुहल्ले का नाम न मालूम था, जिनके लिए शहर में अपने घर तक अकेले आना जाना मुश्किल था।

लेकिन इससे दस साल बाद गांधी ने जब नमक सत्याग्रह का फैसला किया तब महिलाओं के जेल जाने या आन्दोलन में भागीदारी की कई तरह की पाबंदियों (जैसे लरकोरी या गर्भवती औरतों को मना था, बीमार और बूढी औरतों को महानी थी) के बावजूद बीस हजार से ज्यादा औरतों ने गिरफ्तारी दी थी। आज तक किसी क्रांति, किसी आन्दोलन में एक साथ इतनी महिलाएँ जेल नहीं गई हैं। और सिविल नाफरमानी वाला जेल काफी सख्ती का भी था। सख्ती तो इससे बीसेक साल पहले दक्षिण अफ्रीका में शादी के पंजीकरण वाले कानून पर गांधी द्वारा द्वारा गिरफ्तारी देने पर राजी कराने वाली चारों महिलाओं के साथ भी हुई थी लेकिन अगली बार जब गिरफ्तारी देने की बारी आई तो 143 महिलाएँ सामने निकल आईं। पहली बार में कस्तुरबा, संतोषबेन (छगनलाल की पत्नी और गांधी की बहु), काशीबेन (मगनलाल की पत्नी) और जयकुंवर (डा. प्राणजीवन मेहता की बेटी) ने गिरफ्तारी दी थी और गांधी द्वारा संतोषबेन और काशीबेन को पहले राजी कराने की खबर से बा नाराज भी हुई थी। और जेल की सख्ती से बीमार बा का शरीर आधा रह गया था और वह बडी मुश्किल से बची। और अगर हम बयालीस के आन्दोलन में महिलाओं की भागीदारी और नेतृत्व का हिसाब लगाएँ तो आधा-आधा मामला पहुंच गया लगेगा। अरुणा आसफ अली, कमला देवी, उषा मेहता, सुचेता कृपलानी तो नेतृत्व और संचालक की भूमिका में ही थीं। अद्भुद जादूगरी थी गांधी की। उन्होंने साम्प्रदायिकता के सवाल पर बहुत मेहनत की, बहुत लम्बा समय लगाया, जान जोखिम में ही नहीं डाला, जान दे भी दी। लेकिन विभाजन हुआ, दंगे हुए, मुल्क ने पाकिस्तान से अलग और दुनिया में मिसाल बनने वाला रास्ता अपनाया। नंगी साम्प्रदायिकता और मजहब के नाम पर बंटवारे के बीच सर्वधर्मसमभाव वाली धर्मनिरपेक्ष व्यवस्था बनाई। गांधी ने छुआछूत के सवाल को बहुत महत्व दिया। बहुत मेहनत की। किसके आगे झोली नहीं फैलाई, कैसी-कैसी संस्थाएँ बनाई, कैसे कैसे लोग पैदा कर लिए लेकिन वह बुराई भी पूरी तरह न मिटी। कानून से मिट गई, शहरी व्यवहार में काफी हद तक मिटी, गांवों में और देश के हर इलाके से उस हिसाब से कम मिटी। खादी का काम शून्य से शुरु होकर बहुत बढा, बुनियादी तालीम का काम भी बहुत प्रचारित हुआ। प्राकृतिक/वैकल्पिक चिकित्सा, नशाबन्दी से लेकर गोसेवा तक न जाने कितने काम हुए। भाषावार प्रांत शासन के बनाने से पहले कांग्रेस ने बना दिए थे। राष्ट्रभाषा का मसला गांधी ने भारत आने के पहले ही अपने मन में तय कर लिया था। सब गिनवाना भी आसान नहीं है। पर महिलाओं की स्थिति में बदलाव का कार्यक्रम खामोश रहा। अब देखने पर एक बडी सोच और योजना दिखती है लेकिन अपने बाद जब गांधी ने सरोजिनी नायडु को अध्यक्ष बनवाया तो वह स्वाभाविक लगता था। और जब साइमन गो बैक के हंगामें में और कलकत्ता में पुलिस जुर्म के बीच एक विदेशी मूल की महिला नेल्ली सेनगुप्त को अध्यक्ष बना दिया गया (क्योंकि नामित अध्यक्ष मदनमोहन मालवीय को कलकत्ता पहुंचते ही गिरफ्तार कर लिया गया था) तो यह सबसे स्वाभाविक और बढिया चुनाव लगा क्योंकि उस महिला ने ही सारी चुनौतियों का सामना करते हुए बीच एस्प्लेनेड पर हजारों लोगों को जुटाकर अधिवेशन करा दिया था। वह खुद अपना अध्यक्षीय वक्तव्य नहीं पढ पाई लेकिन अंगरेजी हुकुमत को आन्दोलन की ताकत का एहसास करा दिया।"

पुस्तक में पिरोया है।

सरदार की पुत्री मणि बेन पटेल गांधी आदर्श पर ही अपना सम्पूर्ण जीवन यापन किया। गांधी कहते थे मुझे ऐसी पुत्रियां बेहद प्रिय हैं जो अपने पिता के लिए अपना जीवन बलिदान करने को प्रस्तुत रहती हैं। गांधी की महिला फौज की सदस्या मणि बेन पटेल ने अपने पिता की सेवा के लिए विवाह तक नहीं किया।

सुश्री अनसुइया साराभाई हों या मृदुला साराभाई, श्रीमती बसंती दास या कमला नेहरू, मीरा बहन हों या अमल प्रभा दास, महादेवी वर्मा हों या सुभद्रा कुमारी चौहान सब की सब अनोखी महिलाएं हैं। जिन्होंने भारतीय इतिहास में अपनी धमकदार उपस्थिति दर्ज कराई है। सरला देवी चौधरानी, सरोजिनी नायडू आदि महिलाएं इस फौज की रत्न सदृश हैं गांधी ने स्त्री पुरुष सहज संबंध की जो अपेक्षा समाज से की थी, इस पुस्तक को पढ़ने के बाद बड़ी सहजता से उसका बोध होता है। समाज में आज स्त्री पुरुष सहज संबंध के दर्शन को समझने की बहुत जरूरत है और इस दर्शन को समझने में अरविंद मोहन की यह पुस्तक 'गांधी की महिला बिगेड' बड़ी सहायक साबित होगी।●

"कहने से कुछ फायदा नहीं, हमें कुछ करना भी चाहिए" : रूपरेखा वर्मा

(रूपरेखा जी से हुई ''स्त्री लेखा'' पत्रिका की बातचीत विस्तृत है, जिसे दो अंकों में प्रकाशित करने की योजना है। इस साक्षात्कार को लखनऊ की ही साहित्यकार और राजनीति विज्ञान की प्रोफ़ेसर प्रीति चौधरी ने रिकार्ड किया और स्त्री दर्पण की संपादन सहयोगी अलका तिवारी ने लिपिबद्ध किया है।)

प्रो० प्रीति चौधरी

मैम! आपने अपने जीवन में एक लम्बा सफर तय किया है हमेशा अन्याय के खिलाफ आवाज़ उठायी है और प्रतिरोध का प्रतीक बन चुकी हैं खासकर ऐसे दौर में जब अधिकतर लोग चुप हो गये हैं, अपनी सुविधा या भय के कारण अपने आप को उन्होंने कैद कर लिया है, ऐसे में आप सड़क पर उतरने का माद्दा रखती हैं। आपने बहुत सारे ऐसे काम किए जिनको करने से लोग घबरा रहे थे, तो अपने इस लंबे सफर का आप किस तरह से आकलन करती हैं?

देखिए, थोड़ा सा बड़ा होते होते, जिसको कहेंगे कि टीनएज से ऊपर आते आते, ये समझ में आने लगा था बल्कि ये कहना चाहिए कि ये इक चीज़ दिमाग में जुनून की तरह भर चुकी थी कि सिर्फ चीजों को बताने से की क्या हो रहा है इससे कुछ नहीं होता है जब तक कि हम उसे बदलने की कोशिश ना करें। मुझे यह याद नहीं आ रहा है कि ये मार्क्स को ज्यादा कोट करतें हैं या सांकृत्यायन को ज्यादा कोट करते हैं। कुछ ऐसी बात उन्होंने कही थी कि आप भागिये मत, यह तो सांकृत्यायन ने हीं कहा था आप संसार से भागिये मत उसे बदलने की कोशिश करिए। शायद इससे ज्यादा कुछ स्मार्ट जुमला मार्क्स की तरफ से भी आया था तो हमने इन दोनों को तो इस तरह से नहीं पढ़ा था उस समय तक। लेकिन यह बात अपने आप ही दिमाग में आ गई थी कि सिर्फ कहने से कोई फायदा नहीं है कुछ करने की कोशिश करनी चाहिए। तो कुछ बेवकूफियां के साथ मेरी शुरुआत हुई इस वाले सिद्धांत के ऊपर कि यूनिवर्सिटी में किसी और का मसला हो या किसी दूसरे विभाग का मसला पर लगा कि गलत है हम बोलते थे। तो जहां भी गलत लगा उसका विरोध करने डिफरेंट बॉडीज जहां पहुंच हम पहुँच सकते थे वहाँ पहुँचते थे। कई बार तो ऐसी बातों पर भी बोलते थे जिसकी ना कोई जरूरत थी और ना ही वो कोई बहुत बड़े सैद्धांतिक विषय थे जिसके लिए अपने को एलिनिएट किया जाए लेकिन इसी बात के तहत की जहां भी गलत लग रहा है बोलना जरूरी है तो बोला। धीरे-धीरे इन बेवकूफियां से कुछ सीखते भी गए और फिर जो ठहराव आया वह यह समाज और पूरे देश की समस्याओं के ऊपर जहां भी यह लगा की की लोकतंत्र को खतरा है, जहां यह लगा कि यह देश के ऊपर बहुत बड़ा प्रहार है और यहां बोलना बहुत जरूरी है तो बोला। यह कि आदत हो गयी अपने आप को बेचैनी होती है अगर न बोलें।

तो मैम ये बोलने की जो आदत थी आपमें, जब आप एकेडमिक में चली गयी तब इसको शिद्दत से महसूस किया या बतौर स्टूडेंट भी ऐसा कुछ महसूस किया?

स्टूडेंट से ही, बहुत छोटे नाकाबिले से जो संदर्भ हैं उनमें कुछ छोटी उम्र में ही शुरू हो गया था। मामूली सा गवर्नमेंट कॉलेज स्कूल में थी। छोटे शहर में तो कोई चीज ऐसी, जो रोक गलत लगे जैसे की किसी टीचर ने किसी लड़की को डाँटा। कि तुमने ऐसा क्यों किया, तो मैंने देखा कि किसी और ने ये किया था तो बिना बात बिना जरूरत के मैं जरूर इसमें भिड़ जाती थी कि इसने नहीं उसने किया था। इससे नुकसानात भी बहुत हुए इस तरह के नासमझ इंटरवेंशन से, लेकिन ये थोड़ी सी कच्ची उम्र में शुरू हो गया था, जैसा मैंने पहले कहा कि उस कच्ची उम्र में ये बात दिमाग में घुस जाना कि नहीं गलत को गलत जरूर कहना चाहिए, ये जो असल में कुछ जिद थी हमारे पिता जी के भी अंदर थी जो बहुत साफगोई और वो भी एक बेवकूफी की हद तक थी। बड़े होने और पिता बन ने के बाद, हम बच्चे लोग जब समझदार हो चुके थे तब भी वो किसी के भी मुंह पर कह दिया करते थे कि आप तो ऐसा कहते हैं और ये बिल्कुल ग़लत बात

लखनऊ विश्वविद्यालय की पूर्व कुलपति रूपरेखा वर्मा समाज में गलत बातों के विरोध का प्रतीक बन चुकी हैं। जहां कहीं अन्याय और दमन होता है, उनके खिलाफ वह अपनी आवाज़ बुलंद करती हैं, सड़कों पर उतर आती हैं, लोगों को लामबंद भी करती हैं। खुद इस उम्र में लोगों के बीच पर्चे बांटती हैं। धरना प्रदर्शन जुलूस में भाग लेती हैं। वह इतनी निर्भीक हैं कि किसी से डरती नहीं। जब पूरा देश पत्रकार कप्पन को जमानत की गारंटी देने को तैयार नहीं तो रुपरेखा जी खुद आगे आकर जमानत लेतीं हैं। अब तक दसियों बार हिरासत में ली जा चुकी हैं। मैनपुरी में जन्मी रूपरेखा जी प्रेमचन्द और राहुल सांकृत्यायन से प्रभावित रहीं हैं और उनके साहित्य ने उन्हें एक दृष्टि दी है।

> होगा कोई लखनऊ जो अपने नाज़ों अंदाज़ के लिए जाना जाता होगा, हम जिस लखनऊ से आपका तवारूफ़ करा रहे हैं वहाँ अस्सी साल की एक हिम्मत वाली महिला रहती है जिसे कुछ महीनों पहले लखनऊ की सड़कों पर अमन और चैन के हर्फों वाले पन्नों को बाँटते देखा गया था। हम उस लखनऊ की बात कर रहे हैं जहाँ डर, भय और सहूलियत वाली चुप्पियों के बीच एक कद्दावर महिला अपनी कृशकाया के साथ ग़लत को ग़लत कहने का माद्दा रखती है और आगे बढ़ कर जेल में बंद केरल के पत्रकार सिद्दीकी कप्पन की ज़मानत देती है और सोशल मीडिया पर छा जाती है।
>
> लखनऊ वाले अस्सी साल की इस हिम्मत को प्रोफेसर रूपरेखा वर्मा के नाम से जानते हैं, जिन्होंने लखनऊ विश्वविद्यालय के अपने कार्यकारी कुलपति के प्रभार के दौर में विद्यार्थियों के प्रवेश और अन्य मसलों से संबंधित सारे फार्म्स में माँ के नाम का कॉलम बनवाया था। अब तक माँयें सरकारी कागज़ातों में बेनाम और अदृश्य थीं, संतान का परिचय पिता का नाम था। बक़ौल रूपरेखा जी ये एक मामूली और ज़रूरी काम था पर इसकी चर्चा देश भर में हुई।
>
> रूपरेखा वर्मा ने अपनी सारी ज़िंदगी महिला सशक्तिकरण, लैंगिक न्याय और सांप्रदायिक सौहार्द के लिए समर्पित की है। विश्वविद्यालय से सेवा निवृत्त होने के बाद "साझी दुनिया" नामक संस्था के माध्यम से वे अपने सामाजिक सरोकारों को जीती हैं और ज़रूरी हस्तक्षेप के लिए जानी जाती हैं।
>
> अभी जब रूपरेखा जी बीमार पड़ीं और ये खबर बाहर आयी तो हज़ारों हाथ उनकी सलामती के लिए दुआ करने लगे। अस्पताल में मिलने आने वालों की भीड़ से वे थकने लगीं पर साथ ही उन्हें इस बात का भी एहसास हुआ कि उन्होंने अपने जीवन में जो साख अर्जित की है वह कितनी बेशकीमती और सुकून देने वाली है। हालाँकि रूपरेखा जी की बातों से अब कई बार नैराश्य भी झांकता है, नाउम्मीदी से कई बार लहजा भी हताश हो जाता है, उन्हें लगता है कि जिस तरह से समाज का सांप्रदायिक ध्रुवीकरण हुआ है, नफ़रत का जैसा माहौल बन गया है, उससे उनके जैसे लोगों की साझी दुनिया बनाने की कोशिशें बेकार सी हो गयी हैं।
>
> प्रोफेसर रूपरेखा वर्मा जी से जब हम स्त्रीदर्पण पत्रिका की तरफ से साक्षात्कार लेने गये तो उन्होंने हमसे खुलकर बात की। उनसे हुई बातचीत कई मायनों में इसलिए भी दिलचस्प है कि अपने निजी जीवन के बारे में बहुत कम बोलने वाली रूपरेखा जी ने अपने बचपन और अपने बनने की प्रक्रिया पर जैसे बात की है उससे तत्कालीन समाज की पारिस्थितिकी का भी पूरा परिचय मिलता है।
>
> : प्रीति चौधरी

है। आमतौर पर व्यवहार कुशल लोग ऐसा मुंह पे नहीं कहते तो कुछ जींस में भी रहा हो और वातावरण में भी रहा हो जो मेरे अंदर आया। तो ये जो शुरुआत है वो बहुत कच्ची उम्र से शुरू हो गई लेकिन मैं कहूंगी कि आमतौर पर उसमें नब्बे प्रतिशत बेवकूफियां थीं। वो बहुत कारगर जरूरी हस्तक्षेप नहीं थे लेकिन इन बेवकूफियों को करते करते थोड़ी ये समझ भी आयी कि समझदारी के डाइमेंशन्स क्या होने चाहिए तो वो थोड़ा सा बड़े होने पर आया। ग्रेजुएशन की स्टेज से थोड़ा थोड़ा ठीक से समझ में आने लगा। मैंने महिला कालेज से बी.ए. किया था वहां भी एक मेस में बदइंतजामी के मसले पर इंटरवेंशन किया तो वहाँ की प्रिंसिपल वार्डन इतनी नाराज़ हो गयीं कि उन्होंने खबर प्रिंसिपल को दी। प्रिंसिपल बहुत ही कड़क थीं। शायद नाम सुना हो कंचनलता सब्बरवाल जी! वो अपने कड़कपन के लिए मशहूर थीं तो उन्होंने मुझको भरी सभा में ह्यूमिलियेट किया इस बात के लिए कि तुम नेतागिरी करती हो। उस समय जवाब देना नहीं आता था मुझे उतना ज्यादा तुरंत, बाद में सोचने पर खूब जवाब याद आते थे कि काश मैंने ये कहा होता, वो कहा होता। तो जवाब देना मैंने बहुत बड़े होने पर सीखा। टीचर बन जाने के बाद भी तुरंत सही जवाब देना मैंने नहीं सीखा था। बहुत सारी चीज़ें हैं जिनकी समझ लानत मलामत होते होते आयी। तब ये मुझे समझ में आया कि मैं प्रिंसिपल से कह सकती थी कि आप समाज में खुद इन चीजों (बोलने, गलत का विरोध करने) के लिए जानी जाती हैं तो हम अभी से नहीं करेंगे क्या? आपका ऐतराज करना बहुत गलत है। ये उस बी.ए. की स्टेज में मेरी समझ में नहीं आया था। आज के बच्चों को ज्यादा एक्सपोजर है वो ज्यादा सफाई से अपनी बात कह जाते हैं। मेरी जनरेशन में मेरा जो ये गैप, मेरा ये माहौल रहा कि छोटे से शहर से आना हुआ एक मामूली से स्कूल से पढ़ाई करके आना, बहुत बंदिशों में जिंदगी गुजारना और फौरन एक तरफा लानत मलामत थोपा जाना और उसमें जो कल्चरल कंडीशनिंग है कि तुम्हें ज्यादा समझ नहीं आ रहा और कहते नहीं बन रहा दोनों ही बातें हैं। तो ये उस समय तक यही होता रहा। एडल्ट हो जाने के बाद भी ये हुनर नहीं आ पाया था जवाब तलबी करने का और इसका बहुत अफसोस है।

तो जब लखनऊ में हर जगह एक नामचीन हस्ती के रूप में आपकी एक पहचान बन गयी तो कभी ऐसा हुआ कि कंचनलता सब्बरवाल जी मिली और उन्होंने आपसे कहा कि तुमने बहुत वाजिब बात कही थी, ये तो शुरू से ही बड़ी मुखर थी।

मुलाकात तो मेरी हुई उनसे कई बार, कुछ प्रोग्राम में हमको भी इन्वाइट किया गया उनको भी इन्वाइट किया गया। हमसे बहुत ज्यादा उनका रूतबा था। पर मेरे थोड़ा सा सीनियर टीचर होते होते वो गुजर चुकी थीं लेकिन जब मेरा मकान बना तो मुलाकात हुई या कहीं किसी गोष्ठी में जाना हुआ तो हम दोनों को साथ पिकअप किया गया पर किसी ने वो पुरानी बात छेड़ी नहीं। और वो मेरी टीचर रहीं थीं पढ़ाती भी थीं, फिलासफी एक सब्जेक्ट था मेरा, एक पेपर वो भी लेती थीं। तो कई तरीके का उनके बड़े होने का एहसास था और वो संस्कार कि जो टीचर रह चुका है वो बड़ा है। बाद में जो जवाब समझ भी आये तो देने वाली स्थितियां बदल चुकी थी, उस समय तक और उनके टीचर होने का एहसास इतना हावी था कि वो अगर बहुत शिद्दत से याद भी आता तो हिम्मत न पड़ती उनसे कुछ कहने की और बाद के दिनों में ये रहा की वो हमको सम्मान की दृष्टि से देखने लगी थीं और हम तो उनको सम्मान देते ही थे तो और एक रिश्ता कायम हो गया था।

मैम अपने बचपन के बारे में कुछ बताइए, क्योंकि गढ़ने बनने की भी एक प्रक्रिया होती है, व्यक्तित्व तो हम लोग बाद में सीखते पढ़ते अर्जित करते हैं। कई बार परिवार और परिवेश से जो मिलता है वो अहम होता है, उसके बारे में कुछ बताइए।

असल में परिवार का परिवेश और समाज का परिवेश, मुझे लगता है शुरू से ही मिलकर वो असर डालती हैं और जब बड़े होकर आप पिछले दिनों को

''मैंने हार नहीं मानी''

1.

मैं उन दिनों लखनऊ विश्वविद्यालय मे दर्शनशास्त्र विभाग की विभागाध्यक्ष थी। दो लोगों के प्रमोशन होने थे, लेकिन पद एक ही था। ऐसे में एक का प्रमोशन हो गया मगर जिसका नहीं हुआ उसने मुझ पर हर स्तर पर हमले किए। पहले वैचारिक विभेद के नाम पर उन्होंने मेरे खिलाफ गोलबंदी की। पहला हमला साम्प्रदायिक और जातिवादी तरीकों से किया। साल–डेढ़ साल तक मेरे खिलाफ अखबारों में खूब छपा। मुझे पर भ्रष्टाचार के आरोप लगाए गए, बल्कि मेरा खूब चरित्र हनन किया गया। इस बीच मेरे पिता घर में गिर गए थे और वे कोमा में थे। मेरी मा अखबारों में छपने वाली खबरों से बहुत घबरा चुकी थीं। मैं जब विश्वविद्यालय से आती वे यही कहतीं कि तुम यह नौकरी छोड़ दो, घर में रहो, क्या रखा है इस नौकरी में, जिसमें इज्जत भी सलामत नहीं है। पर मेरे लिए यह करो या मरो की हालत थी। छात्रों और शिक्षकों के बीच भी बहुत भ्रम फैल चुका था और सभी मुझे अजीब निगाहों से देखते। ऐसे में अगर मैं नौकरी छोडकर भाग आती तो मुझ पर लगाए जा रहे सभी आरोप स्वतः सच साबित मान लिए जाते। उनका झूठ, सच की तरह हमारी पीढ़ियों में किस्सों के रूप में चर्चित हो जाता।

2.

लड़ना मैंने इसलिए भी जरूरी समझा कि हम आज़ादी के बाद नौकरी पाई पहली पीढ़ी की महिलाएं थीं। हमारा हारना आने वाली लड़कियों के लिए मुश्किलें खड़ी कर देता, उन्हें बदनाम करने और हाशिये पर डालने वालों के हौसले और बढ़ जाते। मेरी इस ज़िद के कारण मुझे शारीरिक हमलों की भी धमकी दी गई। धमकाने वाले पूरे रास्ते का चित्र बताकर कहते कि कैसे बचोगी?दो मुकदमे भी दर्ज कर दिए गए पर मैंने हार नहीं मानी। लड़ी और दोनों मुकदमे जीते। मुझ पर जो आरोप लगाए थे सब गलत साबित हुए और मैंने अपने साथी शिक्षकों, छात्रों और परिवार में खोया सम्मान हासिल किया।

3.

इस लंबे व्यक्तिगत संघर्ष में मैंने कुछ खोया, यह तो याद नहीं पर इस अच्छी ज़िद ने मुझे और समाज को जो साहस, दृष्टि और दुनिया को समझने का मौका दिया वह जरूर याद करने लायक है। और मैं मानती हूं कि हमें संघर्ष का साहस हमारे सामाजिक माहौल से मिला। आज़ादी के बाद पूरे देश में बहुत ही सकारात्मक माहौल था। वे लोग समाज के आदर्श होते थे या चर्चा में रहते थे, जो मुंहफट थे और सही बात कहते थे। हम जिन भी बैठकों, सेमीनारों या प्रदर्शनों में शामिल होते, लोग यही बातें करते कि उनकी देश को बेहतर बनाने में कितनी बड़ी भागीदारी या भूमिका हो सकती है।

(मीडिया को दिए गए इंटरव्यू में रूपरेखा वर्मा)

सोचते हैं तो इतना ये बताना मुश्किल होता कि हम ये जो बने उसमें अलग कर पायें कि कितना हिस्सा समाज का था और कितना हमारे परिवार का। लेकिन मैं ये कहूंगी कि कुछ मायनों में हम लोग बिल्कुल साधारण मिडिल क्लास के थे। हमारा मध्यम वर्ग का परिवार था और सारी प्रवंचनाएं कहिए या वो सीमाएं और बहुत सारी गलत मान्यताएं हमारे यहां भी थीं। जो गलत चीजें उस समय हमारे हिंदुस्तान में ज्यादा थीं अभी भी हैं।वो लौट के भी आ रही हैं लेकिन तब ज्यादा बड़ी सहमति थी, जैसे लड़कियों को कैसे रहना चाहिए, कितना पढ़ना चाहिए और कैसे रहना चाहिए, हमारे इर्द-गिर्द वाइडर वृहत्तर समाज में कुछ चीज़ें शर्मनाक भी थीं लेकिन कुछ चीजों में मुझे लगता है कि हम लोग खुशनसीब भाई बहन थे। एक तो यह कि हमारे यहां बहुत ज्यादा पाखंडी कार्यकलाप नहीं होते थे। कुछ होते थे लेकिन उनकी संख्या बहुत कम थी। हमारे इर्द-गिर्द बहुत सारा साहित्य बिखरा था जो हम कच्ची उम्र में पढ़ लेते थे। पाखंड के खिलाफ एक मुहिम सी थी और लोग खुलकर लिख बोल रहे थे। उस समय पाखंड के खिलाफ ही नहीं बल्कि धर्म के खिलाफ भी लिखते थे तो उस तरह के रिएक्शन नहीं होते थे जैसे आज हो रहे हैं। तमाम वंचनाओं और सीमाओं और करो न करो की जो बंदिशें थीं उनके बीच में कुछ कुछ खुलापन भी हमारी जनरेशन में था जो आज हमें लगता है बहुत बंद हो रहा है। तब हम धर्म को क्रिटिसाइज कर सकते थे उसको हल्के में लेकर के हंस के टाल सकते थे। मैं खुद को प्रिविलेज्ड मानती हूं कि हमारे यहाँ एक अच्छी लाइब्रेरी मौजूद थी। हमारे पिता मेडिकल डाक्टर थे लेकिन उनको अपार प्यास थी साहित्य पढ़ने की और उस समय की जो जनरेशन होती थी शायद वो अंग्रेजी, हिन्दी, उर्दू तीन चीजों को फटाफट पढ़ना जानती थी। हमारे पिताजी संस्कृत में वार्तालाप कर सकते थे और उनकी साहित्य में बहुत रुचि थी। हमारी बड़ी बहन कविताएं लिखती थीं, उस समय उनका कुछ नाम भी हो चला था। हमारे यहां शहर में एक बड़ा कवि सम्मेलन होता था जिसमें महादेवी वर्मा से लेकर उस समय के और मशहूर नाम जो थे उनकी हमारे घर बैठक होती थी। हमारे पिताजी की पहल पर और बहन हमारी लिखती भी थीं तो एक साहित्यिक गोष्ठी हमारे घर पर भी होती थी। पर तब न तो कविता के मर्म समझने की ताकत और तमीज़ थी और न ही उस समय साहित्य

निर्मला पढ़ने के बाद हमको यहां तक तो समझ में आ गया बेमल शादी हुई है लेकिन निर्मला क्यूं रोई उस कमरे में जाकर कुछ वो सेक्सुअल हैरेसमेंट की बात थी, वो कतई समझ में नहीं आयी। सालों ये चीज दिमाग में घूमती रहीं कि निर्मला दूसरे कमरे में जाकर क्यों रोई। आगे चलकर सब तरह की चीजें पढीं मगर असल में तो दिल वही लगता था, दिल में जो चुभ जाता था। साहित्य जो कहीं आगे बढ़ने का और परंपराओं को तोड़ने का तार्किक संदेश देते थे वो पसंद आते। हालांकि पढ़ने को सब तरह का मिला चंद्रकांता भी पढ़ने को मिली। हमारे दोस्तों में किसी के भी घर में उस तरह की हमने एक लाइब्रेरी नहीं देखी...

पढ़ने की, लेकिन बहुत सारा न समझ में आने वाला प्रोग्रेसिव साहित्य हम लोगों ने उर्दू में पढ़ लिया था। जबकि उस समय सब बात हम नहीं समझ पाते थे थोड़ी बहुत बात समझ पाते थे उदाहरण के लिए प्रेमचंद की निर्मला पढ़ डाली जबकि तेरह चौदह साल के रहे होंगे और हमारी जनरेशन में एक बहुत छोटे कस्बाई शहर में तेरह चौदह साल में ये समझिए बिल्कुल भी एक्सपोजर नहीं था और चीजों को बड़ी मूढ़ बातों पर हमने बातें होते हुए भी हम लोग का स्पैचोरिटी लेवल बहुत देर में उस जनरेशन का आता था और शायद शहर का भी वही हाल था। तो निर्मला पढ़ने के बाद हमको यहां तक तो समझ में आ गया बेमल शादी हुई है लेकिन निर्मला क्यूं रोई उस कमरे में जाकर कुछ वो सेक्सुअल हैरेसमेंट की बात थी, वो कतई समझ में नहीं आयी। सालों ये चीज दिमाग में घूमती रही कि निर्मला दूसरे कमरे में जाकर क्यों रोई। आगे चलकर सब तरह की चीजें पढ़ीं मगर असल में तो दिल वहीं लगता था, दिल में जो चुभ जाता था। साहित्य जो कहीं आगे बढ़ने का और परंपराओं को तोड़ने का तार्किक संदेश देते थे वो पसंद आते। हालांकि पढ़ने को सब तरह का मिला चंद्रकांता भी पढ़ने को मिली। हमारे दोस्तों में किसी के भी घर में उस तरह की हमने एक लाइब्रेरी नहीं देखी जिसमें प्रोग्रेसिव साहित्य भी बाकी धार्मिक साहित्य के साथ ना रखा हो। मैं बताऊं मेरी मां सिर्फ़ पाँचवीं पास थीं। वे आजमगढ़ के एक अंदरूनी और पिछड़े गांव से आती थीं, लेकिन जब साहित्यिक बातें होती थीं तो वो चाहे दाल रांध रही हों, किचन में चूल्हे से लकड़ियां निकालकर बुझा करके वे बैठक में आकर जरूर बैठती थीं और साहित्यिक चर्चा का मजा लेती थीं। उसमें वो कविताओं पर बात भी करती थीं जबकि वे सिर्फ पाँचवीं पास थीं जिसे मैंने आपको पहले भी बताया। उनको ज्यादा पता नहीं था पर वे अखबार रोज़ पढ़तीं थीं और उसपे पालिटिकल कमेंट भी देती थीं। जब उदाहरण देती थीं तो बड़े आधुनिक देती थीं कहीं लड़ाई चल रही हो तो वे कहतीं कि जैसे हिन्दुस्तान- पाकिस्तान में युद्ध चल रहा है। उन्होंने इरान और ईराक का भी हमको उदाहरण दिया।

मैम आप नाम भी बतायें कि आप किस गांव की थीं या कस्बे जैसी कोई जगह हो तो उसके बारे में बतायें।

मैं किसी गांव में रही नहीं पर गयी जरूर हूं जैसे अपने ननिहाल में। बाद में सोशल काम करने के लिए भी गयी लेकिन मेरा बचपन और टीन एज मैनपुरी नाम के गांव में जो डिस्ट्रिक सिटी है में बीता जो कायदे से कस्बा नहीं कहलाना चाहिए। खैर जब हम लखनऊ आये तो हमें अहसास हुआ कि हम कितने छोटे शहर में रह रहे थे और वहां पर कितने संकीर्ण रास्ते थे दुनिया को देखने के। तो उस तरीके से तो वो बहुत छोटा शहर था और मेरी शिक्षा उस तरह के स्कूल में नहीं हुई जहां लोवर केजी, अपर केजी पढ़ते हैं। उस समय चौदह साल में हम लोग हाईस्कूल कर लेते थे। पर स्पैचोरिटी लेवल इतना नीचे होता था कि माहवारी शुरू हो जाने के बाद भी ये समझ नहीं आया कि ये क्या है इससे इतना हाय तौबा क्यों होता हैं घर में। हम लोगों को साहित्यकारों के बारे में घर के माहौल के वजह से पता था। हमारे यहां वीकली मीटिंग्स में लोकल लोग होते थे साहित्य के जिसमें हमारे डाक्टर पिता और वे लोग साहित्य पर बहस करते थे। मेरी बहन की पूरी शिक्षा प्राइवेट हुई आठवीं के बाद, बी.ए., एम.ए., साहित्यालंकार वो सब किया उन्होंने पर प्राइवेट ही। धीरे धीरे रस्ता हम लोगों का भी खुला, बड़ी बहन को तो नहीं मिली फार्मल एजुकेशन हायर लेवल की पर हम दो नीचे वाली बहनों को मिलीं ये सुविधाएं। यहाँ तक कि बाहर हास्टल में रखकर भी पढ़ाया गया। हम लोग पहले थे उस शहर के, हम और हमारी बहन जो मैनपुरी छोड़कर शिक्षा के लिए कहीं बाहर निकलें। हालाँकि

उस वक्त ये नहीं था कि चुन चुनकर किसी एक कौम के लिए अपमान जनक बातें कह रहे हैं, गालियां दे रहे हैं। लेकिन परोक्ष रूप में दबे स्वर में हिंदू धर्म के लिए प्राथमिकता दी जाती थी कि ये श्रेष्ठतम है। ऐसा नहीं है कि हम लोगों का परिवेश एकदम ऐसी बातों से मुक्त था। आपसी बातचीत और मिलने जुलने में ये चीजें बीच बीच में उठती भी रहती थीं। एक साहब थे जिनका घर हमारे स्कूल जाने के रास्ते में पड़ता था, एक हाता था, उसमें वो पढ़ाते थे, वे दरवाजे पर खड़े रहते और हम लोग जैसे ही वहाँ से निकलते, वो पिता जी का नाम लेकर गालियां देते थे, वे मुस्लिम थे, गालियों से शुरू करते। लुच्चे लफंगे से शुरू करते थे, वो बदमाश की लड़की जा रही है कहते और खूब हंसते थे।

इससे मैनपुरी में बहुत ज्यादा बतकही हुई कि डाक्टर साहब को क्या लड़कियों से कमाई कराना है। लड़कियों से कमाई कराना एक टर्म था जिसे बुराई के रूप में कहा जाता था। मेरी सारी सहेलियों ने प्राइवेट पढ़ाई की उस समय। हम और हमारी बहन जब छुट्टियों में मैनपुरी आते थे तो हमलोग दो चोटियां कसके बांधे हुए और ढीला ढीला नीचे तक का सलवार कुर्ता पहनते थे। ये देखकर वहां ये छवि बनी कि लड़कियाँ बिगड़ी नहीं हैं तो एक नज़ीर बनी और उसके बाद एक पूरी लंबी कतार है लड़कियों की, जिन्हें पढ़ाई के लिए बाहर भेजा गया। हम कोई श्रेय नहीं लेना चाहते कोई लेकिन हमारे परिवार वालों ने चूंकि थोड़ा सा जो खुलापन दिया ये उसका नतीजा था। हालांकि वो बहुत मामलों में बहुत रूढ़िवादी भी लेकिन उन्होंने बहुत सारे रास्ते हमारे लिए खोले। हमारे यहाँ आपस में बहस का वातावरण हमारे था, पर कुछ बेतुकी चीजें भी होती थी उसमें बहुत बार खीझना भी एक दूसरे पर होता था जो तर्क में नहीं होना चाहिए। लेकिन थोड़ा टेढ़े और गलत रूट से ही सही, डिस्कशन का हौसला और अपनी बात पर टिके रहने की आदत डालना और सही गलत के विवेक के जाग्रत होने के रास्ते भी तभी बने। हमने जाना कि हमारा हक है क्रिटिसिज्म करना।

उस वक्त ये नहीं था कि चुन चुनकर किसी एक कौम के लिए अपमान जनक बातें कह रहे हैं, गालियां दे रहे हैं। लेकिन परोक्ष रूप में दबे स्वर में हिंदू धर्म के लिए प्राथमिकता दी जाती थी कि ये श्रेष्ठतम है। ऐसा नहीं है कि हम लोगों का परिवेश एकदम ऐसी बातों से मुक्त था। आपसी बातचीत और मिलने जुलने में ये चीजें बीच बीच में उठती भी रहती थीं। एक साहब थे जिनका घर हमारे स्कूल जाने के रास्ते में पड़ता था, एक हाता था, उसमें वो पढ़ाते थे, वे दरवाजे पर खड़े रहते और हम लोग जैसे ही वहाँ से निकलते, वो पिता जी का नाम लेकर गालियां देते थे, वे मुस्लिम थे, गालियों से शुरू करते। लुच्चे लफंगे से शुरू करते थे, वो बदमाश की लड़की जा रही है कहते और खूब हंसते थे। हम आधे किलोमीटर दूर से ही सहमना शुरू कर देते थे। साथ में बहन भी होती थी पर रिएक्ट करने की कोई उम्र तो थी नहीं कोई। हम लोग बहुत छोटे थे, डर भी लगता था लेकिन जब वही सज्जन घर आते थे तो बदले हुए होते थे, वे और पिता जी हा हा ही ही करते थे आपस में। ये बाद में समझ आया कि वो गालियां तो यूं ही थीं। ये समझ में आया कि ये तो संतुलन है गालियों को हंसी में सुन लेना, नजरअंदाज करना या हल्केपन में लेना सबसे ज्यादा अहम है घर पे आके गले मिलना। तो इन तरह की चीजों ने भी व्यक्तित्व को बनाया। और जो पढ़ने की आदत रही उसकी वजह से अच्छा साहित्य भी हाथ में पड़ जाना ये बड़ी बात है। जो कुरीतियों को बदलने की बात है, कहीं समय से आगे देखने की बात है तो एक तरह का विवेक भी आया।

मैम, बचपन में घर में हुई कोई ऐसी बात, जब आपने अपने माता-पिता का विरोध किया हो या असहमति जताई हो, ऐसा कुछ याद आता है?

देखिए हमारे यहां हमारी मां के ननिहाल से कई

बार डोमेस्टिक हेल्प आती थी तो कई बार मुझे ये लगा कि जिस तरह का खाना उनको दिया जाता था उससे मेरी आपत्ति रहती थी, जैसे कि जब हम लोग बासी नहीं खाते तो उन्हें बासी क्यों दिया जाता है। जिस उम्र में लोग ऐसी बातों को नोटिस नहीं करते हमने किया था। खैर कोई बड़ी बहस उनसे हुई हो मेरी ऐसा याद नहीं आ रहा, मगर छोटी मोटी बहसें और नाराज़गियाँ तो हर हफ्ते होती थीं हमारे बीच। खूब बहसें होती थी, कभी डांट भी पड़ती थी। तो छोटे मोटे conflict आजादियों को लेकर के या छोटी मोटी बातों जैसे कि आपने उससे ऐसा क्यूं कहा या उसके सामने वैसे क्यों कह दिया इनको लेकर के होते थे, लेकिन वो कोई बड़ी सैद्धांतिक बहस नहीं थीं। जहां तक पाखंड और कर्मकांड की बात हो, हवन हमारे यहां होता था, पर व्रत कथा, पूजा वगैरह ये सब हमारे यहां नहीं होता था क्योंकि हमारे पिता जी आर्यसमाजी थे। काफी बड़े होने के बाद जब मैंने सत्यार्थ प्रकाश पढ़ा तो समझ में आया कि ये कितना गलत ग्रंथ है, कितना बायस्ड है और इसमें कितनी साम्प्रदायिकता है। उसमें एकांगी और खतरनाक टाइप का धार्मिक गौरव है। कुछ कुछ जातिवाद भी मिल जाता है। कबीर के लिए कितनी बुरी भाषा में बात की गयी है। लेकिन उस समय लगता था कि ये अच्छा ग्रंथ है। कोई कुछ खलिाफ़ बोले तो लगता था कि निरादर कर रहा। उसी तरीके से जो हवन होता था, संध्या अनुष्ठान होते थे तो ये लगता था बहुत पवित्र काम कर रहे हैं। इसी तरह मैं समझती हूं कि जो लोग आज खौफनाक हो रहे हैं, दूसरों को मार रहे हैं, अन्ततः उनका एक बहुत ही जबरदस्त, एकतरफा और अनुचित लगाव अपने धर्म से होगा। उस उम्र में हमको भी बहुत गर्व और शान महसूस होती थी कि हवन में आहुति डाल रहे। सब कुछ संस्कृत में हैं समझ वमझ में कुछ आता नहीं पर ऊँ भूर्भुवः स्व वगैरह जो होता था तो बड़ा अच्छा महसूस होती था। बहुत बाद में जाके थोड़ा बहुत अर्थ जब समझ में आया तो पता चला कि वो सब सिर्फ रिपिटीटेड होता था लेकिन वो विधि विधान में भाग लेने का एक अलग संतोष और गौरव होता है, इममैच्यौर वाला, वो हममें भी खूब था। हम थोड़े बड़े हुए तो महिला कालेज में बी ए करने आये वहां पर भी हवन की परम्परा थी। बी ए में थे हम, पर हमारी समझ में ये नहीं था कि ये गलत है। एक धर्म की परम्परा का पालन क्यों हो रहा है कॉलेज में? मैंने कभी विरोध में आवाज़ भी नहीं लगाई। बल्कि जब हवन में जाकर बैठते थे तो बड़ा अच्छा लगता था। एक कर्तव्यबोध था कि मानो बड़ा पवित्र काम कर रहे हैं। तो जैसा मैंने पहले कहा कि कोई अहम या भ्रम नहीं कि बचपन में ही सबकुछ समझ आ गया था, या हम इतने शार्प थे कि मुद्दे शुरू से ही बहुत क्लियर थे। नहीं ऐसा नहीं था। समझ धीरे-धीरे बनी। कुछ चीजों से मुक्त हुए हैं बहुत धीरे धीरे। बाद में बहुत सारी बातों से पेनफुली भी मुक्त हुए हैं। बात पेरेंट्स से शुरू हुई थी तो कोई बड़े नहीं मगर छोटे मोटे डिसअग्रीमेंट्स हुए, कि बड़ी बहन पर क्यों इतनी बंदिश है वगैरह। हाँ हमारे घर के आस

पास दीवार से दीवार सटे जो घर थे उनमें कुछ बड़ी भयंकर चीजें हुई थीं। उस समय बिल्कुल पड़ोस में जो परिवार था उसमें आदमी रस्माती तौर हफ्ते में दो बार अपनी बीवी को खूब मारता था और उनकी खिड़की में पर्दा नहीं हुआ करता था तो हमें वो सब कुछ नजर आता था। वो पड़ोसी तार लगाने का काम करते थे और सामाजिक हैसियत शायद इस चीज़ को ही कहा जाता है तो वो छोटी हैसियत के थे। हमारे घर और उनके बीच काफी गैप भी था। हमारे पिताजी डाक्टर थे। जैसा मैंने पहले भी कहा कि वे बहुत मामूली सरकारी नौकरी में थे लेकिन फिर भी हैसियत का जो लोग आकलन लगाते हैं उसके हिसाब से बहुत बड़े थे वो। तब मैं बहुत छोटी थी, सात आठ साल से लेकर बारह साल तक देखा होगा उस पड़ोसी को अपनी औरत को मारते हुए, दिल के अंदर बेहद खलबली मच जाती थी, पीड़ा होती थी वो दर्दनाक बात दिल में उतर जाती थी। अब कसक होती है कि कभी हमने या परिवार ने कोई हस्तक्षेप क्यों नहीं किया। घर में मैंने ये क्यों नहीं कहा कि आप लोगों को उस आदमी से कुछ कहना चाहिए जो अपनी बीवी को पीटता है। देखिए छोटे बच्चों को तो घर पे काम होता नहीं, आमतौर पर हम लोग घर पर रहते तो खिड़कियों पर बैठे बाहर देखते रहते। मां तो काम में लगी रहतीं, नाश्ते के बाद खाने की तैयारी, खाने के बाद शाम के खाने की तैयारी। इसतरह से वो तो ताक झांक कम कर पाती थीं, पर हम बच्चे तो घर की खिड़कियों पर बैठे रहते थे तो देखते ही थे। आज भी इस बात को याद कर मुझे तकलीफ़ होती है। एक और वाकया आज अस्सी साल की उम्र में भी मेरे पास बार बार लौट के आता है और बेचैन कर देता है। हमारे घर के नीचे बाज़ार था तो मुझे याद है कि नीचे एक तम्बाकू की दुकान थी। पहले की दुकानों में क्या था कि पत्थर की पटिया लगी होती थीं, लोग उन पर चढ़ के जाते थे दुकान में। एक बार इसी पटिया पे कोई लड़का सोया हुआ था रात में। दुकान खोलने जो सुबह आते थे उन्होंने उस लड़के को पटिया पर सोये देखा तो उसे डंडे से बुरी तरह मारा। एक बच्चे के रूप में ये पूरा दृश्य मैंने अपनी आँखों से देखा कि कैसे सटाक सटाक उस लड़के को पीटा गया और वो गिड़गिड़ाता रहा। बाद में हमें पता चला कि वो मेहतर था इसीलिए पीटा गया। उसके मेहतर होने वाली बात मुझे वाकये को घर में बताने से पता लगी। उस समय तक तो हमें जाति का कोई व्यवस्थित मतलब नहीं पता था, हालाँकि मेहतरानी घर में आती थी। हमने तो अपने पिता जी को उसी के बगल में उकड़ू बैठ कर उसकी उंगली पर पट्टी लगाते हुए देखा है तो उतने जातिगत अलगाव का भी आइडिया नहीं था। हमको आज जब बहुत सारी चीज़ें याद आती हैं तो लगता है कि हमें या परिवार को थोड़ा इंटरवेन्शन करना चाहिए था। उस समय के प्रोग्रेसिव लहर के माहौल में शायद उस इन्टरवेंशन से फ़र्क़ पड़ता। पर हम लोग थोड़े दिन विचलित होते फिर सब कुछ ढर्रे पर चलने लगता। आज चीजें जब रिग्रेसिव तरीके से लौट रही हैं कि दलित को जूते से पानी पिलाना, जूता चटवाना। यह बहुत चिंता की बात है। इसका हम सबको विरोध करना ही चाहिए तभी यह समाज बदलेगा।

शेष अगले अंक में.....

लिंग, जाति और इतिहास के आईने में स्त्री

प्रसिद्ध इतिहासकार चारु गुप्ता से युवा आलोचक अलका तिवारी की बातचीत

पिछले कुछ वर्षों में स्त्री प्रश्नों को इतिहास के आईने में देखने की कोशिश की जा रही है ताकि पता चले कि भारतीय समाज में स्त्रियाँ हाशिये पर क्यों रहीं? क्या लिंग और जाति का मुद्दा हमारी पितृसत्ता में इतना गहरे धंसा है कि वह स्त्रियों को मुक्त होने नहीं देता। दलित और आदिवासी स्त्रियों की हालत और बुरी है। वे आज भी सवर्णवादी शिकंजे में फंसी हैं। हमारे समय की प्रखर इतिहासकार बुद्धिजीवी चारु गुप्ता ने इन प्रश्नों पर विचार किया है।

अलका तिवारी

मो० 8400473498

चारु गुप्ता

चारू जी, आप देश की जानी मानी इतिहासकार हैं और आपने स्त्री विमर्श के नज़रिये से इतिहास को देखा है। अभी हाल ही में आपकी पुस्तक जाति और लिंग आयी है। इसमें आपके केंद्र बिंदु क्या रहे हैं?

"जाति और लिंग औपनिवेशिक उत्तर भारत, खासकर उत्तर प्रदेश में जाति के इतिहास को एक लैंगिक नज़रिए से, और लैंगिक इतिहास को एक दलित नज़रिए से पुनर्लिखित करने-सोचने का आमंत्रण है। इसमें प्रिंट संस्कृति में प्रतिनिधित्व और अभिव्यक्ति को एक उल्लेखनीय आलोचनात्मक औज़ार के रूप में रेखांकित किया गया है, जो जाति और लिंग जनित विचारधाराओं के पुनर्चलन, रूपांतरण और संघर्षों में अहम् भूमिका निभाता है। हमें यह पता चलता है कि जाति और लिंग को लेकर उपनिवेशवादियों, राष्ट्रवादियों, पुनरुत्थानवादियों, सुधारकों और दलितों के बीच कई विवादास्पद और सहयोगी विमर्श इस दौर में उभरे। कई ऐतिहासिक विवरणों और प्रिंट चित्रणों को एक-दूसरे के बरक्स तोलते हुए, इस किताब में जाति और लिंग के अंतर्संबंधों के इर्द-गिर्द रचित वर्चस्वशाली अभिलेखों का पुनर्पाठ करने की कोशिश की गई है। साथ ही, दलित प्रति-स्वरों और एजेंसियों के माध्यम से इस प्रक्रिया में निहित मुक्तिकामी संभावनाओं पर भी ध्यान धरा गया है।

इस पुस्तक के दो मकसद हैं: पहला, हिंदू समुदाय के अन्दर विभेद और वर्गीकरण के व्यवहारों की जांच-पड़ताल करना, और इसके ज़रिये यह समझना कि किस प्रकार जाति और लिंग के अंतर्संबंधों में सामाजिक विभेद निर्धारण एक चिरस्थायी तत्त्व था। यह 'अछूतों' के लैंगिक पक्ष को केंद्र में रखते हुए वर्चस्वशाली आधुनिक विवरणों पर सवाल खड़े करती है। यह उदारवादी सुधारकों की विद्वत्तापूर्ण स्थापनाओं को भी कठघरे में लेती है। दूसरा पहलू जाति और लिंग के विनियमन को रोजाना के जीवन में देखना, और साथ-ही-साथ दलित प्रतिरोध के छिपे हुए अभिलेखों को सामने लाना है। इसके लिए मैं हिंदी समाचारपत्रों और पत्रिकाओं, कार्टूनों और ईसाई मिशनरी प्रकाशनों में लोकप्रिय और उपदेशात्मक सामग्रियों के विशाल भण्डार को सहेजती हूँ। इसके साथ ही, मैं अंतरंगता और देह के इतिहास से सृजित विचारों के ज़रिये जाति-लिंग के गतिशील संबंधों के भौतिक और दैहिक चरित्र, उसकी प्रतिनिधिपरक

सघनता, और सार्वजनिक जीवन में उसके विविध अर्थ पर भी ध्यान देती हूँ। मैं रोज़मर्रा के जीवन में अंतरंगता के सामाजिक व्यवहारों और उसकी अभिव्यक्ति की भी पड़ताल करती हूं जिसने दलित स्त्री की देह पर जाति की एक व्यापक छाप छोड़ी।

पहले तीन अध्यायों में विभिन्न प्रकार के प्रिंट माध्यमों में दलित स्त्रियों के तीन प्रकार के चित्रण- कुलटा, पीड़िता और वीरांगना की चर्चा की गई है। मैं कहानी की शुरुआत यहाँ से करती हूँ कि किस प्रकार औपनिवेशिक काल के हिंदी उपदेशात्मक साहित्य के एक हिस्से में दलित स्त्रियों और विशेषकर चमार दाई को कुलटा, प्रदूषित, अशुद्ध और कामुक के रूप में चित्रित करने के पुराने-नए रूप और मुहावरे विकसित हुए। इसके बाद मैं देखती हूं कि कैसे, सवर्ण सुधारवादी साहित्य के एक हिस्से में, दलित स्त्री की प्रदूषित, दुष्ट और विकृत छवि की जगह उनकी एक दुखियारी और पीड़िता की छवि उकेरी जाती है, जिसका उद्धार सवर्णों द्वारा होना चाहिए। साथ ही, सार्वजनिक हल्कों में जाति की बहुआयामी आलोचना के माध्यम से ऐसे चित्रणों का प्रतिवाद करते हुए, तीसरे अध्याय में मैंने समकालीन लोकप्रिय दलित लेखन में 1857 विद्रोह में दलित स्त्रियों की एक जुझारु छवि के रूप में रूपांतरण पर ध्यान केन्द्रित किया है। यहाँ दलित स्त्रियों के चित्रण में भर्त्सना, रूमानियत, प्रताड़ना और हीरोपन, कई प्रकार के रंग हैं, जो एक दूसरे को चुनौती देते हैं। चूँकि यह पुस्तक जाति के लिंग और लिंग की जाति के बारे में है, तो इसमें दलित पुरुष को भी एक लैंगिक किरदार के रूप में देखा गया है। चौथे अध्याय में मैंने यह दिखाया है कि किस प्रकार दलित पुरुषों को उपनिवेशवादियों और सवर्णों द्वारा अधिकतर या तो मंद बुद्धि या अपराधी के रूप में गठित किया गया। पर यह भी ज़ाहिर होता है कि दलित पुरुष खुद भी श्रम, सेना और राजनीति में अपनी भूमिका, और खान-पान और स्त्रियों के प्रति अपने नज़रिए के आधार पर स्वयं की एक विशिष्ट पहचान, अधिकार, गरिमा और पुरुषार्थ स्थापित करने का प्रयास कर रहे थे। अंतिम अध्याय में दलित स्त्रियों द्वारा ईसाई और इस्लाम धर्मांतरण के इर्द-गिर्द हुए विमर्शों की जांच की गई है।

लिंग और जाति के मुद्दों पर हिंदी जगत में उपेक्षा का भाव है। दूसरे शब्दों में कहें तो वैचारिक लेखन न के बराबर है। आप क्या कहना चाहेंगी?

"जाति और लिंग के बीच के अंतरसंबंधों को समझने के लिए हमें एक भिन्न सोच और इतिहास की ज़रुरत है, जो विभिन्न असमानताओं को जटिल रूप से संबोधित करता है और जाति और लिंग के अंतर को समझते हुए भी यह स्वीकार करता है कि इन दोनों पहचानों ने सामाजिक परिवर्तन और विरोध की भाषावली को अपनाया है। ये ऐसी श्रेणियां हैं जिनका समृद्ध विश्लेषण हुआ है, और जो एक ओर सत्ता को मज़बूत करने का आधार बनी हैं, तो दूसरी ओर ये राजनैतिक पहचान और परिवर्तन की औज़ार भी बनी हैं।

सार्वजनिक हल्कों में जाति की बहुआयामी आलोचना के माध्यम से ऐसे चित्रणों का प्रतिवाद करते हुए, तीसरे अध्याय में मैंने समकालीन लोकप्रिय दलित लेखन में 1857 विद्रोह में दलित स्त्रियों की एक जुझारु छवि के रूप में रूपांतरण पर ध्यान केन्द्रित किया है। यहाँ दलित स्त्रियों के चित्रण में भर्त्सना, रूमानियत, प्रताड़ना और हीरोपन, कई प्रकार के रंग हैं, जो एक दूसरे को चुनौती देते हैं। चूँकि यह पुस्तक जाति के लिंग और लिंग की जाति के बारे में है, तो इसमें दलित पुरुष को भी एक लैंगिक किरदार के रूप में देखा गया है।

पिछले दो दशकों में, खासकर पश्चिम और दक्षिण भारत के सन्दर्भ में, कुछ स्त्रीवादी अध्ययनों में जाति-विरोधी विचारों और लिंग के बीच के अन्तर्सम्बन्धों को केंद्रीय महत्त्व दिया गया है। उन्होंने दर्शाया है कि किस प्रकार जाति विरोधी प्रखर व्यक्तित्वों और विचारकों, जैसे जोतिराव फुले, बी. आर. अम्बेडकर और ई. वी. रामासामी पेरियार ने जाति व्यवस्था और लैंगिक नियंत्रण के बीच स्पष्ट सम्बन्ध देखा और उसे चुनौती भी दी। स्त्रीवादी अध्ययनों में इस बात पर भी प्रकाश डाला गया है कि किस प्रकार औपनिवेशिक काल में लिंग और जाति के बीच के रिश्तों ने नया मोड़ लिया और दलित स्त्रियों पर सवर्ण शिकंजा कसने के प्रयास हुए। उस सन्दर्भ में प्रेम चौधरी ने इस बात पर प्रकाश डाला है कि कैसे हरियाणा में औपनिवेशिक काल में एक अधिक वर्चस्वशाली और जाति उन्मुख सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ़ किया जा रहा था, जो विशेष रूप से निम्न-जाति की स्त्रियों के लिए नुकसानदेह थी। अपने महत्वपूर्ण काम में उमा चक्रवर्ती अठारवीं शताब्दी के पश्चिमी भारत में पेशवाई के दौरान ब्राह्मणवादी विचारधारा, श्रेणीबद्ध पितृसत्ता, और पारंपरिक जातिगत ढाँचे के बीच के घनिष्ठ संबंध को दिखाती हैं। इसका विस्तार करते हुए, अनुपमा राव महाराष्ट्र की ब्राह्मण विरोधी राजनीति में कामुकता, विवाह और परिवार को लेकर विविध प्रवृत्तियों पाती हैं। शर्मिला रेगे ने अंबेडकर के कुछ लेखन को एक स्त्रीवादी क्लासिक (उत्कृष्ट साहित्य) के रूप में देखा है, जिसमें सगोत्र विवाह की तीखी आलोचना और एक नए जाति-लिंग कोड की परिकल्पना की गई थी। एस. आनंदी और वी. गीथा बताती हैं कि कैसे तमिलनाडु में पेरियार के नेतृत्व में स्व-सम्मान आन्दोलन ने विवाह का, परिवार के दायरे से बाहर, दो राजनैतिक कामरेडों की परिवर्तनकारी साझेदारी के रूप में आलिंगन किया, और गर्भनिरोधकों को यौन आनंद का एक जरिया समझा। फिर भी, क्योंकि पुरुष जाति विरोधी सुधारकों का मुख्य ध्यान जाति के उन्मूलन पर था, न कि अपने-आप में लैंगिक और यौनिक स्वतंत्रता की स्थापना पर, इसीलिए उनकी जाति और लैंगिकता के बीच के संबंधों की समझदारी में कई कमियाँ भी थीं।

मेरी किताब औपनिवेशिक उत्तर भारत को अपना केंद्र बिंदु बनाती है। इसमें रेखांकित कई मुद्दे ऐसे जाति-विरोधी और स्त्रीवादी अध्ययनों से गहरे प्रभावित हैं और लिंग और दलित इतिहासशास्त्र के प्रमुख संकेत चिन्हों के बीच कहीं स्थित हैं। मेरी किताब बताती है कि किस प्रकार उपनिवेशवादियों, समाज सुधारकों, राष्ट्रवादियों और स्वयं दलितों ने लिंग और जाति के चित्रण उकेरे और अभिव्यक्त किये। मैं यह भी दर्शाने की कोशिश करती हूँ कि किस प्रकार जाति और लिंग पर विभिन्न किरदारों द्वारा अपने-अपने ख़ास और कई बार एकीकृत साझी समझ से अभिलेखागार की हमारी बंधी-बधाई समझ में दरार आ सकती है। इससे जाति का लैंगिक इतिहास और लिंग का जातिगत इतिहास रचने, और उसे चुनौती देने, की एक ज़्यादा मुकम्मल विधि और समझ विकसित होने का नया रास्ता उभर सकता है।

भारतीय उपमहाद्वीप में इतिहास लेखन की परंपरा में स्त्री और स्त्री मुद्दों की उपेक्षा रही है। आप क्या सोचती हैं इस दिशा में? लैंगिक अध्ययन के जरिए क्या भारतीय उपमहाद्वीप के स्त्रीवादी अध्ययन और दृष्टिकोण को ज्यादा सैद्धांतिक रूप से व्याख्यायित किया जा सकेगा?

"इतिहास लेखन में स्त्री और स्त्री मुद्दों की अपेक्षा के कई ज्वलंत उदाहरण हैं। जैसे, औपनिवेशिक काल और उसके बाद, विशेषकर उत्तर भारत में, साम्प्रदायिकता पर भारतीय इतिहासकारों और विचारकों नें गहन अध्ययन किया है। कुछ इतिहासकारों की मान्यता है कि साम्प्रदायिकता मुख्यतः औपनिवेशिक काल में वजूद में आई, जबकि कुछ कहते हैं कि औपनिवेशिक काल और उसके पहले के समय में एक निरंतरता है। कुछ अन्य इतिहासकारों ने रेखांकित किया है कि चाहे हिंदू हो या मुस्लिम, साम्प्रदायिकता की अभिव्यक्ति में शिखर की राजनीति या देशी-अभिजातों की बड़ी भूमिका रही है। कुछ इतिहासकारों ने सार्वजनिक स्थलों पर धार्मिक गतिविधियों, कर्मकांडी समारोहों और दंगों और हिंसा के तांडव में सामूहिक भागेदारी की ओर हमारा ध्यान दिलाया है। इस प्रकार के कई विमर्श सामने आए तो

आशिष नंदी, रोमिला थापर, चारु गुप्ता

हैं, पर लगभग ये सभी या तो महिलाओं के सवाल पर मूक हैं, या उसके प्रति खासे असंवेदनशील। इसका नतीजा यह है कि कई बातें अँधेरे में रह गयी हैं। साथ ही इससे हमें उपनिवेशवाद और साम्प्रदायिकता दोनों की ही एक अधूरी और शायद बिगड़ी तस्वीर मिलती है।

मेरी यह भी राय है कि साम्प्रदायिकता के अधिकतर इतिहास लेखन में हिंसक घटनाओं और दंगों पर ज्यादा ध्यान दिया गया है जिनमें प्रायः महिलाएँ मुख्य किरदार नहीं होती हैं। स्त्री और साम्प्रदायिकता के अन्तर्सम्बन्धों पर ध्यान दिया भी गया है तो वह मुख्यतः विभाजन और हिंदू संकीर्णतावादी ताकतों के तात्कालिक और आज के एजेंडे के सन्दर्भ में हैं। ये अध्ययन बेहद समृद्ध, सार्थक और गहराई वाले हैं, पर इनका केन्द्र बिंदु भी हिंसा, महिलाओं की बड़ी पैमाने पर बरामदगी, सांप्रदायिक उभार में उनकी भागेदारी या उनका उत्पीडन है। इनमें कुछ पहलु छूट गए हैं, और साथ ही 1940 के पहले के दौर में महिला और साम्प्रदायिकता के अन्तर्सम्बन्धों पर कम सामग्री है।

मेरा यह मानना है कि हमें केवल दंगों पर ही अपना सारा ध्यान धरने की ज़रूरत नही है। उसकी जगह हम यह भी देखें कि घर और परिवार के रोज़मर्रा की दुनिया और सामाजिक, सार्वजनिक और धार्मिक क्षेत्रों के दैनंदिन व्यवहारों में क्या घटित हो रहा था। मैं यह रेखांकित करना चाहती हूँ कि विशेषकर औपनिवेशिक भारत में महिला और साम्प्रदायिक राजनीति के चोली-दामन रिश्ते की समझदारी के लिए हम सामूहिक हिंसा और दंगों की उत्कृष्ट घड़ियों पर ध्यान लगाने के अलावा महिला के प्रिज़्म का इस्तिमाल करके रोज़मर्रा की जिंदगी और उसके रिश्तों के बीच साम्प्रदायिकता के विकास, और उसके विरोध, की खोज करें। औपनिवेशिक उत्तर भारत में हिंदू प्रचारकों के ज़्यादातर विमर्श हमारी दैनंदिनी के साथ जुड़े हुए थे और वे किसी समुदाय की अभिव्यक्ति, आक्रामकता और द्वंद्वके महत्वपूर्ण संकेतक थे। महत्वपूर्ण बात यह भी है कि इसी रोज़मर्रा की जिंदगी के बीच से हिंदू संकीर्णतावादी सोच के विरोध के स्वर भी उभरे। मैं यह मानती हूँ की स्त्रियों, याकि लिंग, पर ध्यान धरके हम औपनिवेशिक उत्तर भारत में हिंदू समुदाय की पहचान के निर्माण का एक अलग मैदान देख पाएंगे; या कम से कम अपने परिचित, पुराने मैदान को ही थोडा अलग तरीके से समझ पाएंगे। इस प्रकार हम सांप्रदायिक ज़ोर-आजमाइशों की जटिलताओं, और हिंदू पितृसत्ता के चरित्र की बुनावट को भी बेहतर समझ पाएंगे।

आपके अध्ययन में भाषाई स्त्रोतों का क्या महत्त्व रहा है?

"अभिलेखागार स्त्रोतों के मौन और अनदेखी के बीच साहित्य की क्या भूमिका हो सकती है और उससे स्त्रियों की आवाज़ कैसे सामने आ सकती है?हाल तक लिंग, संस्कृति और साहित्य इतिहास लेखन के हाशिए पर थे। लेकिन अपने विभिन्न शोधों में मैंने पाया है कि किस प्रकार आधुनिक औपनिवेशिक काल के उत्तर भारत में औरतों की ऐतिहासिक पहचान खोजने के लिए भाषाई स्त्रोत और लोकप्रिय हिंदी साहित्य का विशेष महत्व है, जो औरतों की रोज़मर्रा की जिंदगी, उपदेशात्मक संहितायों, लोकप्रिय पठन-पाठन की आदतों, धार्मिक जातीय पहचान आदि के इर्द गिर्द रचा गया। अन्य स्त्रोतों के अभाव में जन और लोकप्रिय साहित्य और अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। खासकर एक लैंगिक इतिहास के बरक्स इस प्रकार के स्त्रोतों की भूमिका और मज़बूत हो जाती है। लोकप्रिय साहित्य ने कई प्रकार से औरतों की अनसुनी और दबी आवाजों को उभारा है। इसने इतिहासकारों को एक रास्ता दिया है कि कैसे औरतों की मुखर शान्ति को पहचाना जाए और उनको स्वर दिया जाए। औपनिवेशिक उत्तर भारत में रचा गया प्रिंट, स्त्री की घरेलू स्पेस और घर के ताने-बाने को नए तरीके से हमारे सामने रखता है। लोकप्रिय प्रिंट साहित्य ने इस विचार को डग-मग किया कि औरत की निजी जगह केवल व्यक्तिगत और निजी है और यह पुरुष की सार्वजनिक जगह से कमतर है। इस साहित्य ने हमें वो 'अनाधिकारिक स्त्रोत' दिए हैं जिससे हम अनसुनी आवाजों को बाहर निकाल पाए हैं और उन्हें गहरायी से समझ पाए हैं।

लैंगिक नज़रिये से इतिहास लिखने के लिए भाषाई स्त्रोतों के अलावा क्या आप किसी और मुख्य मुद्दे पर ध्यान आकर्षित करना चाहेंगी, जैसे हमें अपने अभिलेखागार को किस तरह देखना होगा?

"एक स्त्रीवादी नज़रिए से इतिहास लिखने की कोशिश में मैं हमेशा इस सवाल से जूझती हूँ: अपने अभिलेखागारों और इतिहास में कैसे ढूंढे हम स्त्रियों की आवाज़?कैसे खोजें हम उन बिगुली, धारा से अलग, दबे-छिपे इतिहासों को जिसके लिए इतिहास के संकुचित दायरे से निकलने की ज़रूरत है? स्त्रियों की आवाज़ और ऐतिहासिक पहचान के लिय ज़रुरी है अभिलेखागार के स्त्रोतों का विस्तार और विकेंद्रीकरण, उन चीज़ों को एतिहासिक शोध में शामिल करना जो अभी तक नज़रंदाज़ या नज़र से पार रही हैं। इतिहास विषय के अनुशासनिक ढांचे में 'प्रमाण' और उसकी वैधानिकता वैध रिकार्डों के ज़रिये बेहद बुनियादी रही है। पर कई लेखकों, विचारकों, इतिहासकारों, विशेषकर नारीवादी इतिहासकारों नें पुरज़ोर कोशिश की है कि साहित्यिक झलकियाँ, यादगारी, कथा-कहानी, व्यक्तिगत भावनाओं के प्रतिनिधिकरण को भी 'वैध/विश्वसनीय' इतिहास माना जाए। स्त्रीवादी इतिहासकारों ने नई आँखों से पुराने सन्दर्भों की व्याख्या की है। स्त्रियों की पहचान दर्ज करने के लिए हमें लगातार ये सवाल भी रखना होगा कि क्या एक तथाकथित 'खाली' अभिलेखागार भी 'भरा' हो सकता है?जैसा कि स्वाभाविक है, इससे इतिहास को समझने-परखने के लिए समस्याओं की पोटली खुल गई है क्यूंकि यह प्रचलित, प्रभुत्वशाली इतिहास लेखन विधा को बदलता है और हमारे अभिलेखागारी स्त्रोतों की तथाकथित 'शुद्धि' को 'अशुद्ध' करता है।

स्त्री द्वारा या स्त्री नज़रिए से इतिहास लेखन से किस प्रकार के नए मुद्दे उभरकर आते हैं?

"स्त्री नज़रिए से इतिहास लेखन से कई मुद्दे नए प्रकार से सामने आते हैं। जैसेकि यौनिकता और अश्लीलता का सवाल। औपनिवेशिक उत्तर भारत में प्रिंट संस्कृति और हिंदी साहित्य के विकास के संदर्भ में हम अश्लीलता को लेकर एक गहरी बहस देखते हैं। हिंदी प्रिंट संस्कृति और नए साहित्यिक मिज़ाज के विकास के साथ-साथ हम ब्रिटिश और हिंदू मध्य वर्ग के एक तबके में एक प्रकार की नैतिक घबराहट देखते हैं। यौनिकता और अश्लीलता के संदर्भ में तर्क दिया जाता है कि आधुनिक जीवन के परिक्षेत्र में पुलिसिया पहरे बैठाने और उसका नियमन करने में वृद्धि हुई और एक लैंगिक नैतिकता उभरी। भारत में अश्लीलता को लेकर सबसे शुरुआती कानून उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशकों में सामने आए। भारतीय दंड संहिता की धारा 292, 293 और 294 को खासतौर से किसी भी प्रकार की अश्लीलता का

निषेध करने के लिए संहिताबद्ध किया गया था। लेकिन विभिन्न नियमों, नियंत्रणों और संधियों के बावजूद 'अश्लीलता' शब्द आज तक भी अस्पष्ट ही बना हुआ है। उदाहरण के लिए इसे न केवल 'पोर्नोग्राफ़ी' पर हमला बोलने के लिए इस्तेमाल किया जाता है, बल्कि उन्नीसवीं सदी मे इसे जन्म दर पर अंकुश लगाने के लिए छपने वाले प्रकाशनों को ग़ैरक़ानूनी घोषित करने के लिए भी इस्तेमाल किया जाता था।

मैं हिन्दी साहित्य का उदाहरण लेकर अपनी बात आगे बढ़ाती हूँ। हिन्दी साहित्य की एक धारा को सभ्यता और राष्ट्र के साथ संबद्ध कर दिया गया। भाषा के मानकीकरण के साथ-साथ साहित्य में अश्लीलता के लेशमात्र संकेत पर भी हमला बोला गया। ऐसे तत्वों को एक पतनशील और असभ्य संस्कृति की निशानी माना जाने लगा। यौन एवं शारीरिक आनंद के प्रति भय बढ़ने लगा। अतीत की 'असुविधाजनक' परम्पराओं से एक सोची-समझी दूरी रखी जाने लगी और एक एकांगी, उच्च, लिखित, सांस्कृतिक नियमावली स्थापित करने का प्रयास किया जाने लगा। सौंदर्य के नए प्रतिमानों से युक्त एक नवीन और 'उचित' हिन्दी साहित्य की चाह में, विशेष रूप से उत्तर मध्यकालीन साहित्य में चित्रित स्त्री की छवि को सार्वजनिक उपभोग के लिए अनुचित घोषित कर दिया गया। अधिकाँश उच्च हिन्दी साहित्य में मध्यकालीन कविता की कामुक और यौन रूप से सक्रिय नायिका और राधा की जगह एक शुचि और सच्चरित्र हिंदू पत्नी और मां की छवि पर ज़ोर बढ़ने लगा। कामुक के स्थान पर सच्चरित्रता की दिशा में हुए इस बदलाव ने लैंगिक छवियों को आमूल रूप से बदल डाला और अधिकांश 'उच्च' साहित्य में स्त्री की कामुकता, यौनिकता और मौज-मस्ती वाली छवि के स्थान पर एक शास्त्रीय और सौम्य छवि दिखाई देने लगी। साहित्य में नैतिक संहिता की वकालत एक राष्ट्रीय प्रतिमान बन गया।

मैं हिन्दी साहित्य का उदाहरण लेकर अपनी बात आगे बढ़ाती हूँ। हिन्दी साहित्य की एक धारा को सभ्यता और राष्ट्र के साथ संबद्ध कर दिया गया। भाषा के मानकीकरण के साथ-साथ साहित्य में अश्लीलता के लेशमात्र संकेत पर भी हमला बोला गया। ऐसे तत्वों को एक पतनशील और असभ्य संस्कृति की निशानी माना जाने लगा। यौन एवं शारीरिक आनंद के प्रति भय बढ़ने लगा। अतीत की 'असुविधाजनक' परम्पराओं से एक सोची-समझी दूरी रखी जाने लगी और एक एकांगी, उच्च, लिखित, सांस्कृतिक नियमावली स्थापित करने का प्रयास किया जाने लगा।

श्रृंगार रस की कविता पर सबसे गंभीर हमला हिन्दी लेखकों के एक प्रभावशाली तबके की तरफ़ से बोला गया। उन्होंने इस कविता को स्त्री के शरीर पर केंद्रित अश्लीलता का दोषी क़रार दिया। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने नायिका-भेद के बारे में लिखा:

हिन्दी के समान बंगाली, मराठी, और गुजराती भाषाएँ भी संस्कृत से निकली है, परंतु इन भाषाओं में नायिका का कही भी इतना साम्राज्य नहीं जितना हिन्दी में है।... अब देखिए इस प्रकार की पुस्तकों में लिखा क्या रहता है। लिखा रहता है परकीया (पर स्त्री) और वेश्याओं की चेष्टा और उनके कलुषित कृत्यों के लक्षण और उदाहरण! परकीया के अन्तर्गत अविवाहित कन्याओं के पापाचरण की कथा!! पुरुषमात्र में पितृबुद्धि रखने वाली कुलटा स्त्रियों के निर्लज्ज और निरर्गल प्रलाप!!! सदाचरण का सत्यानाश करने के लिए क्या इससे भी बढ़कर कोई शक्ति हो सकती है।... हमारी स्वल्प बुद्धि के अनुसार इस प्रकार की पुस्तकों का बनना शीघ्र ही बन्द हो जाना चाहिए, और यही नहीं, किन्तु आज तक ऐसी-ऐसी जितनी इस विषय की दूषित पुस्तकें बनी हैं, उनका वितरण होना भी बन्द हो जाना चाहिए।

इस दौर के सबसे प्रसिद्ध कवि मैथिलीशरण गुप्त, जिन्हें 'राष्ट्र कवि' की ख्याति प्राप्त है, ने अपनी प्रख्यात रचना भारत भारती में विलाप करते हुए कहा:

जिस जाति का साहित्य था स्वर्गीय भावों से भरा,
करने लगा अब बस विषय के विष-विटप को वह हरा!
श्रुति, शास्त्र, सूत्र, पुराण, रामायण, महाभारत हटे,
वे नायिकाभेदादि उनके स्थान में है आ डटे।....
हा! उच्च भावों को वही क्रम आज भी है खो रहा,
अश्लील ग्रंथों से हमारा शील चौपट हो रहा!

बहुत सारे साहित्यिक लेखकों ने विशेष रूप से स्त्रियों की यौन पहचानों को नियंत्रित करने के लिए अश्लीलता को पुनर्परिभाषित करने का प्रयास किया। अश्लीलता पर केंद्रित बहस 'आनंद और मनोरंजन के लिए सेक्स' बनाम 'प्रजनन के लिए सेक्स' के विचारों से भी जुड़ी थी। राष्ट्र संबंधी विमर्श में ग़ैर-प्रजननकारी और भोगवादी यौन रुचियों पर भारी नकारात्मक दबाव पड़ने लगे जिसके फलस्वरूप सभी ग़ैर-प्रजननोन्मुखी यौनिकताओं को लगभग हाशिए पर धकेल दिया गया। इस प्रक्रिया में राधा की छवि का क्या हुआ?वह नियामक, मानक कविता से लगभग पूरी तरह ग़ायब हो गई, या अतुलनीय आनंद के स्थान पर एक अतुलनीय बोरियत का बायस बन गयी। एक मूलतः सौंदर्यात्मक दृष्टि से देखें तो स्त्री की छवि विशुद्धतः नैतिक बन गई। कामशीलता, उन्माद, और इन्द्रिय हलचल की जगह सामाजिक चरित्रहीनता, सुधार, सुचरित और नैतिकता की बातें आ गई। गद्य और पद्य में एक नया उद्देश्य पैदा हो गया। बाल विवाह और वैधव्य की कारुणिकता, मातृत्व का महिमामण्डन, और देश सेवा पर बार-बार ज़ोर दिया जाने लगा, जिसके पीछे आर्य समाज के प्रभाव का भी हाथ था। तमाम दबावों को झेलते हुए भी स्वयं को ईश्वर और पति के चरणों में समर्पित करने के लिए उद्धत गुणशील स्त्री हिंदू राष्ट्र की सांस्कृतिक प्रामाणिकता और संपूर्णता की नई वाहक बन गई।

मगर हिन्दी साहित्य की नियमावली पूरी तरह स्पष्ट नही थी। साहित्यिक उत्पादन के पीछे भांति-भांति की अपेक्षाओं, प्रेरणाओं और संदर्भों का हाथ था। मुद्रण के विकास ने अश्लील सामग्री को एक माल के रूप में बड़े पैमाने पर उपलब्ध करा दिया और कामुक उपभोक्तावाद हिंदी के प्रकाशन जगत में आए भारी उछाल का हिस्सा बन गया। जो चीज़ वाक़ई बाज़ार में बिक रही थी और जिससे मुनाफ़ा हो रहा था वह नाना प्रकार की सेक्स टीकाएं, रोमांस और गीत ही थे। पुरानी शैलियां जैसे ब्रजभाषा के कामुक गीत, किस्से, नौटंकियां और संगीत बड़े पैमाने पर छपते और बिकते थे। रोमांटिक नहवेल और थ्रिलर जैसी नई व्यावसायिक विधाओं ने न केवल मनोरंजन उपलब्ध कराया बल्कि ऐसे विषयों को भी उठाया जिनके बारे में तमाम तरह के पूर्वग्रह थे। यौन टीकाओं ने एक 'वैज्ञानिक' लबादा तो ओढ़ लिया मगर साथ ही वे यौन उत्तेजना और गुदगुदी भी पैदा करते थे। यह साहित्य हाशिए पर नहीं बल्कि एक उभरती उपसंस्कृति के केंद्र में था। ऐसी किताबों में पितृसत्तात्मक और नैतिकतावादी विचारों को आंशिक रूप से पुनर्निर्मित किया गया और आंशिक रूप से उनका विरोध किया गया।

आपने औपनिवेशिक भारत में स्त्री शिक्षा को लेकर विस्तृत काम किया है। औपनिवेशिक भारत में स्त्री शिक्षा किस भाषा, किस तर्क या किस बोली में अभिव्यक्त की गयी?

"औपनिवेशिक उत्तर भारत में हिंदू नवजागरण सुधारकों और विचारकों के लिए स्त्री शिक्षा का सवाल प्रमुख था। लेकिन उसकी भाषा में कई समस्याएँ थीं। बेहतर पत्नी और माँ के निर्माण में मदद करने के लिए स्त्री शिक्षा एक मध्यवर्गीय हिंदू पहचान और सभ्यता निर्मित करने वाले एक नैतिक कर्म के रूप में सामने आई। स्त्री शिक्षा एक राष्ट्रीय निवेश था, जिसका मकसद उन्हें एक अच्छी गृहणी और अपने विवाहित जीवन में एक उत्तम और ज्ञानवान सहचरी बनाना था। मध्यवर्गीय हिन्दू अस्मिता और सभ्यता के लिए स्त्री शिक्षा एक नैतिक अनिवार्यता बनती जा रही थी। स्त्रियों को विवाह संबंधों में एक अनुकूल और प्रबुद्ध संगिनी की भूमिका निभाने पर जोर दिया जा रहा था जिसके लिए थोडी शिक्षा अनिवार्य मानी गयी। राष्ट्रीय आंदोलन में भी उनकी और अधिक सक्रिय

भूमिका के लिए शिक्षा ज़रुरी थी। यह माना गया कि हिंदू परिवार की खुशियाँ तभी बढ़ेंगी जब स्त्रियां थोड़ी शिक्षित होंगीं। लेकिन साथ ही अधिक पढ़ी लिखी स्त्रियों की सकारात्मक भूमिका पर भी ऊँगली उठाई जाने लगी। पारिवारिक और सामाजिक खामियों के लिए मुख्य रूप से स्त्रियों को दोषी माना जा रहा था। उत्तर भारत के हिन्दुओं की कोशिश थी कि महिला शिक्षा की एक ऐसी प्रणाली विकसित की जाए जिसमें पूर्वी और पश्चिमी संस्कृतियों का सहज समन्वय हो। वे चाहते थे कि आदर्श, पारम्परिक और आर्य स्त्रियों को आधुनिकता, सभ्यता और पश्चिमी ज्ञान से भी कुछ हद तक लैस किया जाए। लेकिन इस तरह के तर्कों में एक महत्वपूर्ण अन्तर्विरोध छुपा हुआ था। एक छोर पर था, भारतीय स्त्रीत्व का पारम्परिक आदर्श और दूसरे छोर पर था, शिक्षा का आधुनिक आदर्श, और इनका समन्वय कर पाना सुधारकों के लिए कठिन था।

हिन्दुओं को निरंतर यह चिन्ता सता रही थी कि स्त्रियाँ शिक्षित होते ही, विशेषकर अंग्रेजी शिक्षा पाते ही, पश्चिमी जीवन शैली का अनुकरण करने लगती हैं। सुधारवादियों को यह खतरा भी लगातार लग रहा था कि अधिक शिक्षा पाने पर महिलाएं अपने घर के चैन, पति के सुख और बच्चों को तिलांजलि दे देंगी। चाँद कार्यालय ने अपने विभिन्न प्रकाशनों में और एक कार्टून संकलन में इस विषय पर कई कार्टून छापे। एक कार्टून में दिखाया गया कि एक शिक्षित महिला अपने पति पर गुस्सा हो रही है। वो कुर्सी पर बैठी है और पति चाय लेकर खड़ा है। एक अन्य कार्टून में शिक्षित पत्नी टेबल पर बैठ भाषण लिख रही है और पति बच्चे को खड़े होकर सुला रहा है। स्पष्ट था की सुधारकों के अनुसार महिला शिक्षा एक सीमा में ही होनी चाहिए और महिलाओं को अपने घर का सारा काम स्वयं करना चाहिए। शिक्षा का अर्थ यह नहीं है कि पति चाय पिलाये या बच्चे को देखे!

इसके साथ साथ प्राचीन भारत को ऐसे युग के रूप में चित्रित किया गया जिसमें शिक्षित स्त्रियों की भरमार थी। इसी मॉडल को अंगीकार करने की बात बराबर कही जा रही थी। अनेक स्तरों पर, जैसे कथा कहानियों, निबंधों और उपदेशात्मक आख्यानों में, शिक्षित स्त्री पर आदर्शवादी हिन्दू पत्नी, और पश्चिमी चाल ढ़ाल में ढ़ली अंग्रेजी पढ़ी हुई स्त्री पर धार्मिक शिक्षा पाई स्त्री विजयी बन कर उभर रही थी। इस बात पर जोर दिया गया कि महिलाओं के लिए सबसे महत्वपूर्ण धार्मिक और नैतिक शिक्षा है, इसमें भी विशेषकर महाभारत, रामायण और मनुस्मृति को अनिवार्य रूप से शामिल किया गया।

लेकिन क्या यहाँ पर हम अपनी बात समाप्त कर सकते हैं?क्या यहाँ पर विराम लगाने का अर्थ यह नहीं है कि हम केवल स्त्री शिक्षा के नकारात्मक पहलुओं की ओर देख रहे हैं?क्या शिक्षा का उपयोग महिलाओं के लिय केवल यही था कि वे एक पतिव्रता स्त्री, सुघड़ गृहणी और समझदार माँ बनकर ही सामने आयें? क्या शिक्षा का मुख्य परिणाम यह हुआ कि महिलाओं पर अंकुश बना रहा और उन्हें दोयम

एक कार्टून में दिखाया गया कि एक शिक्षित महिला अपने पति पर गुस्सा हो रही है। वो कुर्सी पर बैठी है और पति चाय लेकर खड़ा है। एक अन्य कार्टून में शिक्षित पत्नी टेबल पर बैठ भाषण लिख रही है और पति बच्चे को खड़े होकर सुला रहा है।

दर्जे की भूमिका से ही संतोष करना पड़ा?ऐसा करने से हम केवल शिक्षा की सीमाओं पर ही प्रकाश डाल पाएंगे। शिक्षा के क्षेत्र में स्त्रियों के लिए सिमित अवसरों और शिक्षा की प्रभुत्वकारी भूमिका पर बात करना काफी नहीं है। स्त्री शिक्षा पर किया जाने वाला कोई भी अध्ययन तब तक सम्पूर्ण नही माना जा सकता जब तक औपचारिक तौर पर उपलब्ध साहित्य ओर लिखे-छपे पाठों से आगे बढ़ कर न देखा जाए। साथ ही यह देखना आवश्यक है कि स्त्रियों नें उन्हें दी जाने वाली शिक्षा का क्या किया।

गौर तलब है कि बनारस की कुछ उच्च्वर्णी विधवा स्त्रियों ने शिक्षा के हथियारों से लैस होकर वैधव्य की पारंपरिक छवियों का खंडन-मंडन किया और कड़ी पाबंदियों के बीच भी कुछ फेरबदल करके अपने लिए अनुकूल माहौल बनाने का प्रयास किया। अनेक विद्वानों ने दिखाया है कि बीसवीं शताब्दी के शुरूआती दौर में उत्तर भारत में कैसे अनेक मध्यवर्गीय हिन्दू स्त्रियाँ प्रकाशित होने वाले साहित्य में भागीदारी करने लगी थीं और उनकी अलग पहचान भी उभरने लगी थी। स्त्रियों की अपनी पत्रिकाएँ, प्रेस और लेखिकाएँ थीं। कई मध्यवर्गीय हिंदू महिलाऐं सार्वजनिक क्षेत्र में अपनी पृथक पहचान बनाने लगी थीं और उनके द्वारा प्रयोग की जाने वाली भाषा और विचारों पर भृकुटियाँ भी तनने लगी थीं।

एक अन्य महत्वपूर्ण बात यह है कि औपनिवेशिक उत्तर भारत में शिक्षित महिलाओं के पढ़ने की आदतें कुछ और ही संकेत करती हैं। आप ठोक-पीटकर सिलिबस बना सकते थे, पर एक बार शिक्षित हुई महिला के लिए 'क्या पढ़ेगी, क्या नहीं पढ़ेगी' का बंधन लगाये रखना, और वो पढ़कर अपने ज्ञान का क्या इस्तेमाल करेगी, इसे तय करना बेहद मुश्किल था। शिक्षा प्रायः सार्वजनिक क्षेत्रों में होती थी, पर स्त्रियों का पढ़ना प्रायः एक निजी कर्म था, जिसमें उन्हें अपने चुनाव की काफी आज़ादी मिलती थी। स्त्रियों को आखिर कुछ खास पढ़ने या कुछ भी पढ़ने से कैसे रोका जाता! वो मज़े ले-लेकर कामुक कथाएँ, जासूसी उपन्यास, प्रेम कहानियां, नाटक, स्वांग, नौटंकियां, और गाने की किताबें भी पढ़ रही थीं। ये मुख्यतः वही चीज़ें थीं जिन्हें हिंदू सुधारवादी स्त्रियों से दूर रखना चाहते थे।

सार संक्षेप में औपनिवेशिक उत्तर भारत में हिंदू स्त्री शिक्षा ने पवित्रता और आदर्श स्त्री की नई-नई भूमिकाएं और मूर्तियां बनायीं, पर यह भी सच है की इस सबके बीच स्त्रियाँ भी अपनी जगह बना रही थी। हिंदू स्त्रियों को किस प्रकार की शिक्षा दी जानी चाहिए, उसकी दुनिया तंग थी, पर बदन की तंग कमीज़ की तरह उसकी सिलाईयाँ उखड़ रही थीं।

आपने अपनी पुस्तक स्त्रीत्व से हिन्दुत्व तक में विधवा विवाह पर विस्तार से चिंतन किया है। औपनिवेशिक उत्तर भारत में हिन्दू प्रचारकों द्वारा विधवा विवाह पर बदलते विमर्श पर आपके क्या विचार हैं?

"इस काल में विधवा विवाह एक ऐसा मुद्दा था जिसको लेकर तीखा विवाद हुआ। अधिकतर सुधारक अंशतः इसका समर्थन करते थे। यह सच है कि ज़्यादातर सुधारकों की विधवाओं, खासकर बाल विधवाओं, के प्रति विशेष सहानभूति थी। वे मुख्यतः मानवता के तकाजों से विधवा विवाह का समर्थन करते थे। लेकिन इसके पीछे विधवाओं की यौनिकता को लेकर भय और इसे नियंत्रित करने का आग्रह भी था। विधवाओं की यौनिकता तथा संतानोत्पत्ति की क्षमता हिन्दू पितृसत्तात्मक व्यवस्था के लिए खतरे के तौर पर देखी जाती थी। इसमें विडंबना यह थी कि पति के जीवनकाल में किसी स्त्री से सबसे ज्यादा जिस गुण की अपेक्षा थी, वही पति की मृत्यु के बाद समाज के लिए सबसे असहनीय खतरे के तौर पर देखा जाता था। घरेलू व्यवस्था और पतिव्रता की पहचान से अलग विधवाएं एक आसन्न खतरा थीं और आकर्षण का एक स्त्रोत भी।

सुधारवादियों के तर्कों में समय और स्थितियों के साथ बदलाव आया। विशेषकर उत्तर भारत में 1920 के बाद के दौर में आर्य समाज द्वारा शुरू किये गए संगठन और शुद्धि आंदोलनों की पृष्ठभूमि में हिंदू प्रचारकों ने सांप्रदायिक पहचान और उसकी सीमा रेखा तेज करने के लिए विधवाओं की देह का कई प्रकार से इस्तेमाल किया। विधवाओं की जननीय

क्रियाओं को हिंदुओं की तथाकथित घटती आबादी को लेकर पैदा की गयी चिंताओं के साथ जोड़ा गया, और इसके साथ-साथ कथित 'दूसरे' मुस्लिम पुरुष को बलात्कारी और अपहरण करनेवाला चित्रित किया गया। इस बात का व्यापक प्रचार किया जाने लगा कि हिन्दू विधवाएं मुस्लिम धर्म को अपना रही हैं और ज्यादा से ज्यादा बच्चे पैदा कर मुस्लिम संख्या को बढ़ा रही हैं। उदाहरण के लिए एक आर्य समाजी पुस्तक ने लिखाः 'प्रतिवर्ष ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों की विधवा ईसाई और मुसलमानों को प्राप्त होकर हिंदू जाति की संख्या को कम रही हैं'। हिंदू प्रचारकों ने विधवा स्त्रियों को इस सन्दर्भ में कई कड़ी हिदायतें दीं:

विधवाओं को ईसाई मुसलमानों के पड़ोस में नहीं रहना चाहिए।... मुस्लिम आदमियों से सावधान रहो, विशेषकर मनिहार, राज मजदूर, इक्के वाले, नौकर, बिसाती, कब्रों के पुजारी, अपने भाई आदि का मुसलमान दोस्त जो घर पर आता जाता हो, और तुम्हारे लड़कों या भाई आदि को जो मुसलमान मास्टर पढ़ाने आता हो। मुसलमान वकील मुख्तार, गांव के कारिन्दे और आम मुख्तार, मुहल्लों में फेरी लगाने वाले, मुसलमान डाक्टर, हकीम और गाडीवान- इनके ज़रिये से हजारों हिंदू विधवाएं भगाई जाती हैं। इसलिए होशियार!!

साथ ही यह बात कही जाने लगी कि हिंदू विधवाओं की जनन शक्तियों और कोख को अधिकाधिक हिंदू बच्चे पैदा करने के लिए इस्तेमाल किया जाना चाहिए ताकि हिन्दुओं कि घटती संख्या को थामा जा सके। इसीलिए कहा गयाः

हमारे हिंदू समाज का नैतिक ह्वास हो गया है, सबके लिए यह घोर कलियुग है।... हिंदू जाति की जिस अवस्था में विधवा-विवाह-निषेध का आदर्श रखा गया था और जिस अवस्था में यह आदर्श व्यावहारिक धर्म हो गया हिंदू-जाति की वह नैतिक अवस्था धन्य थी। उस समय समाज का नैतिक आचरण बहुत उच्च था। इसके सिवा विधवाओं की संख्या और अवस्था भी ऐसी नहीं थी। इस देश में केवल हिंदू-जाति थी, केवल हिंदू संस्कृति और हिंदू धर्म था। सबका उद्देश्य उच्च था। पर आज वह अवस्था नहीं है।... स्वयं हम विधवा-विवाह के विरोधी हैं।... हिंदू विधवाओं का विवाह करना पड़े इससे बढ़कर दुःख की बात नहीं हो सकती है। हिंदू समाज के नैतिक ह्रास का यह पक्का सबूत है। पर हिंदू-विधवाओं का मुसलमानों का सहवास स्वीकार करना ऐसी निंदक बात है जिसके सामने विधवा-विवाह बहुत अच्छा है।

इन्हीं बातों के मद्देनज़र हिन्दू विधवाओं के पुनर्विवाह के विमर्श में एक अप्रकट सूक्ष्म बदलाव और समानांतर विमर्श देखने में आया, हालाँकि इस दौरान हिन्दू विधवाओं की सामाजिक दशा में कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हुआ। जहाँ विधवाओं की यौनिकता निशाने पर थी, वहीं हिन्दू समुदाय की पहचान पुनः स्थापित करने के उग्र तेवरों ने इस मुद्दे का अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए इस्तेमाल किया। एक तरफ़ विधवा यौनिकता और जनन शक्ति पर

इरफान हबीब के साथ

अंकुश लगाने की बात कही जा रही थी तो साथ में ही इसको समर्थन भी प्रदान किया जा रहा था। इसलिए हिन्दू विधवाओं की बहुआलोचित दैहिक भूख तथा संतानोत्पत्ति की क्षमता ने किसी न किसी रूप में उनके महत्व, उपस्थिति तथा हिन्दू पहचान स्थापित करने की उपयोगिता का भान कराया।

अंत में, क्या एक दलित लैंगिक दृष्टिकोण हमें एक वैकल्पिक लैंगिक अभिलेखागार निर्मित करने में मदद कर सकता है?

"मैं एक उदाहरण के साथ इसका उत्तर देना चाहूंगी। मेरे काम के एक हिस्से में मैंने दलित स्त्री के वीरांगना रूप का भी विश्लेषण किया है। इस सन्दर्भ में मैंने 1857 के विद्रोह को एक दलित स्त्रीवादी नज़रिए से देखने की कोशिश की है। आज़ादी के बाद के भारत में, खासकर पिछले तीन दशकों के भारत में, जब उत्तरी भारत में दलित आंदोलनों की अंगडाई आई है- 1857 पर हिंदी में कई लोकप्रिय दलित प्रकाशन सामने आए हैं जो दलित स्त्रियों की अलग तस्वीर हमारे सामने रखते हैं। इस प्रकार के साहित्य में एक संगम है- इतिहास, मिथक और अतीत की पुनर्व्याख्या का। ये प्रकाशन चेतना की गहरी तह से तरतीब में आए इतिहास हैं जो विद्रोह के अनजाने नायकों को नायकत्व देते हैं। मुख्य बात हमारे लिए यहाँ ये है कि दलित नज़रिए से 1857 एक दलित स्त्री केंद्रित मंच बनकर उभरता है जिसकी नायक झलकारी बाई, उदा देवी और महाबीरी देवी हैं। यहाँ दलित स्त्रियों की छवि ऊपर चर्चित 'कुलटा' या 'पीड़िता' से एकदम विपरीत है। यहाँ वे दलित वीरांगनाओं का रूप लेती हैं। वो हमारी प्रशंसा की पात्र और चरित्र बन जाती हैं। लेकिन साथ ही यहाँ पर दुहरी, द्वंद्वात्मक आवाजें हैं- पितृसत्ता में सेंध लगते हुए और उसके साथ हाथ मिलाते हुए।

ये दलित औरतें एक सुपर चरित्र हैं जो काफी साहसी और तेजस्वी राष्ट्रवादी होने के साथ साथ एक आदर्श नारी के रूप में भी उभरती हैं। इन अधिकतर दलित वीरांगनाओं का चित्रण पितृसत्तात्मक मूल्यों पर अपनी मुहर लगते हुए नीतिपरक और उपदेशपरक नज़र आता है जहाँ वे एक आज्ञाकारी बेटी हैं, वफादार पत्नी हैं, आदर्श माँ हैं। वो नैतिक रूप से एक 'पवित्र' स्त्री हैं जिनके व्यक्तित्व और कृतित्व से कुछ वर्चस्व के मूल्य दुबारा-तिबारा दुहराए जाते हैं। एक दलित नारीवादी नज़रिए से काफी हद तक यह कहा जा सकता है कि यह लोकप्रिय दलित साहित्य एक रूपाकार या रैडिकल परिवर्तन नहीं है; यह रूप पर रंग-रोगन का अंतर है।

लेकिन दूसरी ओर यह दलित विरांगनाएं दलित स्त्रियों के सन्दर्भ में एक अलग नजरिया भी सामने लाती हैं। यहाँ नैतिकता का अर्थ एकदम दूसरा है, क्यूंकि इस प्रकार के साहित्य से सम्मान और विश्वसनीयता हासिल करने की कोशिश भी साफ़ झलकती है। इनका चित्रण दलित स्त्री की प्रचलित तस्वीर को तार-तार करता है। कई सीमाओं के बावजूद ये दलित वीरांगनाएँ अपने बल पर सक्रिय नायिकाएँ हैं। इस लोकप्रिय ऐतिहासक-मिथक या मिथक-इतिहास को अनिवार्यतः परिवर्तनकारी नहीं कहा जा सकता है पर यह एक वैकल्पिक और प्रतिरोधी आवाज़ तो है ही जो वर्चस्ववादी विचारधाराओं के साथ सहयोग और संघर्ष, दोनों का दोहरा जीवन जीती है। यहाँ एक सीधी-सरल 'नानी की कहानी' नहीं है। यहाँ है एक जटिल राग-विराग जो स्वीकार और अस्वीकार, 'कभी हाँ-कभी ना' की संकरी सीमायों के आर-पार होता रहता है। ये एक तीसरा स्पेस याकि एक ऐसा रंगमंच है जहाँ विद्रोह एक साथ बन और बदल रहा है और उसकी सीमायें विकसित और विस्फोटित हो रही हैं।●

परंपरा और आधुनिकता से जूझती उषा प्रियंवदा की स्त्रियां

डॉ मंजू कुमारी
manjoojnu@gmail.com

उषा प्रियंवदा नई कहानी आन्दोलन के उस दौर की रचनाकारों में से हैं जिन्होंने मध्यवर्गीय स्त्री जीवन में आने वाली रूढ़िवादी मान्यताओं के साथ-साथ समाज में स्त्री-पुरुष के बनते-बिगड़ते सम्बन्धों और स्त्री के अंतर्द्वंद्वों को बहुत ही सहजता और धैर्य के साथ अपनी कहानियों में परत-दर-परत खोलने का काम किया है, जो इन्हें अपने समकालीन कहानीकारों से अलग करता है। उषा प्रियंवदा ने अपने कथा-साहित्य में स्त्री जीवन की अनेक गतिविधियों को विषय बनाया है। इनकी कहानियों की मुख्य पात्र स्त्रियाँ ही हैं। मध्य वर्गीय भारतीय स्त्री जीवन ही इनकी कहानियों का आधार रहा है। यह कहना सही है कि उषा प्रियंवदा के कथा-साहित्य का दायरा सीमित है लेकिन जितनी सूक्ष्मता से लेखिका ने स्त्रियों के आंतरिक पटल तक पहुँचकर उसे अलग-अलग ढंग से खोलने का प्रयास किया है, वह सराहनीय है।

प्रेम और विवाह के सम्बन्ध में परंपरा और आधुनिकता में जूझती स्त्री की विवशता को दिखाया है। उषा प्रियंवदा स्त्री के अंतर्मन में प्रवेश करके उसके रहस्यलोक को उजागर करने वाली कहानीकार हैं। इन्होंने अपने समय की सामाजिक समस्याओं- प्रेम-विवाह, विवाहेतर सम्बन्ध, विवाह पूर्व सम्बन्ध, बेमेल-वैवाहिक सम्बन्ध जैसे बिन्दुओं पर विचार किया है। इनकी कहानियों के स्त्री पात्र परम्परा से विद्रोह तो करती हैं लेकिन परम्परा में निहित अच्छाइयों का वरण करती हुई भी नजर आती हैं।

इनकी कहानियों में केवल स्त्री-संसार का चित्रण होने पर भी ये सम्पूर्ण भारत की स्त्री समस्या को समेट नही पाती हैं। शहरी मध्यवर्ग तक सीमित होने के कारण इनकी कहानियों में व्यापकता नहीं आ पाती। लेकिन आज के समय और समाज में देखा जाय तो इनकी कहानियों के पात्र परंपरा और आधुनिकता के बीच जूझती मध्यवर्गीय स्त्रियों के माध्यम से मानो सम्पूर्ण भारतीय स्त्री की छवि को उजागर करती हुई नजर आती हैं। आज भी हमारे समाज में बहुत सी खोखली मान्यताएं मौजूद हैं जो स्त्री की राह में बाधक ही नहीं हैं वरन भारतीय समाज में कलंक के समान है, जिसकी तरफ उषा प्रियंवदा ने बहुत ही सहज भाव से संकेत किया है।

उषा प्रियंवदा की कहानियों में स्त्री जीवन में आने वाली विभिन्न 'स्थितियों' के प्रति बहुत ही सहज, शांत और मूक विद्रोह है। सम्पूर्ण कहानियों में कही भी ऐसा प्रसंग नही आता, जहाँ पर किसी पात्र के क्रोध या विद्रोह की भावना प्रखर रूप से उजागर हुई हो। उषा प्रियंवदा ने समाज में व्याप्त स्त्रियों की मनः स्थितियों को बहुत ही बारीकी से धैर्य और सहजता के साथ उजागर किया है।

उषा प्रियंवदा की नायिकाएं पढ़ी-लिखी और नौकरी-पेशा वाली हैं। वे प्रेम को अपने जीवन का सबसे महत्वपूर्ण अनुभव मानती हैं। जिसे पाने के लिए वे एक संघर्षशील स्त्री के रूप में सामने आती हैं। 1960–70 के दशक में एक स्त्री के द्वारा अपने प्रेम और अधिकार के लिए लड़ना और आवाज उठाना ही बहुत बड़ी बात थी। अपनी कहानियों के माध्यम से उषा प्रियंवदा ने समाज में नये मूल्यों और उसके संदर्भ को सामने लाने का प्रयास किया है लेकिन वह समाज में व्याप्त पुराने मूल्यों को पूरी तरह नकार भी नहीं पाती हैं। जिसकी वजह से 'आश्रिता' की मधु, 'मान और हठ' की अमृता, 'नयी कोपल' की बिन्नी, 'तूफान के बाद' की मन्नो, 'अकेली राह' की गौरी, 'बिखरे तिनके नया नीड़' की मणि समाज द्वारा निर्मित दायरे के अन्दर छटपटाती रहती हैं। उषा प्रियंवदा ने इन सभी नायिकाओं के जीवन में आने वाली समस्याओं एवं उसके परिमाण और पुराने मूल्यों के प्रति उनकी छटपटाहट का चित्रण कर, आज की युवा पीढ़ी को सजग करने तथा समाज को नयी दिशा देने का भी काम किया है।

उषा प्रियंवदा ने अपनी कहानियों में 'व्यक्ति' विशेष को ज्यादा महत्त्व दिया है। इन्होंने अपनी कहानियों में देशी-विदेशी परिवेश में मानवीय रिश्तों, विशेष कर स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को अपनी कहानियों में नये रूप में प्रस्तुत किया है। इन्होंने बहुत ही सहज और स्वाभाविक ढंग से अपने वैयक्तिक जीवन के अनुभवों को एक प्रामाणिक सच्चाई के साथ कहानी के यथार्थ धरातल पर बुना है। इतना ही नहीं इन्होंने अपनी कहानियों में विवाह के बहुत से व्यंग्य चित्र भी खींचें हैं और 'मुक्त-प्रेम' को स्वीकार किया है। उषा प्रियंवदा ने अपनी कहानियों में स्वतन्त्र और स्वच्छंद प्रेम को महत्त्व दिया है। इसके लिए इन्होंने किसी भी प्रतिबन्ध

या नैतिकता को स्वीकार नहीं किया है।

कहानी में आये केवल मुख्य चरित्र को ही उभारा है, अन्य गौण पात्र वह चाहे पुरुष हो या स्त्री उनकी तरफ इनका ध्यान बहुत कम गया है। इतना ही नहीं घर परिवार और समाज से भी नायिका का कुछ विशेष सम्बन्ध इंगित नहीं किया है। नायिका की किसी ऐसे स्त्री या पुरुष पात्र दोस्त की भी कल्पना नहीं की है, जो नायिका को विपरीत-से-विपरीत परिस्थितियों में दिशानिर्देश या सहारा दे सके। अकेले रहकर जीवनयापन करने का निश्चय करने वाली ऐसी ही स्त्रियाँ निराशा, ऊब, घुटन, अकेलेपन आदि आधुनिक बीमारियों का शिकार होती हैं, जिनकी तरफ उषा प्रियंवदा ने इशारा किया है। इनकी कहानियों में आने वाला परिवेश या कहानी के कुछ पात्र भले ही विदेशी हों लेकिन स्त्रियों के जीवन में आने वाली समस्याएँ भारतीय हैं।

उषा प्रियंवदा ने अपनी कहानियों में कुछ 'कैरियरिस्ट' स्त्रियों की तरफ भी इशारा किया है। ऐसी कामकाजी स्त्रियाँ अपना सब कुछ गंवाकर निराशा, ऊब, घुटन और यौन-शोषण का शिकार होती हैं। डॉ. नामवर सिंह के शब्दों में कहे तो उषा प्रियंवदा ने ऐसी ही स्त्रियों की दुखती रगों को पकड़ा है और उनकी समस्याओं की तह तक जाने में सफल भी हुई हैं।

भाषा-शिल्प-के स्तर पर ध्यान दे तो उषा प्रियंवदा की कहानियों की भाषा बहुत ही सहज और बोधगम्य है। संवाद योजना छोटे-छोटे और बड़े-बड़े दोनों स्तरों पर सहज और पात्रानुकूल हैं। विदेशी परिवेश और अंग्रेजी भाषा की अध्यापिका होने के कारण इनकी कहानियों में अंग्रेजी के कुछ शब्द भी प्रसंगवश

आये हैं। जैसे- प्रेजिडेंट, ऐश-ट्रे, एडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस, प्रैक्टिस, बुकस्टॉल, वोटिंग-रूम, ड्यूटी, ट्रिप, डेकोरेटिंग, सीरियसली, ओनेस्टली, एयरकंडीशन, एक्सप्लेनेशंस, इंटेलिजेंट, पौटैटोचिप्स, ब्रिलिएंट, वालपेपर आदि। लेकिन अंग्रेजी के ये शब्द हिंदी कहानी के कहानीपन या पाठक की सहजता को प्रभावित नहीं करते हैं। जिस दौर में 'नई कहानी' के कहानीकार कहानियां लिख रहे थे, उस समय काव्य के क्षेत्र में नई कविता का दौर चल रहा था। नई कहानी की भाषा, बिम्ब, प्रतीक-योजना पर नयी कविता की काव्यात्मकता का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। उषा प्रियंवदा के यहाँ भी कहानियों का शीर्षक बिम्ब, प्रतीक और कविता की काव्यात्मकता लिये हुए हैं। जैसे- मछलियां (अतृप्त काम सुख), कच्चे धागे (मोह भंग), जिंदगी और गुलाब के फूल में (जीवन में सुख का प्रतीक), सुरंग (असुरक्षा), दो अँधेरे (विश्वासघात) आदि।

उषा प्रियंवदा को वातावरण और परिवेश के विशेष अंकन में महारत हासिल है। इन्होंने बहुत सूक्ष्मता से कहानी में आये स्त्री चरित्र की खूबसूरती और उनके पहनने-ओढ़ने के ढंग, जैसे साड़ी के रंगो की विविधता, कानों के कुंडल, आदि के वर्णन में बहुत ही रमकर एक-एक चीजों को रेखांकित किया है। उनकी कहानियों में आने वाली लगभग स्त्री पात्र वह चाहे देश में रह रही हों या विदेश में, वस्त्रों में साड़ी को ही वरीयता देती हैं। इतना ही नहीं घर परिवेश के आधार पर उन्होंने कहानी का ऐसा वातावरण तैयार किया है कि पाठक के सामने उसका बिम्ब झलकने लगता है। स्त्री मन पर लेखिका की पकड़ बहुत मजबूत जान पड़ती है। क्योंकि इन्होंने मन के अंतर्द्वंद्वों को बहुत ही सूक्ष्मता और मनोवैज्ञानिक ढंग से उजागर किया है। इनकी कहानियों में आधुनिक स्त्री जीवन के दबावों और प्रताड़नाओं तथा उनसे मुक्त होने के लिए स्त्री की संघर्ष-क्षमताओं को अभिव्यक्ति मिली है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि उषा प्रियंवदा आधुनिक स्त्री जीवन की त्रासदियों को उजागर कर आज की स्त्री को अपनी परम्परा और आधुनिकता से परिचय कराती हैं। मानव जीवन में उसकी सार्थकता और जीवन में किसी चीज की अतिशयता की तरफ भी इशारा करती हैं। क्योंकि पूरी तरह से भारतीय संस्कृति और परम्परा को त्याग कर उत्तर-आधुनिकता को अपना लेने मात्र से जीवन में सुकून नहीं मिल सकता है। इसलिए स्त्री को ऐसे द्वंद्व में न फंसते हुए अपने अनुकूल रास्ते का चुनाव करना चाहिए। इतना ही नहीं अपने स्वतन्त्र अस्तित्व और अस्मिता को वरीयता देते हुए जीवनयापन को महत्त्व देना चाहिए। इन्हीं विचारों को केंद्र में रखकर लेखिका ने अपनी सफल अभिव्यक्ति दी है। अरविन्द जैन का यह कहना बिलकुल सही है- ''कामकाजी महिलाओं के संकट, संघर्ष, और सामाजिक स्थितियों के सन्दर्भ में उषा प्रियंवदा का कथा-साहित्य सचमुच एक गम्भीर बहस है। शिक्षित, स्वावलम्बी और सचेत स्त्री की यह अपने आपसे भी बहस है और समाज से भी।'' ●

''भारत आकर मैं और अकेली हो जाती हूँ''

उषा प्रियम्बदा से डॉ मंजू कुमारी की बातचीत

मेरा पहला प्रश्न यह है कि आप कैसी हैं और आपका स्वास्थ्य कैसा है? आप भारत कब तक आएंगी? मेरे जैसे आपके बहुत से सुधी-पाठक हैं, जो आपसे मिलना चाहते हैं?

मैं अच्छी तरह से हूँ। पढ़ती-लिखती रहती हूँ। शांत और स्वस्थ भारत आने का अभी कोई विचार नहीं है। परिवार में माँ, भाई, बहन सब दिवंगत हो चुके हैं। भारत आकर और भी अकेली हो जाती हूँ।

आपका साहित्यिक सफ़र कब शुरू हुआ और आपके गुरू कौन थे? आपकी जिंदगी में वह कौन सा प्रेरक तत्त्व व पड़ाव आया, जिसने आपको लिखने के लिए मजबूर किया? अगर आपको अपने जीवन में दूबारा लिखने या पुनः जीवन जीने का मौका मिलता है, तो आप किस तरह से जीवन व्यतीत करना चाहेंगी?

लिखना तो बाल्यकाल से ही था। स्कूल की पत्रिका

''साहित्य में गणित की तरह हल नहीं ढूंढा जा सकता

आदि में प्रकाशित हुआ करती थी। पहली कहानी आठवीं कक्षा में लिखी, जिसे पढ़कर माँ, बहन और बुआ हंसते-हंसते, लोट-पोट हो गई थी- मुझे अब कुछ याद नहीं कि उन्हें ऐसा क्यों लगा?परन्तु उस प्रतिक्रिया ने मुझे बहुत साल तक लिखने से रोका। बाद में मेरे छोटे भाई होरीलाल सक्सेना के हाथ मेरी एक कापी लगी और उसकी एक कहानी ''अपना-अपना भाग्य'' उन्होंने सरिता में प्रकाशित होने को दी, केवल उषा नाम से। जब वह प्रति मैंने देखी तो मुझे जो खुशी हुई, वह वर्णनातीत है। उसे पढ़कर कोई नहीं हँसा। मेरी साहित्यिक यात्रा 'उषा प्रियंवदा' के नाम से 'कल्पना' से आरम्भ हुई। 1956–1961 के दौरान उसके बाद 'ज्ञानोदय' कृति कहानी आदि में नियमित रूप से छपने लगी। 1961 में 'वापसी' लिखी जो 'नई कहानी' में भैरव प्रसाद गुप्त ने सराहना के साथ छापी। क्या आपने 'यात्रा ग्रुप' की 'वनवास' संग्रह देखा है?उसमें मेरी कई अप्रकाशित और 1961–62–63 की कहानियाँ हैं। मुझे बहुत लोगों ने प्रभावित किया है। लिखते और लिखते रहने को- रघुपति सहाय, फिराक जो उर्दू के नामी कवि थे। उनके छोटे भाई यदुपति सहाय, जो मेरी सबसे बड़ी बहन के पति थे। उन्हीं के द्वारा 'बच्चन', 'सुमित्रानंदन पन्त', प्रेमचंद के ज्येष्ठ पुत्र श्री पतराय के सम्पर्क में आई- सभी ने अपनी-अपनी तरह से मुझे प्रभावित किया। कैसे?यह आपको पीएच.डी शोध के प्रश्नों के उत्तर में बताऊंगी। यदि जीवन दूबारा जीना पड़े तो मैं राजनीति में जाऊँगी।

आप अपने आपको अपने पूर्ववर्ती और परवर्ती पीढ़ी से किस रूप में जोड़ती हैं? अपने समय के साहित्यिक माहौल और आज की साहित्यिक गतिविधियों को आप किस रूप में देखती हैं? समाज और साहित्य के क्षेत्र में आये बदलाव को किस तरह से महसूस करती हैं?

दूर विदेश में रहने के कारण मैं माहौल और गतिविधियों से कटी हुई हूँ- बदलाव का परिणाम बना होगा यह तो समय ही बतायेगा।

कहानी लिखने की अपनी प्रक्रिया एवं चुनौतियों के बारे में कुछ बतायें।

व्यस्त होने के कारण अब वह जुनून नहीं रहा कि कहानी मन में आई, एक बैठक में पूरी की और उसी प्रकार छपने भेज दी। मैं तभी लिखती हूँ जबकि

पूरी-पूरी छवि मानस में होती है और लिखने के बाद वैसी की वैसी ही- कोई संशोधन या काट-छाँट नहीं होती। इधर कहानियों की जगह उपन्यास लिख रही हूँ। कहानी की सीमा में आज की विषयवस्तु नहीं समा पाती।

विदेशी परिवेश में होते हुए भी आपने अपनी मातृभाषा में ही सृजन कार्य को महत्व दिया। जबकि अधिकांशतः देखने को मिलता है कि हिंदी साहित्य की अपेक्षा अंग्रेजी साहित्य के रचनाकारों को ज्यादा महत्व मिलता है, तो ऐसी क्या वजह थी कि आप विदेशी परिवेश में होते हुए भी हिंदी भाषा में सृजन कार्य करती रहीं और आज तक आपका हौसला बना रहा?

विदेश में रहते हुए भी मेरा मानस भारत से जुड़ा रहा। अंगरेजी में भी लिखा- परन्तु हिंदी में लिखने में जो संतोष और अपनी जड़ों का सिंचन महसूस किया, वह अंग्रेजी में नहीं मिला। शायद अंगरेजी में लिखने पर यश और धन मिलता। परन्तु मैं संतोषी व्यक्ति हूँ। मान, सम्मान और पुरस्कार के पीछे भागना मेरे स्वभाव में नहीं है। जो झोली में आ गिरे वही माँ सरस्वती का आशीर्वाद है।

आप वहां पर अपने भारतीय सुधी पाठकों की प्रतिक्रिया को कैसे प्राप्त कर पाती हैं?

बहुत कम, लेखन अब स्वांतः सुखाय है।

आपकी कहानियों में मुख्य पात्र 'स्त्री' है। और आपकी लगभग कहानियों का आधार प्रेम है। जिस पर स्त्री अपना पूरा जीवन समर्पित कर देना ही अपनी महानता समझती है। भले ही वह प्रेम उसके जीवन में दुःख का कारण ही क्यों न हो! ऐसा लगता है 'केवल प्रेम ही जीवन का आधार है, इसके बिना सबकुछ बेकार है। (जैसे - 'चाँद चलता रहा' कहानी की नायिका 'रोहिनी') तो आपके 'जीवन' और 'साहित्य' में रूमान की क्या अहमियत है?

मैंने भारत में रहकर जो लिखा- और जो अब लिख रही हूँ। जीवन और परिस्थितियों से प्रभावित है। कहानियां लिखने के दौर में जीवन में आर्थिक, सामाजिक दायित्व नहीं था। उस समय प्रेम, प्यार में सब कुछ केन्द्रित करना स्वाभाविक था। उम्र भी रूमानी थी। प्रेम अभी भी महत्वपूर्ण है पर उसका रूप बदल गया है।

क्या आपकी रचनाओं पर 'स्त्री-विमर्श' या किसी तरह की 'विचारधारा' का प्रभाव रहा है, जिससे आपकी रचना प्रभावित हुई हो? स्त्री विमर्श के इस दौर में आप 'पुरूष चरित्र' को किस रूप में देखती हैं और स्त्री-पुरूष के बीच संबंधों के बारे में आप क्या कहना चाहेंगी? (पति-पत्नी और इससे इतर भी स्त्री-पुरूष सम्बन्ध के संदर्भ में।)

विदेश में रहते हुए भी मेरा मानस भारत से जुड़ा रहा। अंगरेजी में भी लिखा- परन्तु हिंदी में लिखने में जो संतोष और अपनी जड़ों का सिंचन महसूस किया, वह अंग्रेजी में नहीं मिला। शायद अंगरेजी में लिखने पर यश और धन मिलता। परन्तु मैं संतोषी व्यक्ति हूँ।

1960–70 में जब (west) में (women's liberation) का दौर चल रहा था तो वहां की जीवन-शैली और विचारधारा व साहित्य से प्रभावित होना स्वाभाविक ही था। पर पुरूष कभी भी मेरे लिए विलन या खलनायक (अपने साहित्य में) नहीं रहा। जीवन में तो 'विलन' मिलते ही रहते हैं और अब तो स्त्रियाँ भी इसी श्रेणी में शामिल हो गई हैं।

आपकी कहानी की स्त्री-पात्र पढ़ी-लिखी, नौकरी-पेशा वाली और आधुनिक होते हुए भी अपनी परंपरा में बंधी रहती हैं। कुछ कहानियों में वह स्त्री-पात्र चाहकर भी आवाज नहीं उठाती है और अपनी नियति मानकर चुप रह जाती है। (जैसे- 'प्रश्न और उत्तर' कहानी की निशी बुआ का चरित्र) ऐसा द्वन्द क्यों?

अपनी परम्परा निभाना अपने 'स्व' के प्रति सच्चा होना है। आप जिन कहानियों के बारे में बात कर रही हैं, उन कहानियों में स्त्रियों के लिए विकल्प कम थे। उदाहरणार्थ, मेरी बुआ जो कानपुर नगर में बी.ए. करने वाली पहली लड़की थीं। परम्परागत जीवन बिताने को बाध्य थीं। क्योंकि उनके विकल्प कम थे। पर मुझ तक और मेरे बाद वाली पीढ़ियों के विकल्प असीमित हो गये थे। जिनका लाभ उठाकर मैं अलग तरह का जीवन जी सकी। मैंने कई परम्पराओं को छोड़ा, फिर भी जो अपने निकट की, अपने को सच लगने वाली परम्परा से जुड़ी रही।

आपकी कहानियों के बारे में कहा जाता है कि उषा जी की कहानियों को पढ़ने के बाद घोर निराशा और बेचैनी होती है। एक स्त्री के प्रश्न और उसकी समस्या को आपने उठाया जरूर है। लेकिन उसके समाधान की तरफ आपका किसी-किसी कहानी में स्पष्ट नजरिया नहीं मिल पाता, तो आप समाज में, स्त्री की किस प्रकार की छवि की ओर इशारा करना चाहती हैं? (जैसे- 'सागर पार का संगीत' कहानी में 'देवयानी' का चरित्र, 'प्रतिध्वनियाँ' कहानी की नायिका 'वसु' का चरित्र)

साहित्य में गणित की तरह हल ढूढ़ना सही नहीं है। साहित्य सृजन एक सरिता की तरह है, जिसका प्रवाह बदलता रहता है। उसी प्रकार एक लेखक भी समय, परिवेश, जीवन, भावनाओं के साथ निरंतर बदलता रहता है। जिस समय जो लिखा जाता है, उस समय की वही संवेदना सच होती है। वसु और देवयानी का सच उस समय घटित होता हुआ ही सच था। आज की आकाशगंगा (नदी) और वाना (अंतर्वशी) का सच अलग है।

आपने भारतीय और विदेशी दोनों परिवेश में रहकर रचना कर्म किया है, तो परिवेश के संदर्भ में रचना कर्म की चुनौती के विभिन्न आयाम के बारे में बताइए।

अंगरेजी परिवेश में रहकर लिखना कठिन होता है। फिर भी मेरे लिये जीने की सच्चाई और आधार है।

हिंदी आलोचना में आप अपनी जगह को लेकर क्या टिप्पणी करना चाहेंगी। निर्मला जैन की आलोचना की पुस्तक 'कथा-समय में तीन हमसफर' पुस्तक के बारे में आप क्या कहना चाहेंगी।

निर्मला जैन जी मेरी बहुत प्रिय मित्र हैं। मैंने उनकी पुस्तक नहीं पढ़ी है।

क्या आप नई पीढ़ी की लेखिकाओं को पढ़ पाती हैं, अगर हाँ तो आप नई पीढ़ी की रचना-शैली और उनकी रचनाओं के बारे में क्या कहना चाहेंगी?

कभी-कभार।●

"राजेंद्र यादव ने स्त्री विमर्श को भटकाया भी है" : सुधा अरोड़ा

हिंदी की वरिष्ठ लेखिका सुधा अरोड़ा अपने बेबाक और साहसी लेखन के लिए जानी जाती हैं। पिछले करीब छह दशक से वे साहित्य में सक्रिय हैं। उन्होंने हर विधा में लिखा है और एक्टिविस्ट भी रहीं हैं। उन्होंने इस बातचीत में हंस और राजेंद्र यादव पर कई आरोप भी लगाएं हैं जिससे एक बहस भी छिड़ सकती है। युवा आलोचक कवि सुधा तिवारी ने उनसे कई मुद्दों पर बात की है।

सुधा तिवारी
मो० 8750350953

सुधा जी, आप की पहली कहानी 1965 में रूपांबरा और ज्ञानोदय, 1966 में धर्मयुग में छपी थी। तब से लेकर अब तक आपने करीब 58 वर्ष लेखन में गुजार दिए! इस कथा यात्रा को आप किस रूप में देखती है? और क्या आपने साहित्य में अपनी मंजिल को पा लिया?

आज जब 2023 लिखती हूं तो खुद भी हैरान होती हूं कि लेखन यात्रा की शुरुआत हुए 58 साल हो गए पर सच तो यह है कि यह यात्रा अनवरत नहीं रही। हिंदी की अन्य प्रतिष्ठित लेखिकाओं की तरह मेरी यात्रा एक कंटिन्यूटी में नहीं चल पाई। कई बार मेरे लेखन में अवरोध आया। बीच में तो मैंने 12–13 साल बिल्कुल लिखा ही नहीं। तो यह यात्रा बार-बार खंडित हुई और हर बार नये सिरे से फिर शुरु हुई।

किसी मंजिल को पाने के लिए मैं नहीं आयी साहित्य जगत में। कैरियर बनाने के नज़रिये से लिखना शुरु नहीं किया जाता। कम से कम पांच दस दशक पहले ऐसा ही था। 1968 में मेरा पहला कहानी संग्रह छपा और 36 साल बाद 2004 में चौथा संग्रह। आज एक नया लेखक पहली किताब के बाद हर दूसरे साल एक नयी किताब के साथ आ जाता है।

साठ सत्तर के दशक में लिखना एक पैशन था, मिशन था। लिखने की शुरुआत तो अपने ही भीतर की बेचैनी से निज़ात पाने के लिए हुई पर बाद में समाज और देश की विसंगतियों पर भी कलम चलने लगी। हम लिखते है क्योंकि जो गलत है, जो असंगत है, जो चीज़ तकलीफ देती है, उसके खिलाफ आवाज उठाना चाहते हैं। हम अपने आसपास, समाज में, देश में बदलाव चाहते हैं। जो कुछ अपनी स्त्री बिरादरी के साथ हो रहा है, हाशिए पर पड़े हुए व्यक्ति के साथ हो रहा है, उसके खिलाफ हम बोलना चाहते हैं। हमारे लिखे हुए से कहीं एक प्रतिशत भी बदलाव आए तो हमें लगता है कि लिखना सार्थक हुआ। अभी हाल ही में, शायद एक हफ्ता पहले ही, केरल में अरुंधति राय का एक वक्तव्य था, जहां उन्होंने कहा कि आज देश में जो कुछ हो रहा है, उसे देखकर लगता है कि मेरा लिखना बेकार गया। राही मासूम रजा ने करीब 25 साल पहले लिखा था कि लगता है, बेकार गये हम!... तो कोई लेखक आखिर ऐसा क्यों कहता है?वो ऐसा तब कहता है जब वो निराश होता है। मेरे लेखन की यात्रा में बार-बार अवरोध आया तो उसकी वजह शायद यह निराशा भी हो कि जो हम लिख रहे हैं, वो वाकई कारगर है? दिलचस्प बात है लेकिन आजकल सचमुच कई बार मुझे बहुत अफसोस होता है कि मैं मुंबई में थी और सिनेमा के लिए लिखने के कुछ अवसर भी मिले लेकिन मैं सिनेमा से कभी नहीं जुड़ी। पता नहीं क्यों सिनेमा के लिए लिखना तब संतोष नहीं देता था, जबकि कहानी लिखकर बेहद सुकून मिलता था। अब अफसोस होता है कि सिनेमा के माध्यम से क्यों नहीं जुड़ी! साहित्य से वो ज्यादा कारगर माध्यम है। उसकी पहुंच बहुत बड़ी है। साहित्य की उतनी पहुंच नहीं है।

आपके सवाल के संदर्भ में यह ज़रूर कहना चाहूँगी कि ऐसे भी लेखक हैं जो सिर्फ यश पाने की लालसा में या 'लेखक' बनने के लिए साहित्य में आते हैं। मुझे याद आता है कि 70 के दशक में अंबाला छावनी में एक कहानी लेखन महाविद्यालय चलता था और उसके जरिये कुछ लेखक- लेखिकाएं हिंदी साहित्य में आये। लेकिन वो अलग तरह के लेखक होते हैं। उनके लेखन से भी आप इसे पहचान सकते हैं। लेखन अपने आप में सबसे बड़ी कसौटी है। पहचाना जा सकता है कि कोई किसी महत्वाकांक्षा के तहत लिख रहा है या अपनी बेचैनी के तहत लिख रहा है। लेखन की कार्यशालाओं में मैंने हमेशा यही कहा कि

भाषा और शिल्पगत बारीकियां बेशक आप सीख लें पर विषय चुनना और उससे संवेदित होना कोई आपको सिखा नहीं सकता। जब तक आपको कोई आघात नहीं पहुंचेगा, कोई तकलीफ नहीं होगी, किसी आपदा से नहीं घिरे होंगे, कोई टीस नहीं उपजेगी तो आपकी कलम कागज पर कोई अच्छी रचना नहीं दे सकती।

आपकी जब पहली कहानी छपी थी तो उस समय स्त्री लेखन का कैसा परिदृश्य था और इन छह दशकों में वह परिदृश्य किस रूप में बदला है। आप इस बदलाव को किस रूप में देखती हैं।

1965–66 में जब लिखना शुरु किया, महिला रचनाकार हिंदी साहित्य के फलक पर बहुत कम थीं। कहानी के बहुत से दौर देखे हैं- अकहानी से लेकर आजतक। अपने समय और समाज के साथ, लेखन का शिल्प, कथ्य, तेवर और कलेवर सब कुछ बदलता है। स्त्री लेखन भी इसका अपवाद नहीं है।

1950 के आसपास की कहानियाँ अधिक सपाट और एकरेखीय रही हैं, जहां स्त्रियों के यथार्थ का, उसकी तकलीफ़ का सीधे तौर पर कहानी में बयान किया गया। लेकिन वह भी उस समय को जानने के लिए ज़रूरी है। उसके बाद मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा और कृष्णा सोबती का दौर आया। यह दौर काफी महत्वपूर्ण है जब तीन सशक्त लेखिकाएँ एक साथ अलग-अलग छोरों से कहानी कह रही थीं। मन्नू जी और कृष्णा जी की कहानियों में कथ्य और कहन का फ़र्क काफी गहरा दिखायी देता है जबकि दोनों लगभग एक ही समय में लेखन में सक्रिय थीं। मन्नू जी जहां मध्यवर्गीय स्त्री की त्रासदी को उभार रही थीं वहीं कृष्णा जी एक बड़े फलक पर अलग अलग विषयों को अपने अलग तेवर के साथ बयान कर रही थीं। उषा प्रियंवदा कामकाजी महिलाओं के संघर्ष को उजागर कर रही थीं।

नई कहानी के बाद हमने बहुत सारे दौर देखे जैसे अकहानी, सचेतन कहानी, समांतर कहानी। नई कहानी के तत्काल बाद हिंदी साहित्य के पटल पर अकहानी का दौर आया जो बहुत अल्पकालिक ही रहा। अकहानी के दौर में अकेलापन, कुंठा और संत्रास की ओर कहानीकार मुड़ गए। भोगे हुए यथार्थ की बात की जाने लगी। कहानियों से नाम और संज्ञाएं गायब होने लगी। कहानियां सर्वनाम और तृतीय पुरुष में लिखी जाने लगीं। इस दौर से कुछ रचनाकारों ने अपने-आप को बहुत जल्द अलग कर लिया। जिन लेखकों ने अपने को नहीं बदला उनका लिखना बंद हो गया जैसे ज्ञानरंजन, गंगाप्रसाद विमल। अकहानी के दौर के कई लेखक समय के साथ ग्रो नहीं कर पाए। यह कहना अपने आप में खतरे से खाली नहीं है पर यह सच है। जिन लोगों ने अपने आप को बदला जैसे दूधनाथ सिंह, रवींद्र कालिया, रमेश उपाध्याय... अपने लेखन में शिल्प के बदलाव के कारण ये लोग ताउम्र लिखते रहे।

समांतर कहानी से मुझे जोड़ा गया पर उससे मेरा दूर दूर तक कोई नाता नहीं था। इसके बाद समय के साथ, अनुभव के साथ जो बदलाव हुए और एक स्त्री होने के नाते समाज से, परिवार से जो आघात मिले उसकी वजह से लेखन के विषय, भाषा का कलेवर सभी कुछ बदलता चला गया। शायद ज़्यादा तुर्श हो गया। मेरा लेखन कर्म जब भी बाधित हुआ और एक अंतराल के बाद जब दोबारा शुरुआत की तो मैं पहले से अधिक तीखेपन के साथ आयी। हमारी पीढ़ी की स्त्री रचनाकारों में एक सेल्फ़ सेंसरशिप भी रही जो समय के साथ-साथ तिरोहित हो गई। आज स्त्री रचनाकार ज़्यादा बेबाक, ज़्यादा तुर्श, ज़्यादा असरकारक होकर सामने आई हैं।

नई कहानी के बाद हमने बहुत सारे दौर देखे जैसे अकहानी, सचेतन कहानी, समांतर कहानी। नई कहानी के तत्काल बाद हिंदी साहित्य के पटल पर अकहानी का दौर आया जो बहुत अल्पकालिक ही रहा। अकहानी के दौर में अकेलापन, कुंठा और संत्रास की ओर कहानीकार मुड़ गए। भोगे हुए यथार्थ की बात की जाने लगी। कहानियों से नाम और संज्ञाएं गायब होने लगी। कहानियां सर्वनाम और तृतीय पुरुष में लिखी जाने लगीं। इस दौर से कुछ रचनाकारों ने अपने-आप को बहुत जल्द अलग कर लिया। जिन लेखकों ने अपने को नहीं बदला उनका लिखना बंद हो गया जैसे ज्ञानरंजन, गंगाप्रसाद विमल। अकहानी के दौर के कई लेखक समय के साथ ग्रो नहीं कर पाए।

सुधा जी, आप ने देखा होगा कि 21वीं सदी में बहुत सारी स्त्री कथाकार सामने आई हैं। आपने उनमें से कईयों की कहानियां भी पढ़ी होंगी। आपको उनमें से किसकी संभावना नजर आ रही है? क्या यह कहानियां अपने समय के साथ मुठभेड़ कर पा रही हैं? क्या उनमें वह तीक्ष्णपन और धार है? अगर हम स्त्री लेखन की बात करें तो इस लंबे समय में, इतने बदलावों के बीच वह आगे गया है या पीछे गया है?

लेखन हमेशा समय के साथ साथ चलता है। विशेषतौर पर स्त्री लेखन अपने समय के साथ मुठभेड़ करता हुआ निश्चित तौर पर आगे बढ़ा है। पिछले दसेक साल में स्त्री चेतना का अद्भुत विस्तार हुआ है। नई युवा लड़कियां अपनी स्थितियों के प्रति बेहद जागरुक, चेतनासंपन्न और बेबाक- बेख़ौफ़ हुई है। ऐसा हिंदी साहित्य के इतिहास में पहले नहीं देखा गया।

आज के समय में सशक्त महिला लेखन बड़ी शिद्दत के साथ, बड़े पैमाने पर हो रहा है। पहले एक समय में दो या तीन लेखिकाओं के जैसे नाम गिनाये जा सकते थे, आज एक ही पीढ़ी में आप देखें तो एक साथ लिखने वाली 25 लेखिकाओं के नाम गिनाए जा सकते हैं। इसका एक बड़ा कारण युवा पीढ़ी की सजगता और अपनी स्थितियों को पहचानने, पितृसत्ता के खिलाफ़ खड़े होने, अपने निर्णय पर टिके रहने और रूढ़िवादी समाज से डटकर मुकाबला करने का उनका जज़्बा और स्टैंड है। इनके स्टैंड के लिए हम गर्व महसूस करते हैं।

पिछले दो सालों से पढ़ना बहुत कम हो गया है तो इसपर प्रामाणिक तौर पर मैं ज़्यादा कुछ कह नहीं सकती। आज बहुत बड़े परिमाण में लेखन बहुत अछूते विषयों पर बहुत संजीदगी के साथ लेखन हो रहा है। बहुत सी युवा लेखिकाएं पूरी ज़िम्मेदारी और गंभीरता के साथ लिख रही हैं। आंखों की समस्या के कारण मैं ज़्यादा पढ़ नहीं पाती हूं। मैत्रेयी पुष्पा गांव के फलक की कहानियां लेकर आईं। मधु कांकरिया का लेखन महिला लेखन के बँधे-बँधाए खांचे से एकदम अलग ज़मीन से जुड़ा हुआ शोध परक लेखन है।

नये रचनाकारों में बहुत से प्रखर स्वर हैं। अलका सरावगी, नीलेश रघुवंशी के उपन्यास, योगिता यादव की कहानियां- गलत पते की चिट्ठियाँ, नए घर में अम्मा, रूपा सिंह की कहानी, आकांक्षा पारे और इंदिरा दांगी की कहानियाँ अलग तेवर की कहानियाँ हैं। अप्रवासी लेखन में अनिलप्रभा कुमार की कहानियां। वैसे जब समग्रता में पढ़ा न हो तो नाम लेने से बचना चाहिए।

कहानी से अलग कविता की बात करें तो कविताओं के क्षेत्र में आज स्त्री रचनाकारों ने निश्चित रूप से झंडे गाड़ दिए हैं। बिलकुल नई-नई लड़कियों की, कई अनजाने अपरिचित नामों की इतनी सुंदर कविताएँ मैं पढ़ती हूँ कि दंग रह जाती हूँ। कभी-कभी मेरा मन होता है कि उनको एक जगह संजोकर संपादित करूं। वैसे कविताओं का एक सार्थक और प्रतिनिधि संकलन इधर आया है- सविता सिंह द्वारा संपादित 'प्रतिरोध का स्त्री स्वर', जो बहुत मानीखेज़ संग्रह है। कविताएँ वाकई बहुत शानदार लिखी जा रही हैं और ख़ास बात ये है कि युवा लड़कियाँ स्त्रियों के अलग अलग तनावों पर, भावनात्मक और मार्मिक कवितायें लिख

मन्नू भंडारी और राजेन्द्र यादव

रही हैं। ये सिर्फ़ और सिर्फ़ आज की संवेदनशील लड़कियां ही लिख सकती हैं। ऐसी रचनाएं किसी पुरुष कलम से नहीं आ सकतीं और न ही ऐसी स्त्रियों की कलम से जो रचनाकार होने की महत्वाकांक्षा पाले हैं और पुरुष सत्ता को गाहे बगाहे कंधा देती हैं।

इधर दलित और आदिवासी तबके के नुकीले तेवर वाला लेखन सामने आ रहा है- जसिंता केरकेट्टा, सुषमा असुर, वंदना टेटे आदि। एक बड़ा बदलाव दलित लेखन में ये आया है कि अब तक दलित या हाशिये के समाज के बारे में सवर्ण लेखक-लेखिकाएँ लिखते आए हैं लेकिन अब ये खुद अपनी स्थितियों पर, अपने हक पर कलम उठा रहे हैं। और हम इस फर्क को महसूस कर सकते हैं कि इनके शब्दों में चाबुक जैसा असर है। जिसमें निर्मला पुतुल रजनी तिलक, अनिता भारती, कौशल पवार आदि के लिखे को देखें।

सुधा जी आप लगातार न केवल कहानियां लिखती रहीं बल्कि लेख आदि भी लिखती रहीं और बहुत तीखे ढंग से भी लिखा, स्त्रियों के पक्ष में आवाज उठाती रही। आपकी पहचान एक एक्टिविस्ट लेखिका के रूप में है। दोनों पक्षों में कैसे तालमेल साध पाईं?

कहानियाँ तो मैं लिख ही रही थी। लेख लिखने मैंने तब शुरू किये जब स्त्रियों की स्थितियों पर कहानी विधा अपर्याप्त लगी। कहानी में कल्पना का बहुत बड़ा स्थान है। आलेखों में आप सीधे सीधे एक मुद्दे से मुखातिब होते हैं। मैं एक संस्था के महिला सलाहकार केंद्र से जुड़ी थी जहां एक दिन में दो या तीन नये मामले ऐसे आते थे जिन्हें देखते हुए लगता था कि स्त्रियों के प्रति हिंसा के अनगिनत प्रकार हैं। अपनी तकलीफ तब छोटी लगने लगी और कहानी का दायरा मन में घुमड़ते सवालों के सामने अपर्याप्त लगा। इसके साथ ही जनसत्ता में एक कॉलम लिखने का प्रस्ताव मेरे पास आया, धीरेंद्र अस्थाना ने एक साप्ताहिक स्तंभ 'वामा' लिखने की जिम्मेदारी मुझे सौंपी। 500 से 700 शब्दों के अंदर जो हम बात रखते थे उसका असर बहुत व्यापक होता था। बाद में मालूम हुआ कि मेरे लिखे कॉलम का जेरॉक्स कराकर मेडिकल कॉलेज के छात्र-छात्राएं बाँटते थे। काफी चर्चित रहा वह स्तंभ। एक लेखक यही तो चाहता है कि उसके लेखन से एक ठहरे हुए समाज में कुछ हलचल हो। हालाँकि काउंसलिंग सेंटर के अपने अनुभव को मैं पूरी तरह अभिव्यक्त नही कर पायी क्योंकि वह एक अलग ही जगह थी, जहां स्त्रियों की समस्या को अगर हम जरा सा भी हल कर पाते थे तो बेहद सुकून मिलता था। उनके चेहरे पे आयी छोटी सी मुस्कान का सुख किसी लेखन से बहुत बड़ा था। आत्महत्या के कगार पर पहुँच चुके किसी जीवन को बचा लेना एक बड़ी राहत थी।

आप पहले एक्टीविस्ट हैं या लेखिका?

हेल्प महिला सलाहकार केंद्र से जुड़ जाना एक संयोग था। इसने मुझे एक दृष्टि दी। बहुत सी स्थितियों की पहचान दी। कई बार इस पहचान के कारण लेखन से मेरा मोहभंग भी हुआ क्यों कि आप अपने इर्द गिर्द एक ऐसा माहौल देखते हैं जिसमें आत्ममुग्धता, आत्मप्रचार से आगे व्यक्ति बढ़ता ही नहीं जबकि समाजिक कार्यों में आप पूरी तरह अपना 'स्व' भूलकर अपने से परे दूसरों के लिये जीने के रास्ते सहज करने में अपनी सारी ऊर्जा लगा देते हैं। कई बार मैंने लेखन से मुंह मोड़ लिया फिर भी कलम मेरा पहला प्यार है। कलम बार बार मुझे डूबने से उबार लेती है।

पिछले छह दशकों में आपने स्त्री को मुक्त होते देखा है या नहीं? कोई बदलाव आ भी पाया है या नहीं?

जाहिरन बदलाव तो आया है लेकिन वह मुक्त इसलिए नहीं हो पायी, क्योंकि स्त्री तो बदल गयी पर हमारा समाज अब भी नहीं बदला। स्त्री मुक्त हुई पर पुरूष ने उसे स्पेस नहीं दी। इस पितृ सत्तात्मक समाज की जड़ें बहुत गहरी है। हज़ारों सालों से हमारे समाज में जड़ें जमा चुके इस पुरुषसत्ता को हम बीस तीस सालों में नेस्तनाबूद नहीं कर सकते। इस समाज को बदलने में अभी काफ़ी वक्त लगेगा। गांव कस्बों में आज भी लड़कियां बहुत संघर्ष के बाद ही अपने लिए एक जगह बना पाती हैं। स्त्री दर्पण जैसे कई मंच बनाए जाने चाहिए। स्त्रियों को लाइम लाइट में आने से रोका गया। उन्हें खुले रास्तों, सहयोगी हाथों और आपस में बहनापे की ज़रूरत है।

आज देश बदला, समाज बदला लेकिन स्त्रियों के खिलाफ हिंसा में कमी नहीं आयी बल्कि उसकी सिवियरिटी बढ़ी है, इसे हम राह चलते सामान्य जीवन में भी महसूस कर सकते हैं। ऐसा क्यों है, जबकि स्त्री पहले से सबल हुई है। क्या यह पूँजीवाद की सोची समझी रणनीति है स्त्री के श्रम पर काबिज होने की?

सत्ताएं हमेशा एक दूसरे के साथ मिलकर ही पनपती हैं। पुरुषसत्ता हमेशा दूसरी सत्ताओं के साथ गलबहियां डालकर काम करती है। जैसे अर्थसत्ता, राजनीतिक शक्तियां, जातिवर्चस्व, धर्मसत्ता- सारी सत्ताएं एकजुट होकर काम करती हैं। घरेलू हिंसा और स्त्री प्रताड़ना से लेकर समाज, राष्ट्र के विराट फलक पर स्त्री के साथ किया गया सुलूक देख लें। राज्य और धर्मसत्ता ने शाहबानो को 1985 में भरण-पोषण का दावा करने पर अपना संघर्ष छोड़ने के लिए मजबूर किया। ऐसे ही धर्म और पुरुषसत्ता ने रूपकंवर को 1987 में अपने पति के मरने पर सती होने के लिए मजबूर किया। पितृसत्ता और जाति वर्चस्व ने 1993 में भंवरी देवी के बलात्कारियों का स्टेज पर फूलमालाओं से स्वागत किया। बीस साल बाद इन्हीं सत्ताओं ने मिलकर एकबार फिर 2023 में बिलकिस बानो के बलात्कारियों को रिहा कर दिया। उनका भी फूलमालाएं पहनाकर स्वागत किया जो आज इक्कीसवीं सदी में सत्ताओं के गठबंधन का सबसे घिनौना रूप हैं। मणिपुर की घटना एक सामूहिक हिंसा का शर्मनाक उदाहरण है। चालीस साल पहले भी पारिवारिक रंजिश के तहत दुश्मन के घर की स्त्रियों पर बलात्कार किया जाता था, आज भी प्रतिशोध के लिए स्त्रियों को निर्वस्त्र कर घुमाया जाता है।

भारत की वर्तमान सत्ता धर्म को आधार बनाकर, अपना कवच बनाकर चल रही है और धर्म-संसार का कोई भी धर्म हो, हमेशा से स्त्रियों को दायम दर्जे पे रखने का हिमायती रहा है। स्त्री इनका सबसे आसान औजार है। आज के समय में हिंसा केवल शारीरिक नही रह गयी है, स्त्री को प्रताड़ित करने के लिए अलग-अलग तरह के औजार इजाद किये गये हैं

और इसमें पढ़े-लिखे, प्रतिष्ठित लोगों की भी बड़ी तादाद है। उनके पास बहुत नुकीले छिपे हुए औजार हैं और सबसे बड़ी बात कि स्त्रियों का एक तबका इस पुरुष सत्ता को पोषित करता है, उसे अपने कंधे देता है।

आपकी एक कविता है- कंधे, जिसमें बहुत बारीकी से आपने पुंसवादी खेत और उसके पीछे की मंशा की पोल खोली है। इसमें "इसकी ही बिरादरी" वाला जो तंज है, उससे आप कितना इत्तिफाक रखती है ?

बड़ी बारीकी से आपने मेरी कविताएं पढ़ी सुधा जी। कंधे के अलावा मेरी एक और कविता "शतरंज के मोहरे" भी है। स्त्रियों की लड़ाई दरअसल बहुत लंबी और मुश्किल है। यह सिर्फ पुरुषवर्ग से नहीं है, उन स्त्रियों से भी है जो अपने छोटे छोटे स्वार्थ के लिए या निजी लाभ के लिए पुरुष सत्ता को कंधा देती हैं, जो 'यह सब तो होता ही रहता है' के तहत स्त्रियों के मुद्दो पर चुप रहती हैं या झट पुरुष प्रताड़ना और पुरुष विमर्श की बात करने लग जाती हैं। ऐसी स्त्रियों के सहयोग के बिना पुरुष सत्ता पनप ही नहीं सकती। भारतीय घरों में दहेज हत्या में घर की सास, ननद बराबर की भागीदार रहती हैं। बड़े स्तर पर देश के फलक पर देखें तो हमारी महिला बाल विकास मंत्री मणिपुर की घटना पर, हाथरस और उन्नाव के कांड पर चुप्पी लगा जाती हैं। अपने ज़मीर की कीमत पर सत्ता को कंधा देने की शर्मनाक मिसालें हैं यह। देश से शुरु होकर समाज के अलग अलग क्षेत्रों से होते हुए यह नीचे परिवार की इकाई तक जाती है। स्कूल कॉलेज में, साहित्य में भी आपको ऐसी स्त्रियां मिल जाएंगी। ज़ाहिर है, सत्ता को इससे फायदा मिलता है।

आपकी तरह ममता कालिया और मृदुला गर्ग आदि भी कविता लिखती रहीं लेकिन क्या आपको लगता है कि हिंदी साहित्य में आप लोगों के कवि व्यक्तित्व पर लोगों का ध्यान नहीं गया या उसका कोई मूल्यांकन नहीं हुआ?

मुझे लगता है, एक उम्र के बाद मूल्यांकनों से रचनाकार उदासीन हो जाता है या कहूं उसे उदासीन हो जाना चाहिए। कविता के क्षेत्र में तो नयी लड़कियां कितना शानदार लिख रही हैं। उन्हें सराहना मिलनी चाहिए और मिल भी रही है। वे इसकी सही हक़दार हैं।

ममता कालिया और मृदुला गर्ग की मुख्य विधा गद्य ही थी। लेखन के विषय अपने लिए विधा का चुनाव खुद कर लेते हैं। सायास उन्होंने भी कविताएं नहीं लिखीं। मैं कविताएं कभी न लिखती अगर मुझे फ्रोज़न शोल्डर न होता। अपनी कुछेक कविताओं के लिए खासी सराहना मिली जिससे मुझे संकोच भी होता रहा। कविताओं को छपवाने को लेकर भी मैं उत्सुक नहीं थी लेकिन मेरे प्रिय अग्रज कवि नरेश सक्सेना ने उन कविताओं पर मुहर लगाई और मित्र कथाकार नमिता सिंह जी ने उन्हें प्रकाशित किया तो मैं कवि की

मन्नू भंडारी और राजेन्द्र यादव

गिनती में आने लगी। इधर लंबे अरसे से कविता कहानी सबकुछ लिखना बंद है। पता नहीं आज का माहौल क्यों इतना अवसाद दे रहा है। बदलाव का इंतज़ार है।

सुधा जी आपका संबंध तो राजेन्द्र यादव से भी रहा और मन्नू जी से भी रहा लेकिन आपने हमेशा यादव जी को आलोचनात्मक दृष्टि से देखा उनसे असहमत भी रहीं। इसके बुनियादी कारण क्या है? क्या आपको नहीं लगता कि हिंदी में स्त्री विमर्श को आगे बढ़ाने में उनका बड़ा योगदान है और बिना उनके विमर्श सम्भव नहीं है। आपकी ऐसी असहमति किसी अन्य बड़े पुरुष लेखक से रही?

इसमें तीन सवाल हैं, मैं एक एक कर उनके जवाब देने की कोशिश करती हूं। हालांकि किसी भी दम्पति के आपसी संबंधों का मसला बहुत पेचीदा रहा है और दोनों अगर चर्चित व्यक्तित्व हों तो उनका समाजशास्त्रीय विश्लेषण किया जाना चाहिए। पांच दस मिनट में उसको समझाया नहीं जा सकता। यह कहना ग़लत है कि सेलिब्रिटिज़ की निजी ज़िंदगी में झांकना नहीं चाहिए। क्यों भला? रचनाकारों से ही तो हम संवेदनशील होने की उम्मीद करते हैं। वे ही अगर अपने पारिवारिक संबंधों में क्रूर और निर्मम दिखाई दे तो सामाजिक विसंगतियों और पितृसत्ता की सही पड़ताल आप वहीं कर सकते हैं।

मेरी नजदीकी मन्नू जी और राजेन्द्र जी दोनों से रही, यह तो सच है। राजेन्द्र जी से मेरा परिचय आठ साल की उम्र से रहा, वो मेरे पिताजी के दोस्त थे। लेकिन मेरा उनसे एक रचनाकार का रिश्ता था दोस्ती नहीं थी। एक व्यक्ति के रूप में मैंने उन्हें समझने की कोशिश कभी नहीं की।

भावनात्मक रूप से मैं मन्नू जी से जुड़ी हुई थी इसलिए कभी राजेन्द्र जी की तरफ से जुड़ने की चाह नहीं रही, बल्कि जो लोग उनकी तरफ से बोलते-लिखते थे उनसे मेरा विवाद ही होता रहा।

मैं मानती हूँ कि कोई भी व्यक्ति जिसमें जरा भी संवेदना होगी वह अपनी पत्नी को इस तरह की यातना नहीं देगा पर हमारे साहित्यिक समाज में एक पुरुष रचनाकार भी पुरुष पहले है और सामंती संस्कार उसमें भीतर तक धंसे हुए हैं। 'एक कहानी यह भी' में मन्नू जी ने उसका दस प्रतिशत भी नहीं लिखा है।

मन्नू जी ने उन्हें घर से निकल जाने के लिए कहा, इस वजह से न केवल पुरुष समाज बल्कि स्त्रियों ने भी मन्नू जी को वह सपोर्ट नहीं दिया जिसकी वह हकदार थीं। लेकिन यह निर्णय मन्नू जी ने तब लिया जब उनकी सांस पर बन आयी। राजेन्द्र जी का दोहरा व्यक्तित्व था।

इतना बड़ा लेखक अपने जीवन में कितना क्रूर और असंवेदनशील था। उन्होंने एक रणनीति के तहत मन्नू जी से अपने रिश्ते पूरी तरह से खत्म नहीं किये। न ही मन्नू जी बहुत मजबूत होकर इस रिश्ते को खत्म कर पायीं। मैं जब दिल्ली जाती थी मन्नू जी के साथ राजेन्द्र जी के घर खाने पर जाती थी। उन्होंने संबंधों को पूरी तरह खत्म नहीं होने दिया कभी भी। अलग होने के बाद भी राजेन्द्र जी के पास हंस था, एक मंच, एक सत्ता थी। सत्ता हर जगह आकृष्ट करती है। साहित्य जगत में भी। धर्मयुग, सारिका, साप्ताहित दिनमान सब बंद हो चुकी थीं। "हंस" पत्रिका उस वक्त काफी ताकतवर थीं और राजेन्द्र जी को एक बड़ा मंच हासिल था। राजेन्द्र जी का योगदान जितना स्त्री लेखन और स्त्री विमर्श को आगे बढ़ाने

में है, उतना ही उसे भटकाने में भी है। उन्होंने नारा दिया। स्त्री मुक्ति का पहला चरण देह मुक्ति है। सही है पर इस देह मुक्ति के नाम पर सिर्फ देह के खुलासे का सिलसिला चल पड़ा। यौन मुक्ति की कहानियां लिखी जाने लगीं। हंस में एक बार कहानियों की प्रतियोगिता आयोजित हुई थी और कमलेश्वर जी उसमें पुरस्कार देने वाले थे, चुनी हुई कहानियों को पढ़ने के बाद कमलेश्वर जी ने कहा कि इसमें एक भी कहानी ऐसी नहीं है जिसे मैं पुरस्कार देना चाहूँगा। वह अंक बलात्कार की विभीषिका के चित्रण की जगह बलात्कार विशेषांक हो गया था। जिस तरह से हंस के माध्यम से अश्लीलता को बढ़ावा दिया गया, स्त्री-पुरुष दोनों ही रचनाकारों की रचनाओं में जैसे कोरा कैनवास, दो औरतें वगैरह। हंस की ऐसी तथाकथित "बोल्ड" या कहें अश्लील कहानियों का कोई संकलन तैयार करके छाप दें तो पूरा स्त्री विमर्श गश खा जाएगा। और हाँ ऐसी असहमति मेरी एक पुरुष लेखक से नहीं, बहुतों से रही और मैंने बगैर नफा-नुकसान का गणित लगा, उन लोगों के खिलाफ, न केवल सार्वजनिक रूप से बल्कि व्यक्तिगत रूप से भी उन तक अपनी शिकायत दर्ज की। लेकिन हमारा साहित्यिक समाज भी इस तरह की बातों पर बड़ी गहरी चुप्पी लगा जाता है। कथादेश में अपने मासिक स्तंभ "औरत की दुनिया" में मैंने बहुत बार इन मुद्दों पर कलम उठाई जो बहुत से मित्र रचनाकारों को बेहद नागवार गुज़री। आज भी दिल्ली शहर में मेरे दुश्मन बहुत हैं जो मुझे देखकर मुँह घुमा लेते हैं। लेकिन ग़लत को ग़लत कहने में जो सुकून है, उसके लिए ये अदावतें सस्ती हैं।

इतने साल लिखने के बाद आप क्या अपनी रचना यात्रा से मूल्यांकन और चर्चा से संतुष्ट हैं? आज स्त्री लेखन की आलोचना करनेवाला कोई बड़ा पुरुष आलोचक नहीं?

सही मूल्यांकन और चर्चा एक रचनाकार के जाने के बाद होती है। अगर उसकी रचनाओं में दम होगा तो वह ज़िन्दा रहेगा। कोई पुरस्कार सम्मान उसे ज़िंदा नहीं रख सकता। आज प्रायोजित चर्चाओं का समय है। मैंने आज तक अपनी किसी किताब का विमोचन नहीं करवाया। मूल्यवान लेखन समय के कुहासे से बाहर निकलकर अपनी जगह बना ही लेता है। किसी पुरुष या महिला आलोचक की ज़रूरत नहीं।

आज हमारे समय का स्त्री लेखन काफी समृद्ध और सबल है। लेकिन क्या वजहें रही हैं कि हिन्दी की बड़ी कद्दावर लेखिकाएँ खुद को स्त्रीवादी या स्त्री लेखक कहे जाने से बार बार इंकार करती रही हैं। इसके पीछे की आशंकाएँ क्या हो सकती हैं?

जी हां, इस बारे में मृदुला गर्ग जी से कई बार मैं असहमत होती रही हूं। उन्हें स्त्रीवादी कहे जाने से परहेज़ है। कुछ लेखिकाएं कहती हैं कि मुझे नारीवादी मत कहो, मैं सिर्फ स्त्रियों के बारे में ही नहीं लिखती। शायद इन कद्दावर लेखिकाओं को लगता है कि स्त्रीवादी कहकर उनके लेखन को सीमित किया जा रहा है, एक छोटे से खांचे में बंद किया जा रहा है।

राजेन्द्र जी का योगदान जितना स्त्री लेखन और स्त्री विमर्श को आगे बढ़ाने में है, उतना ही उसे भटकाने में भी है। उन्होंने नारा दिया। स्त्री मुक्ति का पहला चरण देह मुक्ति है। सही है पर इस देह मुक्ति के नाम पर सिर्फ देह के खुलासे का सिलसिला चल पड़ा। यौन मुक्ति की कहानियां लिखी जाने लगीं। हंस में एक बार कहानियों की प्रतियोगिता आयोजित हुई थी और कमलेश्वर जी उसमें पुरस्कार देने वाले थे, चुनी हुई कहानियों को पढ़ने के बाद कमलेश्वर जी ने कहा कि इसमें एक भी कहानी ऐसी नहीं है जिसे मैं पुरस्कार देना चाहूँगा।

लेखिकाएं ही नहीं, वामपंथी कॉमरेड श्रीलता स्वामीनाथन भी ऐसा बयान देती रही हैं कि वे मानवतावादी हैं, नारीवादी नहीं या हम मार्क्सवादी हैं, स्त्रीवादी नहीं। दरअसल अगर आप मानवतावादी हैं तो आप स्त्रीवादी होंगे ही। लिंग विभाजन से समाज में व्यक्ति की स्थिति को नहीं आंकना चाहते, तो भी एक मानव (पुरुष) और दूसरे मानव (स्त्री) के बीच असमानता और शोषण न हो, इसी पर आप बात करेंगे। मार्क्सवादी हैं तो मार्क्सवादी नज़रिये से स्त्री के दोयम दर्जे के प्रति सरोकार की बात कहेंगे।

दूसरी ओर रैडिकल- अत्याधुनिक फेमिनिज़्म है जो हर समस्या को औरत के नज़रिए से ही देखता है। उन्हें यह लगता है कि सारी समस्या की जड़ विवाह जैसी सामंती संस्था है और यह दुनिया बगैर विवाह की संस्था या बगैर पुरुषों के भी चल सकती है। सोशलिस्ट फेमिनिस्ट मानते हैं कि जब हम स्त्री शोषण की बात करते हैं तो वर्ण और वर्ग विभेद को नज़रअंदाज़ नहीं कर सकते क्योंकि शोषण के सभी प्रकार एक दूसरे से गुंथे हुए हैं। एक पर विमर्श करें तो दूसरा अपने आप सामने आ जाएगा इसलिए इस शोषण का निराकरण साथ साथ ही होना है। ले दे कर बात तो आप समाज में व्याप्त शोषण और असमानता की ही कर रहे हैं।

1960 से 1980 तक सभी फेमिनिस्ट एक ही कॉमन प्लैटफ़ॉर्म से अपनी बात कहते थे लेकिन 1980 के बाद जैसे जैसे इन मुद्दों को विस्तार मिला, विश्लेषण के अलग कोण तलाशे जाने लगे और सोशलिस्ट, मार्क्सिस्ट, रैडिकल आदि प्रकारों ने अलग रास्ते ढूंढे। कोई भी वाद हो आपकी प्राथमिकता में स्त्री मुद्दे आएंगे ही। अपने को फ़ेमिनिस्ट होने के लेबल से बचाना चाहें तो कुछ भी कहा जा सकता है।

मैं कई बार कहती हूं कि जाके पांव न फटे बिवाई.. . स्त्री होते हुए भी स्त्रीवादी होने से बचना कुछ कुछ ऐसा ही है कि आपने स्त्री होने की तकलीफ़ को न शिद्दत से महसूस किया है, न उसका बयान किया है।

आपने कई विधाओं में लिखा। कौन सी रचना आपके मन के बहुत करीब है?

बहुत सी कहानियां मन के करीब हैं लेकिन एक कहानी 'रहोगी तुम वही' लिखकर बारह साल की लम्बी चुप्पी टूटी। और जिस कहानी की कई पाठकों ने काफी भर्त्सना भी की, उसे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पहचान मिली। 'रहोगी तुम वही' की थीम अरसे से दिमाग़ में थी पर इसके लिए सही फॉर्मेट नहीं मिल रहा था। जैसे ही यह एकालाप शिल्प दिमाग़ में आया एक सिटिंग में कहानी लिख ली गई। कहानी जब 'हंस' में छपी, मुझे यह देखकर सुखद आश्चर्य हुआ कि बारह साल के लंबे अंतराल के बाद भी पाठक मुझे भूले नहीं थे। इस कहानी पर मिली कुछ नाराज़ प्रतिक्रियाओं के एवज में कहानी 'सत्ता संवाद' लिखी गयी जब कुछ पाठकों ने कहा कि क्या बालने वाला पक्ष हमेशा पुरुषों का ही होता है? क्या औरतें बोलती ही नहीं हैं? मैंने कहा- बोलती क्यों नहीं पर वे ही औरतें बोल पाती हैं जिनके हाथ में अर्थ सत्ता हो।

आलेखों में एक लंबा आलेख- जिस हिंसा के निशान नहीं दीखते... यानी चुप्पी की हिंसा। इस आलेख के अंश कई लोग अपने नाम के साथ चस्पां करके लगा लेते हैं। इस मुद्दे पर गहराई से बात हो रही है, यह मेरे लिए सुकून की बात है।

कविताओं में कम से कम एक दरवाज़ा जो दरअसल कविता की तरह नहीं आजकल पत्रिका के लिए इसी मुद्दे पर एक लंबे आलेख के अंत में लिखा था पर वह आलेख से अलग पत्रिका के मुख पृष्ठ पर छपा। इस मुद्दे का भी बड़े स्तर पर संज्ञान लिया गया।

अपनी लिखी हुई चीज़ें जब एक बड़े समूह को जागृत करती हैं तो अपना कलम उठाना सार्थक लगता है। ●

हिंदी में यथार्थवादी कथासाहित्य का वर्चस्व रहा है

अब वह समय आ गया है जब हम स्त्री लेखन पर अलग से बात करना छोड़ सकते हैं। नारीवादी आंदोलन और स्त्रीवादी विमर्श का मन्तव्य यही था कि जितनी जल्दी सम्भव हो, स्त्री दोयम दर्जे की प्राणी न रहे; उसे वे तमाम अधिकार प्राप्त हो जाएं, जो पुरुष को हैं।

मृदुला गर्ग

मो० 9958661937

भारत में स्त्री को कानूनन सब अधिकार प्राप्त होने के बावजूद, समाज की पुरुष-दम्भी मानसिकता में कम बदलाव आया है। पर चूंकि साहित्य समाज से आगे रहता है, इसलिए मानसिकता में बदलाव सबसे पहले वहीं हुआ है। हमारे समकाल में स्त्री का लेखन, आधी दुनिया को नहीं, सम्पूर्ण सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक व्यवस्था की विडम्बना को कथ्य बनाता रहा है।

तार्किक रूप से हमारा समकाल 1960 के बाद शुरु हुआ। आज़ादी के दस-पन्द्रह बरस बाद तक तो हम सपने ही देखते रहे कि हम, अपनी नायाब गुट-निरपेक्ष नीति और मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के सहारे, विश्व गुरु बनने वाले हैं। 1962 में, जब चीनी हमले में हमें शिकस्त दी तो यह सपना टूटा। गुट निरपेक्ष नीति कदापि ग़लत नहीं थी; ग़लत था चीन पर विश्वास करना।

1975 में, घोषित आपात काल और 1984 में प्रधान मंत्री की हत्या के बाद, वी.आई.पी सुरक्षा के बिछे जाल पर हो रहे बेहिसाब खर्च ने जिस समाज को जन्म दिया, उसमें केवल दो वर्ग थे, वी.आई.पी, जिसे अमरीका की टक्कर की सुविधाएं प्राप्त थी और ग़ैर वी.आई.पी, जिसके लिए रिश्वत दिये बिना, बुनियादी ज़रूरतें तक पाना दुश्वार था। हमारा मध्य वर्ग इन्हीं के बीच झूलता बेपेंदी का लोटा था।

उसके तुरंत बाद, आर्थिक नीतियों के उदारीकरण और खुले वैश्विक बाज़ार में हम दुनिया के बाज़ार बने। हमारी आर्थिक व सामाजिक विषमताएं घटने के बजाय, बढ़ती गईं। 1984 में भोपाल गैस काण्ड हुआ। अपराधी अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनी के प्रति, सरकार के अधीनस्थ रवैये ने साबित कर दिया कि, हम तब तक, औपनिवेशिक मनःस्थिति में जी रहे थे। समता रहित विकास की प्रक्रिया चलती रही। यह सब कहने का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि इस दौरान, सकारात्मक कुछ हुआ ही नहीं। बहुत कुछ हुआ; प्रौद्योगिक और तकनीकी विकास हुआ; शिक्षा दर बढ़ा, रोज़गार के क्षेत्रों में इज़ाफ़ा हुआ; निजी व्यवसाय करने के अवसर बढ़े। ख़ासकर स्त्रियों के लिए।

उस दौरान लिखी कृतियों की पड़ताल करें तो उसमें स्त्रियाँ बहुतायत से हैं।

हिन्दी में यथार्थवादी कथा साहित्य का वर्चस्व रहा है। कथा साहित्य में यथार्थ तो हर हाल रहता ही है। पर वह मात्र समकालीन परिवेश, व्यवस्था, अनुभूत या ऐतिहासिक घटनाओं का नहीं होता। जो तत्व, उसे वृतान्त या दस्तावेज़ से आगे ले जा कर, उपन्यास या कहानी बनाता है, वह लेखक की जीवन दृष्टि और चिन्तन है। और वह रचना में अन्तर-गुंफित रहता है। यथार्थ से मुक्ति सम्भव नहीं है। उपन्यास का स्वरूप फ़ंतासी का हो जैसे मनोहरश्याम जोशी के "हरिया हर्क्यूलीज़ की हैरानी" का है, तब उसमें यथार्थ अधिक तीक्षण और विचारोत्तजक रूप से व्यंजित होता है; विद्रूप और मोहभंग को उभारता है। मुक्तिबोध ने कहा था न, कथा में अनुभूत का वह स्वरूप पुनर्संजित होता है, जो स्मृति, कल्पना और वाँछा से समृद्ध हो।

महत्वपूर्ण सवाल है कि क्या 1962 या 1975 के बाद के यथार्थ को हिन्दी कथा साहित्य ऐसी अभिव्यक्ति दे सका है, जिसने पाठकों में मूल्य व्यवस्था से प्रतिरोध करने की चेतना जगाई हो।

जहाँ तक नये क्षेत्रों, अंचलों, जातियों, वर्गों का सवाल है, इस काल में बहुतों को लेखन में स्थान मिला है। ख़ासकर स्त्री और दलित को। जब भुक्त भोगी लिखते हैं तो उसका स्वरूप उससे भिन्न होता है, जो संवेदनशील दर्शक या चिन्तक उनके बारे में लिखता है। पर समग्र सत्य को ग्रहणशील बनाने में दोनों महत्वपूर्ण हैं। बल्कि जिसकी सामाजिक चेतना, संवेदन शक्ति व ऐतिहासिक स्मृति अधिक गहन व सूक्ष्म होगी, वही उसके निरूपण में अधिक सक्षम होगा। दिलचस्प तथ्य यह है कि 1975 के बाद के जो महत्वपूर्ण राजनीतिक-सामाजिक-ऐतिहासिक सरोकारों के उपन्यास मुझे तत्काल याद आ रहे है, उनमें से अधिकतर स्त्रियों ने लिखे हैं। मसलन कृष्णा सोबती का ज़िन्दगीनामा, मन्नू भन्डारी का महाभोज, मंजुल भगत का ख़ातुल, नासिरा शर्मा का सात नदियाँ, एक समन्दर, अजनबी जज़ीरा और कुंइयाजान; चन्द्रकान्ता का ऐलान गली ज़िन्दा है और कथा सतिसर, चित्रा मुदगल का आंवा, मृणाल पाण्डे का पटरंगपुर पुराण, अलका सरावगी का कलीकथा वाया बाइपास, गीतांजलि श्री का हमारा शहर उस बरस, क्षमा कौल का दर्दपुर और मधु कांकरिया का ढलती सांझ का सूरज। यह सहज सम्भव है कि स्त्री केन्द्रित उपन्यास, इतिहास, राजनाति, समाज, और

हिन्दी में यथार्थवादी कथा साहित्य का वर्चस्व रहा है। कथा साहित्य में यथार्थ तो हर हाल रहता ही है। पर वह मात्र समकालीन परिवेश, व्यवस्था, अनुभूत या ऐतिहासिक घटनाओं का नहीं होता। जो तत्व, उसे वृतान्त या दस्तावेज़ से आगे ले जा कर, उपन्यास या कहानी बनाता है, वह लेखक की जीवन दृष्टि और चिन्तन है। और वह रचना में अन्तर-गुंफित रहता है। यथार्थ से मुक्ति सम्भव नहीं है। उपन्यास का स्वरूप फ़ंतासी का हो जैसे मनोहरश्याम जोशी के "हरिया हर्क्यूलीज़ की हैरानी" का है, तब उसमें यथार्थ अधिक तीक्षण और विचारोत्तजक रूप से व्यंजित होता है; विद्रूप और मोहभंग को उभारता है। मुक्तिबोध ने कहा था न, कथा में अनुभूत का वह स्वरूप पुनर्संजित होता है, जो स्मृति, कल्पना और वाँछा से समृद्ध हो।

व्यवस्था के विद्रूप की सूक्ष्म व्यंजना व प्रेरक प्रतिरोध करे जैसे पटरंगपुर पुराण या ठीकरे की मंगनी और पुरुष केन्द्रित उपन्यास, स्त्रीवादी विमर्श का सबल प्रतिपादन करे, जैसे अनित्य और ज़िन्दगीनामा। एकदम हाल में छपे कुछ स्त्री लिखित सामाजिक मूल्य के उपन्यास हैं, अलका सरावगी का 'कुलभूषण का नाम दर्ज कीजिए।' उसमें उन्होंने ऐसा अनूठा किरदार गढ़ा है जो किसी और जगह नहीं मिलेगा। देश से बेदखल, परिवार से बेदखल, बिरादरी से बेदखल, नाम बदल कर भी चैन से बेदखल, कुलभूषण हर परिवार में होते हैं। सब के सब भूलने के बटन की तलाश में भटकते हैं पर मिल कर नहीं देता। ऐसा आदमी जो बेईमान भी है और ईमान का पुतला भी, जो अपनो की चोरी कर सकता है तो चुराए माल से बेगानों की जिंदगी बहाल भी। जो सैंकड़ों से बेहतर इंसान है पर इंसानियत कमाने के साधनों के अभाव में, समाज में इंसान की तरह स्वीकृत नहीं हो पाता। उसकी त्रासदी चेखव की "ग्रीफ़" कहानी के नायक की तरह है, जो बेटे की मौत की खबर अपने घोड़े से साझा करने पर मजबूर है। कुछ और अलहदा उपन्यास जो मैंने पढ़े हैं, वे हैं, मधु कांकरिया का किसान त्रासदी पर "ढलती सांझ का सूरज।" मधु को युवा लेखक नहीं कहा जा सकता पर इस उपन्यास का कथ्य ज़रूर युवा है। ऋण से बर्बाद गांव का ग़म प्रेमचंद के बाद उसी गर्मजोशी से उकेरा है मधु ने, इस ऋण प्रमुख विश्व में। जब कर्ज़ लेने वाला विपन्न हो और देनेवाला, साहूकार की तरह सम्पन्न ही नही, सत्ता पर काबिज़, कानून बनाने वाला भी, तो असर और खौफ़नाक हो जाता है। ज़िन्दा नहीं रहने देता। किसी टर्मिनल बीमारी की तरह निगल जाता है, आत्महत्या का आह्वान करके। और ज़रूर पढ़िए आज के बेमुरव्वत परिवेश पर नीलेश रघुवंशी का "शहर से दस किलोमीटर दूर।" यह उपन्यास साइकिल के इश्क़ में डूबे एक जोड़ी पैरों की परिक्रमा के साथ खुलता है, जो शहर के बीच से शुरू होती है और उसके दस किलोमीटर बाहर तक जाती है। वहां वह दुनिया बसती है जो शहरों की न कल्पना का हिस्सा है, न सपनों का। वह अपने दुखों, अपने सुखों, अपनी हरियाली और सूखों के साथ अपने आप में भरी-पूरी है। वहाँ खेत है, ज़मीन है, कुछ बंजर, कुछ पठार, कुछ उपजाऊ और उनसे जूझते, उनकी वायु में साँसें भरते लोग हैं, उनकी गाएँ भैंसें और कुत्ते हैं; और आपस में सबको जोड़नेवाली उनकी रिश्तेदारियाँ हैं, झगड़े हैं, शिकायतें हैं, प्यार है! वह लड़की उसी सफ़र में हम आप से कहीं बड़ी हो जाती है।

स्त्री लिखित कहानियों का उदाहरण लें तो 1970–90 में मंजुल भगत की नई ज़मीन तोड़ने वाली कहानियों, नागपाश, बानो, बेबेजी से जो सिलसिला शुरु हुआ था, उसमें अनेक श्रेष्ठ कहानियाँ जुड़ी हैं। नमिता सिंह की बसन्ती काकी, चन्द्रकान्ता की आवाज़, पोशनूल की वापसी और काली बर्फ़, चित्रा मुद्गल की भूख, ममता कालिया की जाँच अभी

आज नारीवाद के उत्तर युग में मातृत्व को फिर से शक्ति के रूप में पहचाना जा रहा है। उसके कारण हम सांस्कृतिक, ऐतिहासिक व प्रौद्योगिक परिप्रेक्ष्य में देख सकते हैं। पुराने ज़माने में स्त्री के लिए सम्भोग का आह्लाद अनचाहे गर्भ धारण की आशंका से आक्रान्त रहता था। पुरुष सत्तात्मक समाज ने मातृत्व को महिमा मंडित ज़रूर किया पर केवल उसी को, जो पुरुष से विवाह के बाद प्राप्त हो। विवाह-पूर्व या विवाहेत्तर प्रेम से ठहरे गर्भ को कलंकित माना जाता रहा। यानी स्त्री की गरिमा माँ बनने में नहीं, पुरुष को विधिवत पिता बनाने में थी। स्त्री की अनन्य सामर्थ्य से जो सत्ता जन्म ले सकती थी, उसके भय से उबरने का, पुरुष के पास यही उपाय था कि उसे अपने संरक्षण और प्रभुत्व में ले ले।

ज़ारी है, सिम्मी हर्षिता की ठहरी हुई बूंदे, राजी सेठ की बाहरी जन, नमिता सिंह की जंगलगाथा। ये सब समाज में व्याप्त विषमता को व्यंजना सहित उजागर करती हैं। सुधा अरोड़ा की कहानी काँच के इधर-उधर आज के विषम समाज में पनप रहे पर्यावरण के ह्रास को सशक्त कथात्मक रूप देती है।

इसी के भीतर से मेरा दूसरा मन्तव्य उभरता है। महत्वपूर्ण यह नहीं है कि पात्र कहाँ से उठाये गये हैं या वे क्या कहते हैं, बल्कि यह कि वे क्या करते हैं। उनके किये को पढ़ कर ही पाठक, रूढ़िगत मान्यताओं और अन्याय से प्रतिरोध की प्रेरणा पाता है। कभी-कभी लेखक भी अपने पात्रों के कर्म से प्रेरित होता है और सोचता है कि अगर अमुक पात्र जोखिम भरा क़दम उठा सका तो वह खुद क्यों नहीं उठा सकता।

तीसरी बात, कुछ मूल्य सनातन होते हैं, जैसे करुणा, संवेदना, न्यायप्रियता, कर्मठता, विवेक और सबसे ऊपर, समता का भाव। लेखक एक परिवेश चुनता है और कुछ पात्र; फिर उनकी जीवन यात्रा के माध्यम से, अपने विवेक का उपयोग करके, इन मूल्यों को प्रतिपादित करता है। लेखक की प्रतिबद्धता विवेक से होती है और उसके ईमानदार विवेचन से।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि समता के सनातन मूल्य को वैज्ञानिक आधार सबसे पहले मार्क्सवाद ने दिया था। पर जहाँ-जहाँ व्यवहारिक रूप से मार्क्सवाद अपनाया गया, वहाँ मतभेद और प्रतिरोध को निषिद्ध करके, अति को जीवन दर्शन की तरह अपनाया गया। इसलिए वह मार्क्सवादी दर्शन में ही प्रतिपादित ऐतिहासिक विघटन का शिकार हो गया। व्यक्ति की विचार करने की क्षमता खत्म हो जाए तो वह समय के साथ चलने के नाक़ाबिल हो जाता है। मनोहरश्याम जोशी ने अपने उपन्यास क्याप में इस ऐतिहासिक प्रक्रिया की प्रभावशाली और व्यंजनात्मक प्रस्तुति की है।

स्त्री रचित लेखन पर का उसके असल योगदान यह कि, उसके माध्यम से नये रूपक उभर कर आए हैं। रूपक शून्य में नहीं, लम्बे अनुभव और प्रतिरोध से उपजते हैं और लेखन के नये मानक स्थापित करते हैं। स्त्री लेखन ने मातृत्व और देह की शुचिता से जन्मे अपराधबोध के रूपकों में बदलाव व विस्तार किया है।

पहले चरण की स्त्रीवादी विचारधारा का मानना था, स्त्री और पुरुष के स्वभाव में मूलभूत अंतर नहीं है। सारा मसला ऐतिहासिक प्रभुत्व और उससे उत्पन्न संस्कार का है। दूसरे चरण में जब पश्चिम में, स्त्री पर लिंग-आधारित आघात कम होने लगा तो चिंतकों की दृष्टि, स्त्री के आंतरिक जीवन की तरफ़ मुड़ी।ब तब उनका यह मानना हुआ कि स्त्री का स्वभाव पुरुष के स्वभाव से भिन्न है और स्त्री के सत्ता में आने पर,व्यवस्था अधिक मानवीय, न्यायप्रिय और शांतिप्रिय होगी। इसका कोई दृष्टान्त नहीं मिलता, न इतिहास में, न अब, फिर भी मनोकामना बनी हुई है।

इसमें शकोशुबहा नहीं है कि मातृत्व वह अकेली सामर्थ्य है जहाँ एक प्राणी दूसरे जीव को, बिला बाह्य निधि का सहारा लिये, पहले नौ महीने गर्भ में और एक-डेढ़ साल जन्म के बाद, जीवित-पोषित रख सकती है। पर यही शक्ति स्त्री की सबसे बड़ी कमज़ोरी भी बनती है। पारिवारिक और सामाजिक सत्ता, शिशु से स्त्री के अतिरिक्त लगाव को उसे कमज़ोर बनाने और उसका शोषण करने के लिए इस्तेमाल करती है।

आज नारीवाद के उत्तर युग में मातृत्व को फिर से शक्ति के रूप में पहचाना जा रहा है। उसके कारण हम सांस्कृतिक, ऐतिहासिक व प्रौद्योगिक परिप्रेक्ष्य में देख सकते हैं। पुराने ज़माने में स्त्री के लिए सम्भोग का आह्लाद अनचाहे गर्भ धारण की आशंका से आक्रान्त रहता था। पुरुष सत्तात्मक समाज ने मातृत्व को महिमा मंडित ज़रूर किया पर केवल उसी को,जो पुरुष से विवाह के बाद प्राप्त हो। विवाह-पूर्व या विवाहेत्तर प्रेम से ठहरे गर्भ को कलंकित माना जाता रहा। यानी स्त्री की गरिमा माँ बनने में नहीं, पुरुष को

विधिवत पिता बनाने में थी। स्त्री की अनन्य सामर्थ्य से जो सत्ता जन्म ले सकती थी, उसके भय से उबरने का, पुरुष के पास यही उपाय था कि उसे अपने संरक्षण और प्रभुत्व में ले ले।

फिर स्त्री के हाथों में वह प्रौद्योगिक क्षमता आई, जिसने सम्भोग से अनचाहे गर्भ धारण का डर मिटा दिया। यानी यह सही समय है, जब हम मातृत्व के जटिल प्राकृतिक और वैयक्तिक पक्ष को समझने की कोशिश करें।

लम्बे समय तक अनेक पुरुष और कुछ स्त्री लेखक भी, प्रसव को तिलिस्म से मढ़ कर चित्रित करते आए थे। पर उसका बहुआयामी और यथार्थ चित्रण हुआ तो वह स्त्रियों ने ही किया। टोनी मारिसन (बिलवड), नाद्या तेसिच (आख़री बयान की तलाश में), मंजुल भगत (नागपाश) निकोल वार्ड जोव (फ़ोर्सेप बर्थ); अलग देशों की स्त्री लेखकों की कहानियाँ हैं, जो इस विषय को अनेक कोणों से देखती हैं। हास्य-व्यंग से ले कर भय या करुणा के साथ। हिन्दी साहित्य में मातृत्व के व्यापक रूप का चित्रण सभी महिला कथाकारों ने किया है। चाहे वे मन्नू भन्डारी (आपका बंटी), मंजुल भगत (नालायक़ बहू), राजी सेठ (मार्था के देश में व गणित ज्ञान), सुधा अरोड़ा (महानगर की मैथिली)। ममता कालिया, चन्द्रकान्ता, कमल कुमार जैसी वरिष्ठ लेखिकाएं हों या अस्सी के दशक के बाद की अलका सरावगी, गीतांजली श्री, सारा राय, नीलाक्षी सिंह, महुआ माज़ी, अल्पना मिश्र जैसी नई लेखिकाएं।

पिछले छह दशकों के स्त्री लिखित कहानी व उपन्यासों में मातृत्व को शिशु जन्म तक सीमित न रख कर पोषक तत्व की तरह पहचाना गया है। यानी वह सिर्फ़ बच्चे का नहीं, किसी भी ज़रूरतमंद प्राणी, संस्था, पर्यावरण या परिवेश का पोषक होता है। निहितार्थ यह हुआ कि यह तत्व केवल स्त्री में नहीं, पुरुष में भी पाया जाता है।

याद रहे कि एक भयानक सत्य यह भी है कि माँ, पोषक ही हो, ज़रूरी नहीं है। समकालीन उपन्यासों ने पहचाना है कि माँ शोषक भी हो सकती है। कई उपन्यासों में माँ की कुटिलता और क्षुद्रता का अद्भुत चित्रण मिलता है। उदाहरण के लिए चित्रा मुद्गल के आवां और सिम्मी हर्षिता के जलतरंग को ले सकते हैं। आवां में नमिता की माँ के का चरित्र हिन्दी साहित्य में चिरकाल से चले आ रहे माँ के महापात्र का अविस्मरणीय विघटन करता है। अपराधबोध से अछूती, आत्म-लिप्त, छोटी-छोटी कुटिलताओं से छोटी-छोटी सुविधाएँ जुटाती माँ, जिसके लिए बेटी ऐसा उपकरण है जिसे किसी मानवीय सरोकार की ज़रूरत नहीं है। वह उसका पैसा भी तभी तक चाहती है, जब तक वह उसे खट खट कर कमाये, सफलता, जीवन-रस पाकर नहीं। वह स्वयं, रसीली औरत की तरह हास-परिहास कर सकती है, ज़िंदगी को भरपूर जी सकती है। पर बेटी के लिए दारोगा बनी रहती है। जीवन में ऐसी अनेक माएँ दिख जाएँगी पर साहित्य में उनका परत-दर-परत उघड़ता रूप विरल है।

बेटी की माँ का इससे भी बदतर रूप, सिम्मी हर्षिता के जलतरंग में मिलता है। टूटी टाँग ले कर, बाँकर के सहारे चल, उम्रदराज़ हुई अविवाहित लड़की, भली-चंगी माँ के कमरे में रात को दूध पहुँचाती है! कल्पना करके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। कारण मात्र यह है कि उसने अपनी मर्ज़ी से अविवाहित रहने की धृष्टता की है। वह ख़ुद कमाती है, परिवार पर बोझ नहीं है बल्कि उसका सम्बल है, फिर भी उसके शोषण का अन्त नहीं है।

इस उपन्यास की विशिष्टता यह है कि इसमें स्त्री पात्रों का यौनिक शोषण नहीं होता। शोषण होता है, मन का, चेतना का, प्रगति का, अस्मिता का, स्वास्थ्य का। उपन्यास में पग-पग पर बलात्कार है पर हमला आत्मा और अस्मिता पर है, देह या यौनिकता पर नहीं।और यह हमला केवल पुरुष नहीं, स्त्रियाँ भी करतीं हैं, नाते रिश्तेदार,स्कूल का प्रिन्सिपल, संगी-कुलीग और सबसे ज़्यादा करती है, माँ।

दूसरा रूपक जो बदला है उसका ताल्लुक अपराधबोध से मुक्ति से है। मैं उसे लज्जा परित्याग की संज्ञा देती हूँ। पहले-पहल लज्जा परित्याग यौनिकता के संदर्भ में हुआ। उसके साथ ही आजकल देह की स्वतंत्रता के नाम पर, उसके विचारहीन उपभोग और विक्रय को स्त्री मुक्ति का नाम देने का अभियान चला हुआ है, उसका विरोध नहीं किया गया तो स्त्री साहित्य का भयंकर नुकसान होगा। साहित्य का सत्व, चेतना, प्रज्ञा, मनीषा, अस्मिता और भावप्रवणता द्वारा, हर प्रकार का अतिक्रमण करने में है। देह स्वस्थ-सशक्त हो तब भी प्रज्ञा का संचालन हट जाए तो अशक्त हो जाती है। ज़ाहिरा तौर पर सारा काम देह करती है, खाना पकाना हो, गोली मारनी हो, शिशु को जन्म देना हो, सितार बजाना हो या कलम चलानी हो। पर करती मस्तिष्क के संचालन में है।

ख़ुशी की बात यह है कि स्त्री लेखकों के बड़े भाग ने लज्जा व भय का परित्याग केवल यौनिकता के संदर्भ में नहीं, मूल्य-व्यवस्था की विवेक-सम्मत पड़ताल करने के प्रयोजन से किया। आज का स्त्री लेखन, लज्जा जनित डर से काफ़ी मुक्त हो सका है; इसलिए आक्रोश, अस्मिता व सामाजिक सरोकार से आगे जा कर, निजी विवेक, जीवन दर्शन, कल्पना, चिन्तन और वांछा के माध्यम से बहुआयामी यथार्थ को पुनर्संजित करके, ऐसे कथानक बुन रहा है, जो साहित्य को नये रूपक व परिपक्व दृष्टि दे रहे हैं। उन कथानकों के काफ़ी उदाहरण मैंने ऊपर दिये हैं। वे मात्र उदाहरण हैं, स्त्री रचित कथा कृतियों की सूची नहीं। ऐसी अनेकानेक कृतियाँ हैं, जिन्हें खोज कर पढ़ने के लिए मैं आपको आमंत्रित करती हूँ।

बस इतना याद रखें कि पढ़ना उन्हें साहित्यिक कृतियों की तरह है, स्त्री लिखित परनिन्दा पुराण या देह के व्यथा राग की तरह नहीं।●

सौ साल पहले की कथा:

अ पैसेज टू इंडिया ई.एम. फ़ोर्स्टर (1924)

अंग्रेजी के तीन विश्व प्रसिद्ध लेखकों का भारत से संबंध रहा जिनमें रुडयार्ड किपलिंग ई.एम. फॉर्स्टर और जॉर्ज ऑरवेल शामिल हैं। किपलिंग का तो मुम्बई में जन्म हुआ तो ऑरवेल का बिहार के मोतिहारी में जन्म हुआ फॉर्स्टर तो देवास के महाराज के वर्षों निजी सचिव रहे। फॉर्स्टर प्रेमचन्द से करीब एक वर्ष बड़े थे और उनका विश्व प्रसिद्ध उपन्यास ''ए पैसेज टू इंडिया'' के प्रकाशन के १०० वर्ष पूरे हो रहे हैं। यह उपन्यास इतना लोकप्रिय हुआ कि डेविड लीन ने उन पर एक फिल्म बनाई थी और लन्दन में बस गये। भारतीय लेखक नीरज सी चौधरी ने तो जवाब में ''ए पैसेज टू इंग्लैंड'' नामक एक किताब भी लिखी थी। हिंदी की प्रसिद्ध लेखिका अलका सरावगी ने फॉर्स्टर के उपन्यास के १०० साल पूरे होने पर उसका नए सिरे से मूल्यांकन किया है।

अलका सरावगी

फोर्स्टर का भारत में ब्रिटिश राज पर लिखा यह उपन्यास अपनी गहन, भेदक मनोवैज्ञानिक दृष्टि और कलात्मक ऊँचाई के कारण निस्संदेह एक क्लासिक है। सौ साल बाद भी यह उपन्यास उतना ही प्रासंगिक है क्योंकि इससे उठते सवालों का कोई हल आज भी मनुष्य को नहीं मिला है। गोरी-काली-साँवली-पीली नस्लों में बँटी मानवता के बीच आपसी रिश्तों में क्या दोस्ती सम्भव है और वह भी तब जबकि गोरी नस्ल के लोग साँवली नस्ल पर राज कर रहे हों? क्या इस देश के हिंदू-मुसलमान कभी एकत्व का अनन्य अनुभव कर सकते हैं?सबसे दिलजोई करनेवाली बात यह है कि फ़ोर्स्टर यहाँ किसी को उसकी कमियों के लिए बख्शते नज़र नहीं आते। न खुद अपनी नस्ल को रंगभेद के लिए और न इंडिया के लोगों को उनकी कमज़ोरियों के लिए। इसी के बीच वे इंडिया नाम की गुत्थी को न सिर्फ़ खुद के लिए सुलझाने की चेष्टा करते दिखते हैं, बल्कि सौ साल बाद भी आज हमें अपनेआप को देखने की दृष्टि देते हैं।

डॉक्टर अज़ीज़ भारत में नई आई दो अंग्रेज औरतों, एडेला और उसकी होनेवाली सास मिसेज़ मूर की 'असली इंडिया' को देखने की इच्छा पूरी करने के लिए उन्हें मरमर गुफ़ाएँ घुमाने ले जाता है। मिसेज़ मूर से उसकी पहली मुलाक़ात एक मस्ज़िद में हुई थी और उन दोनों के बीच काफ़ी दोस्ताना पनप गया था। हालाँकि मिसेज़ मूर का मजिस्ट्रेट बेटा इंडियन लोगों को शक और नीची निगाह से देखता है, पर वह उन्हें रोक नहीं पाता। गुफाओं में कुछ रहस्यमय घटता है और उसकी परिणति होती है एडेला का डॉक्टर अज़ीज़ पर बलात्कार की चेष्टा का आरोप और उसे जेल भेजा जाना। डॉक्टर अज़ीज़ का अंग्रेज मित्र कॉलेज का प्रिंसिपल फ़ील्डिंग अपने हमवतनों का साथ न देकर डॉक्टर अज़ीज़ का साथ देता है। अंततः एडेला स्वीकार कर लेती है कि उसे अज़ीज़ पर बेवजह शक हुआ था और अज़ीज़ रिहा कर दिया जाता है।

अज़ीज़ अंग्रेजों के प्रति घृणा का अनुभव करता है और वह हिंदुओं के प्रति हिक़ारत रखने के बावजूद, मऊ के हिंदू राजा का चिकित्सक बन दूर चला जाता है। वह अपना साथ देनेवाले अंग्रेज फ़ील्डिंग के प्रति भी संदेह से भर जाता है। उसे लगता है कि फ़ील्डिंग का इरादा एडेला से शादी करने का था और इसीलिए उसने एडेला की सिफ़ारिश कर मानहानि के बीस हज़ार रुपयों की माफ़ी अज़ीज़ से दिलाई थी। कथा के अंत में ग़लतफ़हमी दूर होती है पर अज़ीज़ फ़ील्डिंग से कहता है- ''इंडिया एक राष्ट्र बनेगा! किसी तरह के कोई विदेशी की यहाँ जगह नहीं! हिंदू, मुस्लिम और सिख सब एक होंगे.. भागो अंग्रेजों यहाँ से! हम भले एक दूसरे से नफ़रत करते हों, पर हम सबसे ज़्यादा तुमसे नफ़रत करते हैं.. और तब.. तब मैं और तुम दोस्त होंगे!''

ज़ाहिर है कि उपन्यास की कथा बेहद रोचक और नाटकीय मोड़ों से गुज़रती है। चाहे कोई पात्र हो या प्रकृति-परिवेश, फ़ोर्स्टर उतनी ही बारीकियों से उसे पाठक की आँखों के सामने खड़ा कर देता है। उसकी शैली को हरीश त्रिवेदी 'रियलिस्ट कॉमिक-आयरॉनिक' कहते हैं, यानी कि हास्य-व्यंग्यपूर्ण यथार्थवादी शैली। बिलकुल सही, लेकिन अंग्रेज होते हुए भी फ़ोर्स्टर मुग़ल शासकों से विमुग्ध डॉक्टर अज़ीज़ और हिंदू ब्राह्मण गोडबोले के बीच ऐसी मित्रता दिखाता है, कि वे दोनों मज़ाक़ करते हैं कि अज़ीज़ 'ऑनरेरी ब्राह्मण' है। यानी कि फ़ोर्स्टर के पास हमारे लिए एक संदेश भी है।

ई.एम. फोर्स्टर

फ़ोर्स्टर ने खुद कहा है कि 'अ पैसेज टू इंडिया' की मुख्य थीम व्यक्तिगत रिश्ते हैं। डॉक्टर अज़ीज़ मिसेज़ मूर को शुरू में और उपन्यास के अंत में उनके बेटे को उनकी अंतःप्रज्ञा (इंटूशन) की झलक देखकर प्रशंसा में कह उठता है, "तब तो आप ओरिएंटल हैं!" यानी पूरब और पश्चिम में भेद यह है कि पूरब के पास सहज अंतर्ज्ञान है जबकि पश्चिम ने इसे खो दिया है। मिसेज़ मूर के साथ अज़ीज़ का रिश्ता अद्भुत है जो कि एक दूसरे के प्रति भीषण भरोसे पर टिका है। मिसेज़ मूर अपने बेटे की अंग्रेजों के विशिष्ट होने की ग्रंथि से पूरी तरह से मुक्त हैं और वे मानती हैं कि मनुष्य इस दुनिया में हर किसी के प्रति सौहार्द के लिए आया है।

उपन्यास में अज़ीज़ और एडेला की मुख्य कथा एक साँवली यानी नीची नस्ल द्वारा एक अंग्रेज औरत के बलात्कार के मुद्दे को उठाकर क्या कहना चाहती है? अज़ीज़ एडेला के प्रति ज़रा भी आकर्षित नहीं है और गुफ़ा की सैर की योजना के पीछे उसकी उदारता और मिसेज़ मूर के प्रति श्रद्धा है। फ़ोर्स्टर की कथा में एडेला अपनी ग़लती स्वीकार करने की हिम्मत

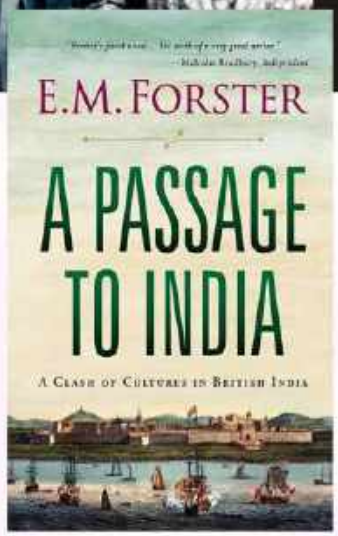

दिखाकर अपनी ही जाति का तिरस्कार झेलती है। फ़ोर्स्टर ने अंग्रेज अफ़सरों और उनकी औरतों को भारतीय लोगों के प्रति पूरी तरह अनुदार और असहिष्णु दिखाया है और इनके बरक्स मिसेज़ मूर, एडेला और फ़ीलिंडग हैं, जो ब्रिटेन के उदार प्रजातांत्रिक मूल्यों को इस गर्म देश में भाप बन उड़ जाते देख संत्रास और अपराध-बोध का अनुभव करते हैं। गुफ़ा की घटना की निष्पत्ति से मानो फ़ोर्स्टर अपनी नस्ल की अमानवीयता के प्रति पश्चाताप करते हैं।

अब इंडिया नाम की गुत्थी पर आएँ। उपन्यास की शुरुआत में ही फ़ीलिंडग कहता है- "अज़ीज़ और मैं जानते हैं कि इंडिया एक 'मडल' (गड़बड़झाला) है।" वह यह भी कहता है कि रहस्य या 'मिस्ट्री' इस गड़बड़झाले को ही एक दिया गया अच्छा सा नाम है। आगे जाकर गुफ़ा में ठीक-ठीक क्या घटता है, यह कभी स्पष्ट नहीं होता। क्या वहाँ सचमुच कोई था जो एडेला को बिना छुए खींच रहा था, सचमुच का मनुष्य या भूत या यह उसका वहम मात्र था! हरीश त्रिवेदी पूछते हैं, क्या यहाँ फ़ोर्स्टर इंडिया नाम की इस गुत्थी को और रहस्यमय बनाना चाह रहे थे?किंतु आधुनिक जादुई यथार्थवाद के तराजू में तौल कर देखें, तो अंधेरी गुफ़ा के सन्नाटे में गूंज किसी को पगला दे या भ्रमित कर दे, यह कोई बेलगाम कल्पना भी नहीं। सच पूछें, तो मिसेज़ मूर के हवाले से गूंज की व्याख्या भी की गई है- "हर चीज़ का अस्तित्व है, मूल्य किसी का भी नहीं।" लेखक को इतनी छूट मिलनी जायज़ है कि मिसेज़ मूर को गुफ़ा में क्लॉस्ट्रोफ़ोबिया जैसे अनुभव के बाद जीवन के प्रति अवसाद हो जाये।

इंडिया की गुत्थी पर फ़ोर्स्टर के विचार उपन्यास में अन्यत्र भी हैं। जन्माष्टमी के जुलूस का विशद चित्रण करते हुए लेखक कहता है, "वे जो कर रहे थे उसमें एक ऐसी बात न थी जिस कोई ग़ैर-हिंदू नाटकीय तौर पर भी समझ पाता; उनकी यह विजय-यात्रा एक गड़बड़झाला ही थी, उसमें न कोई तर्क था न रूपाकार।" बात ठीक ही है, क्योंकि जैसा कि होता आया है, जुलूस के भगवान तमाम देवी-देवताओं की मूर्तियों और गुलाब-पत्तियों और दूसरे तामझाम के अंबार में ढके हुए स्वयं ही आँखों से ओझल थे। पर इस तरह के वर्णन से फ़ोर्स्टर की हिंदुओं के बारे में धारणा का जो निष्कर्ष पाठक निकालेगा, उसके विपरीत फ़ोर्स्टर को भक्तों के चेहरों पर "अपूर्व सुंदर जगमगाहट" दिखती है जो कभी अंग्रेजों की भीड़ में नहीं होती। वह लिखता है कि जैसे ही बारह बजे, शंख बजने लगे, हाथी चिंघाड़ने लगे, चारों ओर अबीर-गुलाल उड़ा, घंटे-घड़ियाल और पुकारों के शोरगुल में "असीम प्रेम जैसे कृष्ण के रूप में अवतरित हुआ और उसने संसार को बचा लिया।" फ़ोर्स्टर पूछता है, "गॉड इस लव। क्या इंडिया का यही अंतिम संदेश है?" (जन्माष्टमी की सज्जा में एक झूलते हुए बैनर पर अंग्रेज़ी में ग़लत हिज्जे में लिखा है, God is love)।

उपन्यास की बिलकुल शुरुआत में फ़ोर्स्टर चन्द्रपुर, जहाँ के बारे में उपन्यास है, को नितांत मामूली जगह बताते हैं, जहाँ गंगा है पर पवित्र नहीं लगती क्योंकि उसके सामने बाज़ार पसरा हुआ है। सड़कें संकरी हैं, मंदिर उजड़े से। सिर्फ़ अंग्रेजों के रहने की जगह, सिविल स्टेशन की ऊँचाई से चन्द्रपुर के पेड़ उसकी ज़हालत को ढक देते हैं और वह झोपड़ियों के बीच एक जंगल जैसा दिखता है। और लोग कैसे हैं?अंग्रेजों की पार्टी में मिसेज़ भट्टाचार्य इंग्लैंड से आई दोनों नई औरतों को घर बुलाने के लिए अगले दिन घोड़ागाड़ी भेजने का समय तय करती हैं, पर वे दोनों इंतज़ार करती रह जाती हैं। अज़ीज़ कहता है, हिंदू ऐसे ही होते हैं, सुस्त और असामाजिक। पर जब एडेला उसके घर आने का निमंत्रण स्वीकार कर लेती हैं, तो वह सोचता है, "या खुदा! इस मूर्ख लड़की ने मेरी बात को सच समझ लिया!" यानी कि फ़ोर्स्टर यह बता रहा है कि सभी भारतीय एक जैसे हैं। कॉलेज प्रिंसिपल फ़ीलिंडग के घर पार्टी में में रॉनी आकर आपत्ति करता है कि एडेला को दो इंडियंस के साथ अकेला छोड़ फ़ीलिंडग उसकी माँ मिसेज़ मूर को कॉलेज दिखाने ले गया। फ़ीलिंडग बाद में सोचता है कि क्या यूरोप में कोई ऐसा क्षुद्र व्यवहार करता? फिर वह कहता है, "इंडिया में प्रशांति का कोई उपलब्ध स्रोत भी तो नहीं, कि कोई उससे कुछ रस खींच ले।"

इंडिया की ऐसी आलोचना के बरक्स ब्रिटिश लोगों का व्यवहार कितना संयत है, फ़ोर्स्टर इसे एडेला के रॉनी से सगाई तोड़ने के समय व्यवहार से बताते हैं। एडेला सोचती है कि ऐसे मौक़े पर उन दोनों में से किसी एक को बहुत भावनापूर्ण या उदात्त कुछ कहना चाहिए था। फिर वह कहती है, "हम अपने व्यवहार में बुरी तरह से ब्रिटिश हैं, पर शायद यह ठीक ही है।" नवाब बहादुर की गाड़ी का एक्सीडेंट होने पर एडेला और रॉनी के लिए फ़ोर्स्टर लिखते हैं, "जिस तहज़ीब से वे जवान लोग पले थे, वे एक्सीडेंट से विचलित नहीं थे.. अंग्रेज किसी भी मुसीबत में शांत रहते हैं ..."।

हिंदू-मुसलमान के आपसी रिश्तों और उसमें अंग्रेजों की भूमिका की झलक मुहर्रम के वर्णन में है। ताजिये की ऊँचाई ज़्यादा होने से पीपल की शाख़ों को काटा जाएगा और हिंदू भड़क उठेंगे। मजिस्ट्रेट रॉनी को इस मुद्दे से परेशानी नहीं है क्योंकि यह साबित करता है कि इंडिया में ब्रिटिश लोगों की ज़रूरत है। उनके बिना खूनखराबा ही होना है। पाठक मानने को मजबूर होता है कि पार्टिशन के समय की जैसे भविष्यवाणी फ़ोर्स्टर कर गये थे।

कुल मिलाकर 'अ पैसेज टू इंडिया' में फ़ोर्स्टर पूरब और पश्चिम से चरित्र लेकर इंडिया के बारे में भी एक वृहद् विचार प्रस्तुत करते हैं। इसमें दोनों दुनियाँ के बहुत सारे मतभेद और भिन्नता नज़र आती हैं लेकिन मनुष्यता को जोड़नेवाली बहुत सी दोस्तियाँ भी दिखती हैं और बहुत सी मनुष्यत्व की संभावनाएँ भी। इसलिए सौ साल बाद पढ़े जाने पर भी उपन्यास के चरित्र हमारे लिए बहुत जीवंतता से उदारवादी मूल्यों के प्रतीक बनकर आते हैं। मिसेज़ मूर, एडेला और फ़ीलिंडग उस दुनिया का सपना दिखाते हैं जहाँ करुणा और औदात्यके प्रति निष्ठा इंसान को तमाम क्षुद्रताओं से ऊपर उठाती है। डॉक्टर अज़ीज़ एक तरह से शिक्षित भारतीय मानस की उलझनों और अपनी पहचान पाने की जद्दोजहद की कथा कहता है। वह हम सबके अंदर आज भी थोड़ा थोड़ा बसा हुआ है, धर्म-राजनीति-समाज के उलझे संबंध से टकराता हुआ, पोस्ट-कोलोनियल समय में अपनी हीनता और पुरातन श्रेष्ठता की ग्रंथियों में वह मुक़ाम खोजता हुआ, जहां वह सबसे पहले और सबसे अंत में एक उदार इण्डियन है। ●

रांगेय राघव की स्त्री-दृष्टि

गीता दुबे

रांगेय राघव ने विपुल साहित्य का सृजन किया है। हालांकि उन्होंने मात्र 39 वर्ष की आयु पायी थी लेकिन इस अल्प अवधि में ही तकरीबन 150 पुस्तकों की रचना की थी और विभिन्न विधाओं- कविता, कहानी, उपन्यास, अनुवाद आदि क्षेत्र में उनका योगदान अविस्मरणीय है। रांगेय राघव ने कुछ साहित्यकारों और इतिहास पुरुषों की औपन्यासिक जीवनियाँ भी लिखीं लेकिन उन जीवनियों के केन्द्र में उनकी पत्नियाँ रहीं अर्थात पत्नियों की दृष्टि के अनुसार पतियों की जीवनियों का सृजन किया। मैथिलीशरण गुप्त रचित यशोधरा, साकेत, द्वापर आदि की तो खूब चर्चा होती है क्योंकि उन्होंने वर्षों से उपेक्षित स्त्री पात्रों की पीड़ा को वाणी प्रदान की लेकिन उस दृष्टि से रांगेय राघव के उपन्यासों और कहानियों की चर्चा नहीं होती। उनकी स्त्री दृष्टि पर विस्तार से बात करने की आवश्यकता है।

रांगेय राघव के रचना संसार की स्त्रियाँ आसमान से उतरी हुई देवियाँ नहीं है बल्कि इसी धरती की मिट्टी से गढ़े गये उनके स्त्री पात्र अपनी जीजिविषा, संघर्ष शक्ति, साहस, विचारशीलता के साथ ही अपनी सीमाओं के साथ चित्रित हुए हैं। 'भारती के सपूत' नाम से रचित भारतेंदु हरिश्चंद्र की जीवनी में उनकी पत्नी मन्नो बीबी और प्रेमिका मल्लिका के जीवन और आशाओं- आकांक्षाओं को भी अभिव्यक्ति मिली है। उनके कई उपन्यासों और कहानियों के केंद्र में स्त्री है, वह चाहे ऐतिहासिक स्त्री हो अथवा साधारण या काल्पनिक। ऐतिहासिक स्त्रियों की बात करें तो रत्नावली, यशोधरा, राज्यश्री आदि चरित्रों को उन्होंने अपनी रचनाओं में पूरी जीवंतता और विश्वसनीयता के साथ उतारा है। साधारण स्त्रियाँ उनके यहाँ प्रचुर संख्या में हैं जो कई बार अपनी तेजस्विता से पाठकों को सहजता से प्रभावित कर लेती हैं। उनकी गदल को भला कौन भुला सकता है। एक साधारण गूजर स्त्री अपने जीवट के बल पर हिंदी साहित्य के इतिहास में अमरत्व प्राप्त करती है। वह केवल अपने परिवार और समाज के लोगों का ही सामना नहीं करती बल्कि अंग्रेज सरकार के नियम कायदों से भी टकराती है। कुछ रचनाएँ जिनमें तत्कालीन सामाजिक जीवन का चित्र खींचा गया है में कई तरह की स्त्रियाँ दिखाई देती हैं। कुछ रईस घरों की स्त्रियों के लिए जीवन मात्र भोग और विलास का पर्याय है जिसके लिए वे कोई भी रास्ता अपनाने से नहीं हिचकिचातीं। 'पराया' उपन्यास की ममता ऐसी ही स्त्री है जो रमेश के निश्छल प्रेम को मात्र इसलिए ठुकरा देती है क्योंकि उसकी आर्थिक स्थिति अपेक्षाकृत ठीक नहीं है और ममता को "समुद्र में तैरने के लिए जहाज" की आवश्यकता है। दूसरी ओर समाज में पतिता मानी जानेवाली मालती है जो रमेश के प्रेम में अपने पेशे को छोड़कर उसके साथ नयी जिंदगी का सपना देखती है और उसके हाथों ठगी जाने के बावजूद अपने पुराने पेशे की ओर नहीं लौटती बल्कि मेहनत के बल पर जिंदगी गुजारती है। रांगेय राघव यह दिखाना चाहते हैं कि हर स्त्री मात्र स्त्री होने के कारण ही महान नहीं होती। वह साधारण इंसान है जिसके जीवन में भौतिक लालसाओं के कारण भटकाव आता है और दूसरी ओर तथा कथित कलुषित स्त्रियों के भी अपने जीवनादर्श होते हैं जिनके लिए वह अपनी जान तक कुर्बान कर सकती हैं। साधारण स्त्रियों के संघर्ष के माध्यम से वह मध्य वर्गीय जीवन का यथार्थ चित्र उकेरते हैं। इन स्त्रियों के पास सपने तो हैं लेकिन संसाधन नहीं हैं। ऐसी ढेरों स्त्रियों को हम समाज में देख सकते है जो खूबसूरत सपनों के साथ अपने दांपत्य जीवन की शुरुआत करती हैं लेकिन अभावों की अग्नि में उनके सपने होम हो जाते हैं। गीली लकड़ियाँ आंखों को बेवजह रुलाती हैं और दाल सुबह से शाम तक उबालने के बावजूद नहीं सीझती। पति बिना भोजन किए दफ्तर जाता है और अपराध बोध की मारी स्त्री सारा दिन एक अजीब सी उदासी में गुजार देती है। जिंदगी 'घिसटता कंबल' में बदल जाती है जिसे ढोना दंपती की विवशता होती है। वैज्ञानिक क्रांति ने आज मध्यवर्गीय स्त्री की इन दिक्कतों को कुछ हद तक कम जरूर किया है लेकिन रांगेय राघव की रचनाओं के माध्यम से उस दौर की स्त्री की दिक्कतों को आसानी से समझा जा सकता है।

मध्यवर्गीय स्त्री के सामने एक बड़ा प्रश्न नैतिकता का होता है। भारतीय समाज में स्त्रियों के ऊपर बहुत सारी जिम्मेदारियाँ होती हैं, घर-परिवार को सुचारू रूप से चलाने, बच्चे पैदा करने और उनका पालन पोषण करने के अलावा उन्हें घर और समाज की मर्यादा का बोझ भी अपने कोमल कंधों पर उठाना पड़ता है। बहुत बार अपनी आकांक्षाओं को ताक पर रखकर उन्हें इस मर्यादा की बेदी पर बलि होना पड़ता है। रांगेय राघव की रचनाओं की स्त्री कहीं तो

'पराया' उपन्यास की ममता ऐसी ही स्त्री है जो रमेश के निश्छल प्रेम को मात्र इसलिए ठुकरा देती है क्योंकि उसकी आर्थिक स्थिति अपेक्षाकृत ठीक नहीं है और ममता को "समुद्र में तैरने के लिए जहाज" की आवश्यकता है। दूसरी ओर समाज में पतिता मानी जानेवाली मालती है जो रमेश के प्रेम में अपने पेशे को छोड़कर उसके साथ नयी जिंदगी का सपना देखती है और उसके हाथों ठगी जाने के बावजूद अपने पुराने पेशे की ओर नहीं लौटती बल्कि मेहनत के बल पर जिंदगी गुजारती है। रांगेय राघव यह दिखाना चाहते हैं कि हर स्त्री मात्र स्त्री होने के कारण ही महान नहीं होती।

पारंपरिक स्त्री की तरह दिखाई देती है जो त्याग और तपस्या की देवी है, उसने अपनी जिंदगी एक बार जिसके नाम पर समर्पित कर दी, ताउम्र उसी की होकर रहती है, भले ही वह उसे छोड़कर किसी और के पीछे भागे। 'पराया' की शोभा, 'राई और पर्वत' की विद्या आदि ऐसी ही स्त्रियाँ हैं जो अपनी दैहिक शुचिता को हर स्थिति में बचा ले जाने में ही अपने जीवन की सार्थकता मानती हैं। इसके उलट रांगेय राघव ने स्त्री की विद्रोही छवि भी गढ़ी है। भारतीय समाज के कई स्तर और कोटियाँ हैं जिनके अपने अलग आदर्श होते हैं जिससे उस समाज के स्त्री-पुरुष दोनों परिचालित होते हैं। 'गदल' के विद्रोही तेवर का जिक्र तो हो ही चुका है जो अपने आत्मसम्मान की रक्षा के लिए किसी की परवाह नहीं करती, पति की मृत्यु के उपरांत बेटे बहू की सेवा करने की अपेक्षा पूरे ठसके के साथ अपने से कई वर्ष छोटे मौनी के घर बैठ जाती है और हर्जाने में अपने सारे गहने उतार कर फेंक देती है। उसके

आत्मसम्मान की ठसक उसके संवादों में साफ सुनाई देती है- "ऐसी बाँदी नहीं हूँ कि मेरी कुहनी बजे, औरों कोई बिछिए खनके।" लेकिन 'पंच परमेश्वर' कहानी की फूलो थोड़ी भिन्न है। वह छोटी-छोटी इच्छाओं को पूरा करने के लिए अपने जेठ के घर बैठ जाती है और भरी पंचायत में अपने पति के पुरुषत्व पर सवाल उठा देती है। उसे पा लेने के बावजूद जेठ कन्हाई का लगता है कि वह उसे ज्यादा दिनों तक सँभाल नहीं पाएगा। रांगेय जी इस कहानी के माध्यम से मानों पाठकों को सचेत करते से नजर आते हैं कि ऐसी स्त्रियों का मन और यौवन दोनों विध्वंसक होता है। वह उन पारंपरिक पुरुषों की तरह दिखाई देते हैं जो बात-बात पर स्त्रियों को संदेह से देखते हुए सिर हिलाते हुए कहते हैं, 'त्रिया चरित्रं, पुरुषस्य भाग्यं दैवो न जानाति, कुतो मनुष्य'। उनकी कुछ रचनाओं में यह पारंपरिक सोच झलक जाती है। अपनी कहानी 'रोने का मोल' में वह विवाहित स्त्री की तुलना पालतू कुत्ते के साथ करते हुए कहते हैं- "माँग में सिंदूर पड़ा, स्त्री को खाने-कमाने की चिंता नहीं रही; गले में चीर पड़ी, कुत्ता आवारा न रहकर घर का सदस्य हो गया।" इसे पढ़कर यह सवाल तो उठ ही सकता है कि खाने-कमाने की चिंता से भले ही स्त्री मुक्त हो जाती हो लेकिन पति की कमाई में घर चलाने और सबको खिलाने के बाद खाने की चिंता जरूर उसके सिर पर लद जाती है।

भारतीय स्त्री के समक्ष एक बड़ा प्रश्न सतीत्व का होता है। हालांकि आदिम समाज में स्त्री के लिए इस तरह की मर्यादा का कोई बंधन नहीं था लेकिन तथाकथित सभ्य समाज ने स्त्री के पाँव में बहुत सी बेड़ियाँ डाल दीं। रांगेय राघव के कथा जगत में दोनों तरह की स्त्रियाँ दिखाई देती हैं। कबीलाई समाज का चित्रण करते समय 'कब तक पुकारूँ' में वह प्यारी और कजरी जैसे पात्र गढ़ते हैं जिनके लिए यौन शुचिता का प्रश्न बेमानी है, लेकिन वे भी मानसिक शुचिता को बरकरार रखने का प्रयास करती हैं। प्यारी देह का संबंध तो बहुतों से जोड़ लेती है लेकिन मन पर उसके पति सुखराम का ही कब्जा रहता है लेकिन सभ्य समाज में इस तरह की स्थितियाँ निंदा का कारण बनती हैं। 'आखिरी आवाज' की निहालकौर जो अपने गाँव के लड़कों के साथ विलास लीला में शामिल होती है और सहेली की हत्या का कारण बनती है, अंततः अपराध बोध का शिकार होकर अपने किए पर पछताती नजर आती है। उसकी चारित्रिक दुर्बलताओं के कारणों के सूत्र उसकी माँ तक पहुँचाते हुए रांगेय राघव मानो यह बताना चाहते हैं कि माँ पर ही अपने बच्चों के चारित्रिक गठन की जिम्मेदारी होती है। हालांकि कहीं-कहीं इसका विपर्यय भी दिखाई देता है। 'राई और पर्वत' की विद्या अपनी माँ के बिल्कुल उलट निकलती है। अपनी आबरू के लिए मरने-मारने पर उतारू हो जाती है लेकिन उसे उलटा ही समझा जाता है। एक स्त्री को ससम्मान इस समाज में जीने के लिए सौ जतन करने पड़ते हैं लेकिन फिर भी वह हार जाती है। राघव ने पारंपरिक स्त्री की नियति को इस उपन्यास में चित्रित किया है

रांगेय राघव

'पंच परमेश्वर' कहानी की फूलो थोड़ी भिन्न है। वह छोटी-छोटी इच्छाओं को पूरा करने के लिए अपने जेठ के घर बैठ जाती है और भरी पंचायत में अपने पति के पुरुषत्व पर सवाल उठा देती है। उसे पा लेने के बावजूद जेठ कन्हाई का लगता है कि वह उसे ज्यादा दिनों तक सँभाल नहीं पाएगा। रांगेय जी इस कहानी के माध्यम से मानों पाठकों को सचेत करते से नजर आते हैं कि ऐसी स्त्रियों का मन और यौवन दोनों विध्वंसक होता है।

जो पति की ओट हट जाने के बाद अनाथ हो जाती है। परिवार तक में उसकी आबरू सुरक्षित नहीं रहती और समाज उसकी हर एक गतिविधि का आकलन पैनी निगाह से करता है। 'प्रवासी' की कोमल को भी विधवा होने पर इन कटूक्तियों को सहना पड़ता है और अंततः वह अपने मददगार गोपालन को दूर चले जाने की आज्ञा सुना देती है। अपने वैधव्य को वह किसी की नेहभरी दृष्टि की छुअन से मैला नहीं करना चाहती। शारीरिक शुचिता के अलावा मानसिक शुचिता भी उसके लिए महत्वपूर्ण है। सामाजिक हस्तक्षेप से व्यक्ति का जीवन प्रभावित तो होता है लेकिन सभ्य समाज के लिए राघव इन नियमों को आवश्यक मानते हैं अन्यथा कोमल और गोपालन का विवाह करवाया ही जा सकता था किंतु परिवेश की सीमाओं ने रचनाकार की कलम को बाँध लिया। 'आग की प्यास' की नरायनी अपने सतीत्व को कठिन से कठिन परिस्थिति में सुरक्षित रखती है और उसकी बेटी शकुंतला, अपनी माँ पर आसक्ति रखने वाले, पिता के हत्यारे बीहरे की हत्या तक कर डालती है। भारतीय स्त्री की परवरिश में सतीत्व, त्याग, समर्पण आदि को इस तरह उसकी मज्जा में बसा दिया जाता है कि वह उसी को नारी जीवन की अमूल्य थाती मानती है। इस तरह की स्त्रियाँ आज भी मिलती हैं। लेकिन आपतकाल में सामाजिक नियम थोड़े शिथिल हो जाते हैं। स्त्री पति की आड़ में अगर अपने परिवार की रक्षा के लिए समझौते भी करती है तो लेखक उसका यथार्थ वर्णन करने में नहीं हिचकिचाता। 'तबेले का धुंधलका' इसका उदाहरण है। कुछ स्त्रियाँ अपने हृदय के हाथों विवश होकर सामाजिक नियमों का अतिक्रमण भी करती हैं। सरयू (ऊँट की करवट, कहानी) के रूप में ऐसी स्त्री को आकार मिला है।

ऐतिहासिक चरित्रों के चित्रण में ऐतिहासिकता को क्षति पहुँचाए बिना अपनी कल्पना के विस्तार से वह उन स्त्रियों की अस्मिता के सवाल को उठाने की सफल कोशिश करते हैं। 'यशोधरा जीत गई' के केंद्र में महत्वपूर्ण पर विस्मृत यशोधरा हैं जिनका जीवन गौतम बुद्ध की दिव्य आभा के पीछे छिप गया। सिद्धार्थ तो पलायन या महाभिनिष्क्रम के बाद बुद्ध बन गए लेकिन यशोधरा एक परित्यक्त स्त्री का जीवन जीने को अभिशप्त हुईं। हालांकि उनके पास मायके जाने का विकल्प था लेकिन उनके स्वाभिमान को यह स्वीकार नहीं हुआ। जिस समाज में पत्नी को पति की छाया मात्र माना जाता है वहाँ एक परित्यक्त स्त्री भले ही वह राजकुल की ही क्यों न हो, की दशा बहुत अच्छी नहीं होती, या तो उसकी उपेक्षा की जाती है या फिर सहानुभूति प्रकट की जाती है। उसका सारा जीवन एक तपस्या में बदल जाता है, वह रत्नावली हो या यशोधरा। इसके बावजूद लेखक यशोधरा की विजय को इस रूप में दर्ज करते हैं कि बुद्ध का बुद्धत्व अंततः उनके समक्ष पराजित हो जाता है। बुद्ध के कपिलवस्तु आने पर सब उनसे मिलने जाते हैं लेकिन यशोधरा से मिलने बुद्ध को आना पड़ता है। महान पुरुष का नत भाव उसकी स्त्री को आनन्द से भर देता है और भारतीय स्त्री तो इस थोड़े से मानसिक सुख पर पूरा जीवन न्योछावर करने को तैयार रहती है। लेकिन यशोधरा को राघव ने तमाम सीमाओं के बावजूद तार्किक बनाया है, तभी तो वह सोचती है- "पुरुष स्त्री से संभोग करके सोचता है वह भोक्ता है। मूर्ख है वह। स्त्री भी समान भोक्ता है। वे एक दूसरे के पूरक हैं....पुरुष निर्द्वंद्वहै। है क्योंकि स्त्री ने इस व्यवस्था को स्वीकार कर लिया है।"

'चीवर' की राज्यश्री भी वैचारिक दृष्टि से संपन्न है। अपने वैधव्य को शांतिपूर्ण ढंग से बिताने के लिए बौद्ध धर्म में शरण लेती है और भाई को भी उसकी छत्रछाया में जाने की प्रेरणा देती है लेकिन वह दोनों धर्मों की विकृतियों पर विचलित होती भी दिखाई देती है। चयनिका को राजसी गरिमा से संपन्न एक ऐसी स्त्री के रूप में चित्रित किया गया है जो अपने राज्य की भलाई के लिए छोटी-मोटी चालें चलने से भी नहीं हिचकती लेकिन अंततः वह भी हर्षवर्धन और राज्यश्री की लोक कल्याण भावना के समक्ष पराजित हो जाती है।

रांगेय राघव के रचना जगत में ऐसी बहत सी स्त्रियाँ हैं जो अपनी तार्किकता, विचारशीलता और जीवट के कारण पाठकों के मन पर अपनी गहरी छाप छोड़ती हैं। ●

विजय देव नारायण साही- मेरे पिता

इस वर्ष हिंदी के सुप्रसिद्ध कवि आलोचक और विचारक विजयदेव नारायण साही की जन्मशती मनाई जा रही है। हिंदी की दुनिया साही जी की मेधा, विद्वता और भाषण शैली की मुरीद रही है। ''मछलीघर'' कविता संग्रह और जायसी पर लिखी उनकी आलोचनात्मक कृति मील का पत्थर है। उनकी विदुषी पुत्री सुष्मिता श्रीवास्तव ने अपने पिता को इस लेख में शिद्दत से याद किया है।

सुष्मिता श्रीवास्तव

मो० 9414007771

1982 में अपने पिता की मृत्यु के समय मैं मात्र 18 वर्ष की थी। एक तो बीसवीं सदी की सातवीं-आठवीं दशाब्दियाँ कई मामलों में आज के ज़माने से अपेक्षाकृत सरल थी और कुछ मैं भी एक परिपक्व मानसिकता हासिल करने में पिछड़ी हुई। इसलिए उनके साथ बिताये हुए दिनों के मानस-चित्र स्नेह से तो ओत-प्रोत हैं, लेकिन एक वयस्क दृष्टिकोण से देखा जाये तो गहराई से अछूते। बाद में, जब मेरे पिता इस दुनिया में नहीं रहे, तब मैंने उनके लेख, उनकी कविताएँ और उनकी डायरियाँ पढ़ीं और पाया कि पुराने मानस-चित्रों में अर्थों की नई परतें उघड़ती गईं।

साहित्य जगत में बहुधा साही जी की एक गम्भीर छवि पाई जाती है। यूँ वह सही भी है क्योंकि उनकी सोच और उस सोच के आधार पर खड़ा उनका व्यक्तित्व और चरित्र मूलतः मानव के अपने परिवेश और समाज में अपने आपको नैतिकता, विवेक और समसामयिकता से परिभाषित करने और तदानुसार सही दिशा के अन्वेषण के मसले पर केन्द्रित रहते थे, और यह मुद्दा नितान्त गम्भीर है। इस मुद्दे को तरह-तरह से उन्होंने साहित्यिक और राजनैतिक लेखों में उलट-पुलट कर देखा। उनकी कई कविताओं में भी जो 'मैं' है वह एक सामाजिक या ऐतिहासिक मानव है, या फिर ऐसे मानव का साक्षी है। साही जी के सन्दर्भ में हमें यह समझना होगा कि उनकी यह सामाजिक मानव वाली दृष्टि कोई मात्र बौद्धिक विलास नहीं थी। यह उनके लिए उतनी ही मर्मस्पर्शी, मस्तिष्क और हृदय को आन्दोलित करने वाली और कभी उम्मीद, कभी पीड़ा का गहन अनुभव देने वाली थी जैसे किसी अन्य कवि के लिए कोई नितान्त गहराई से महसूस किया हुआ 'निजी' अनुभव। इसकी साक्षी मैं स्वयं हूँ। मसलन, मुझे आपातकाल के दिन याद हैं। मैं कोई 12–13 साल की थी और मैं देखती थी कि मेरे पिता रातों-रात सोया नहीं करते थे। वैसे तो देर रात तक जग के पढ़ना या कविता लिखना उनकी आदत थी। (माँ बेचारी बहुत चाह के भी 10 बजे के बाद अपनी आँखें खुली नहीं रख पाती थीं।) लेकिन इमरजेन्सी के दौरान रातों को वे जगे तो रहे पर कविताएँ बहुत ही कम लिखीं। कुछ ग़ज़लें इस दौरान ज़रूर लिखी उन्होंने जो उनकी मानसिक पीड़ा को अभिव्यक्त करती हैं। इसी दौर की बात है, मैंने देखा कि वे हर समय ताश के पत्तों की बिसात बिछाकर अपने आप से ही 'पेशन्स' नाम का खेल खेलते रहते थे। एक दिन मैंने उनसे पूछा कि वे इतना पेशन्स क्यों खेलते रहते हैं?उन्होंने जवाब दिया, ''ताकि सोचना नहीं पड़े।'' इस समय में सोचना उनके लिए कितना पीड़ादायी हो गया था। कितने ही लेखकों के मुँह बन्द कर दिये गये थे, कितने ही दोस्त जेल में थे। कुछेक जेल में मर भी गये थे। बस मेरे जीवन में यही एक काल था जब मैंने पापा की आँखें कभी नम देखीं। बाक़ी सारी ज़िन्दगी तो सिर्फ़ उनकी ओजस्वी, सशक्त और दृढ़ छवि ही देखी।

लेकिन हो सकता है आपको यह न पता हो कि मेरे मूलतः गम्भीर पिता कितने विनोदप्रिय थे। एक उदाहरण दूँ। उनकी कविताएँ देख कर कोई सहज ही समझ सकता है कि शब्दों से उनका संबंध कितना निराला और मित्रवत था। अपने अपार शब्द भंडार से, जिसके छोर एक तरफ़ फ़ारसी, एक तरफ़ संस्कृत और एक तरफ़ बिलकुल बोलचाल की भाषा से जुड़े हुए थे, उन्होंने तरह तरह के शब्द अपनी कविताओं में इस्तेमाल किये और यह भी एक कारण है जिससे उनकी कविताएँ बिल्कुल अलग ही दीखती हैं। ये विभिन्न स्रोत उनके काव्य जगत में परस्पर मिलजुलकर कर एक ऐसी निर्बाध सलिला बनकर बहते थे कि कभी कुछ अटपटा नहीं लगता था। तो दैनिक जीवन में भी शब्दों के खेल में उनको बहुत रस मिलता था। रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में यह खेल हँसी-मज़ाक़ के साथ निरन्तर चलता रहता था, विशेषकर मज़े-मज़े की तुकबंदियों में। मसलन, मैं अक्सर गर्मी के मौसम में बीमार पड़ ही जाती थी और छमाही के इम्तहान नहीं दे पाती थी। तो एक दिन वे मुझसे बोले:

''पेपर सारे मिस हुए
मिस न हुई पर पेपर
मन्जन सारा खा लिया
धरा रह गया स्क्रेपर।''

यह इसलिए क्योंकि जब मैं छोटी थी तो अक्सर मंजन खा लेती थी। ('मिस' मेरे स्कूल में अध्यापिका के लिए संबोधन था।)

इस तुकबन्दी वाले खेल में उनके सबसे पक्के साथी थे कवि सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, जिनको मैं और मेरे भाई सिद्धार्थ सर्वेश्वर चाचा के नाम से पुकारते थे। ये दोनों दोस्त जब मिलते थे तो बस हँसी-ठहाकों की आवाज़ गूँजती रहती थी और तुकबन्दियों का दौर शुरू हो जाता था। इस काम को उन दोनों ने सड़क-साहित्य का नाम दे रखा था। उनमें से एक कोई पंक्ति पेश करता था जिसके अंत में कोई ऐसा शब्द होता था जिसका तुक ढूँढने के लिए विशेष सृजनशीलता की ज़रूरत होती थी। जैसे मुझे याद है कि जब पापा भारत के सांस्कृतिक प्रतिनिधि बन कर पूर्वी यूरोप गये थे तब अपनी विदेश यात्रा के दौरान वे पौलैंड के ग्डाइन्स्क शहर में भी ठहरे थे। लौट कर जब सर्वेश्वर चाचा से मिले तो उन दोनों में से किसी ने कहा:

''एक शहर बा ग्डाइन्स्क।''

अब आप ही सोचिए ग्डाइन्स्क का क्या तुक हो सकता है भला पर विजय दयाल सक्साही (जो कि उन्होंने मज़ाकिया तौर पर सड़क-साहित्य के निर्माता के रूप में ख़ुद की जोड़ी का नाम रख रखा था) के लिए यह बाएँ हाथ का खेल था। दूसरे ने कहा:

''किताब बहुत मुस्किल बा सांइस क!''

ऐसे ही सड़क-साहित्य के एक-दो उदाहरण और दूँ:

(प्रस्ताव के तौर पर पंक्ति)

''सिगरेट धुँए की दुम है, धुँआ दुम को खा रहा है।''

(जवाबी पंक्ति)-

''रामस्वरूप की हवा गुम है, यह दृश्य मुझको भा रहा है।''

(यह रामस्वरूप चतुर्वेदी के बारे में हैं और सन्दर्भ निश्चय ही उस ज़माने की किसी मुलाक़ात, बातचीत या गोष्ठी का होगा।) इसमें मज़ा तुक का नहीं है, पर बात मज़ेदार है।

सर्वेश्वर चाचा का सड़क-साहित्य सम्बन्धी एक वृत्तांत, चंद नमूनों सहित, 'धर्मयुग' पत्रिका के किसी अंक में छपा था।

सड़क-साहित्य सिर्फ़ सर्वेश्वर चाचा के साथ उत्पन्न होता हो, ऐसा नहीं था। जगदीश गुप्त के साथ का यह

उदाहरण देखिये-

"छाती पे आसमान की लोटा सफ़ेद साँप
ज़ालिम तेरी निगाह की बिजली गिरी कहाँ प।"

आप इस मुग़ालते में न रहें कि यह हँसी-मज़ाक़ सिर्फ़ पापा व दूसरे सड़क-साहित्यकारों के बीच में होता था। हमारे घर (14 बैंक रोड, इलाहाबाद) में हमेशा ही पापा के दोस्तों या शागिर्दों का आना-जाना बना रहता था और कभी-कभी तो अच्छी ख़ासी बैठकें भी हो जाती थीं। और इन सब दोस्तों-शागिर्दों के साथ उनकी बातचीत हर पाँच मिनट में एक ज़ोरदार ठहाके के साथ चलती रहती थी। इन लोगों में शामिल थे केशव चन्द वर्मा, जगदीश गुप्त, लक्ष्मीकांत वर्मा, (जिन्हें सब मुंशी कह कर पुकारते थे), श्रीलाल शुक्ल, कृष्णनाथ, यूसुफ़ बेग और ढेर सारे और लोग भी। हमारे घर में जो हर समय एक ख़ुशनुमा और साहित्यिक माहौल बना रहता था, उसे मैं बचपन में हर घर का आम माहौल मानती थी। मैं जानती नहीं थी कि यह कितना असाधारण और कितना कीमती था। अब जब मैं दुनिया में चारों तरफ़ देखती हूँ तो मुझे कभी-कभी लगता है कि मैं एक छिछले समुद्र में हूँ और बचपन की वह गहरी नदी विलक्षण थी और अब न मिलेगी।

पापा की विचार शैली ही थी हर बात को कुछ अलग तरह से देखना, क्योंकि वह हर मामले में बिलकुल मौलिक सोच रखते थे, हर बात, हर निष्कर्ष को अपने आप ढूँढ निकालते, न कि कभी भी कुछ पुराना स्वीकार कर लेते यदि वह उनको तर्कसंगत नहीं लगता। हमारे घर में मेरे पिता नितांत नास्तिक थे और माँ एकदम धार्मिक। पर उन दोनों में कोई मतभेद हमने कभी नहीं देखा। एक दूसरे की वैचारिक आज़ादी में वे दोनों कभी दख़ल नहीं देते थे। और उनमें प्रगाढ़ प्रेम था।

माँ बताती थी कि मेरे भाई के जन्म पर उन्होंने उनके पालने पर अपना रूमाल बांध दिया और घोषणा की कि एक नया मुसाफ़िर, सिंदबाद साही, चल पड़ा है। मेरी माँ न मानी, नहीं तो यही मेरे भाई का नाम होता। पर दीदी का घर का नाम तो उन्होंने पोर्शिया रख ही दिया। कहते थे कि शेक्सपियर की वह एकमात्र सचमुच अक़लमंद और स्वावलंबी हीरोइन थी।

साही जी के सम्पूर्ण कृतित्व पर एक व्यापक दृष्टि डालें तो दिखता है कि इस समस्त वैविध्य के पीछे एक ऐसा व्यक्ति है जो अपने को अपने परिवेश से जोड़कर अडिग नैतिकता, आत्म-मंथन और बौद्धिक प्रखरता के साथ सही राह की तलाश करता है। यह व्यक्ति न अपने को कोई छूट देता है न दूसरे को। पर ऐसा नहीं है कि मेरे पिता की कथनी और करनी में लेशमात्र भी अन्तर रहा हो। अपने जीवन में भी, चाहे उनका निजी या पारिवारिक जीवन रहा हो अथवा उनके लेखन, राजनीति या अध्यापन से जुड़ा कोई पक्ष रहा हो, उन्होंने हर क़दम को विवेक और नैतिकता की कसौटियों पर परखा। वे इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी के प्रोफ़ेसर थे और माँ भी उसी विभाग में पढ़ाती थीं। विभाग की लाइब्रेरी का

पत्नी कचनलता शाही के साथ

संचालन जिस दौरान उनके हाथ में था, उस समय का एक वाक़या बताऊँ। लाइब्रेरी की सदस्यता के लिए कुछ दो-चार रुपये देने पड़ते थे, शायद सालाना। तो एक बार सत्र शुरू होने से पहले माँ लाइब्रेरी से एक-दो किताबें लेकर घर आईं। पापा ने उनसे पूछा कि क्या उनका लाइब्रेरी कार्ड इतनी जल्दी बन गया है?माँ ने कहा- नहीं, अभी तो नहीं बना पर मुझे ज़रूरत थी तो लाइब्रेरियन ने किताबें यूँ ही दे दीं, कार्ड बनवा लूँगी जल्दी ही। पापा को यह बात काफ़ी नागवार गुज़री। उन्होंने लाइब्रेरियन से पूछताछ की तो उसने कहा कि सर, अब आपकी मैडम से क्या पैसे लेता?चलने दीजिए! इस बात पर पापा काफ़ी नाराज़ हुए और तत्काल दो रुपये अदा करके माँ का कार्ड बनवाया और उन्हें भी आगाह किया कि ऐसा दोबारा कभी न करें। उनके कॉलेज दिनों की एक डायरी में, जब वे 20–22 साल के रहे होंगे, एक बात लिखी हुई है। वह नौजवान कहता है कि उसने काफ़ी सोच विचार कर के जीवन-व्यवहार का सूत्र पा लिया है और वह सूत्र यह है कि वह अपनी तमाम ज़िन्दगी में कभी कोई काम ऐसा ना करे जिसके लिए उसे शर्मिंदगी महसूस हो। नौजवान को लगता है कि ज़िंदगी बिताने के लिए यह बहुत अच्छी कसौटी है। उस नौजवान को आने वाले वर्षों में मैंने अपने पिता के रूप में देखा और मैंने पाया कि यह सूत्र उन्होंने कभी भी छोड़ा नहीं। बेबाक बोलते थे और उसी तरह जीते थे। सीधी रीढ़ की, खरे आदमी की, वे बहुत इज़्ज़त करते थे। ढुलमुलपन, चोर दरवाज़े, ये उन्हें सख़्त नापसंद थे। और मूर्खता भी उनसे बर्दाश्त नहीं होती थी, उस पर वे वक़्त नहीं ज़ाया करते थे। इस कारण से कुछ लोग उनको 'स्नॉब' समझते थे।

आडम्बर उनको ज़रा भी पसंद नहीं था, चीज़ों को जमा करने में उनका बिलकुल यक़ीन नहीं था। जब मैं छोटी थी तो अपनी सहेलियों के घरों को और उन घरों की सजावट को देखकर मुझे बड़ा रश्क होता था। मुझे लगता था कि क्यों न मेरे घर में भी कार है, औरों के घरों की तरह मँहगे-मँहगे पर्दे व ग़लीचे क्यों न हैं, क्यों न मेरे घर में भी एक शो-केस है। क्यों मेरा घर कच्ची मिट्टी की मोटी-मोटी दीवारों से बना है और क्यों उस पर खपरैल की छत है और पत्थरों का फ़र्श है जिस पर कालीन की जगह नारियल के रेशों की खुरदुरी 'मैटिंग' बिछी है। ऐसा तो था नहीं कि धन का कोई अभाव था, माँ-बाप दोनों ही नौकरीशुदा थे। पर घर ऐसा ही था। उसका विशिष्ट और गहरा सौंदर्य मुझे तब समझ में आया जब वह मेरा नहीं रह गया। उस घर को, उन दिनों को, मैंने न जाने कितना याद किया है।

"यहाँ जहाँ मैं खड़ा हूँ
तुम्हें एक ख़ालीपन का एहसास होगा
जिसे तुम हाथ बढ़ाकर
छूने की कोशिश करोगे।"
('अलविदा' – मछलीघर)

पर उस वक़्त मुझे यह एहसास नहीं था।

बाहर सड़क पर से जब आप मेरे घर की गली में दाख़िल होते थे तो सीधे सामने गली के अंत पर वह दिखाई देता था। 14 बैंक रोड। उसके दो रोशनदान दो आँखों की तरह आपको आते हुए देखते रहते थे। कभी ये घर एक कोलोनियल ज़माने का बड़ा सा बंगला रहा होगा जिसके चारों ओर शायद एक फैला हुआ अहाता रहा होगा किंतु अब तो उस अहाते में अन्य घर बन चुके थे। वह घर खुद भी तीन हिस्सों में बाँट दिया गया था और हमारा हिस्सा बीच वाला था। यही हिस्सा सबसे बड़ा भी था क्योंकि इसके बीचोंबीच एक बहुत लम्बा सा आँगन था। घर के सामने कोई चहारदीवारी नहीं थी। आप गली में चलते-चलते एकदम से दो सीढ़ियाँ चढ़कर घर के बरामदे में घुस सकते थे, जिसका फ़र्श कुछ गुलाबीपन लिये हुए चौकोर पत्थरों का बना था, जो हमेशा नंगे पैर तलवों को ठंडे-ठंडे से लगते थे। बरामदे में लकड़ी के तीन दरवाज़े थे। दाहिने के दो दरवाज़े एक छोटी सी बैठक में खुलते थे जिसमें शुरू-शुरू में तो माँ-बाप की शादी के समय का एक सोफ़ा-सेट, एक लकड़ी का तख़्त जिस पर एक गद्दा, सफ़ेद चादर और दो गाव-तकिये पड़े रहते थे, और एक साधारण सी मेज़ थे। कम से कम हम लोग तो उसे गाव-तकिया ही कहते थे, आप शायद मसनद के नाम से पहचानें। (बचपन के शब्द अक्सर याद आते हैं, ऐसे दोस्तों की तरह जो जाने कहाँ पिन्हाँ हो गए ... मसलन हमारे घर में कोई बाथरूम नहीं बोलता था, वह ग़ुसलख़ाना था।) काफ़ी दिनों के बाद, और शायद मेरी माँ की ज़िद से, बैठक में बरेली का बना एक चमचमाता हुआ सोफ़ा-सेट आया। छोटी लड़की ने नतीजतन काफ़ी शरीफ़ महसूस किया...

बैठकें की सादगी के बारे में पापा का कहना था कि जिससे वे मिलना चाहेंगे, उसके लिए उनकी बैठक अच्छी है और जिसके लिए न हो, उस जैसे से मिलना वे चाहते ही नहीं थे।

बहरहाल, अगर आप बाँए दरवाज़े से घर में घुसते तो आप पाते कि आप ऐसे सँकरे से चार क़दम के गलियारे में खड़े हैं जो लकड़ी के फ़्रेम में पर्दे टाँग कर बने हुए एक पार्टिशन के माध्यम से बैठक से अलग किया गया है। इस गलियारे में पापा की स्कूटर, मेरे भाई की साइकिल व हॉकी स्टिक, और गलियारे की बाएँ तरफ़ की दीवार में शेल्फ़ पर काँटों का तार, कुछ बिजली का सामान और पता नहीं क्या- क्या रखा हुआ है। इस गलियारे से आप सीधे सोने के कमरे में पहुँच जाते। यह एक काफ़ी बड़ा सा कमरा था जिसमें एक पुराना डबल बेड लगा था और दोनों तरफ़ उम्रदराज़ सोफ़े जिन पर पापा के दोस्त बैठते थे और उन से गप करते थे। पलंग पर मच्छरदानी लगाने के डंडे लगे होते थे और चारों तरफ़ आने जाने की बहुत जगह थी। इसी कमरे में एक तरफ़ दो भीमकाय टीन के बक्से रखे थे जिनमें माँ रज़ाइयाँ वग़ैरह रखती थीं। एक कोने में एक बड़ी सी मेज़ के साथ कुर्सी थी जिसके बगल में एक किताबों की आलमारी थी। इस मेज़ पर पापा के काग़ज़ फैले रहते थे जिनको छूना हम सब को मना था। यहाँ तक कि माँ को भी उन्हें तरतीब से सहेजने की इजाज़त नहीं थी। पापा कहते थे कि माँ अगर काग़ज़ों को ठीक से रख देती हैं तो वे कुछ ढूँढ ही नहीं पाते। पापा के सिरहाने एक बहुत ही खूबसूरत पीतल का पुराना नक़्क़ाशीदार मुरादाबादी लैम्प एक गोल मेज़ पर रखा रहता था। इसकी बनावट कुछ ऐसी थी जैसे कि लैम्प का डंडा एक बहुत बड़े, थाली के आकार के, कटोरे के बीच में से उग रहा हो। इस कटोरे में बहुत सारा सामान भरा रहता- पापा का पाइप, प्रिंस ब्रांड का पाइप में भरने का तंबाकू, पाइप साफ़ करने की दुनियाभर की चीज़ें, ताश की गड्डी, शतरंज का सेट (जो वे जगदीश गुप्त या मेरे भाई के साथ खेला करते थे, और उन लोगों के न होने पर दोनो तरफ़ से अकेले, ख़ुद ही के ख़िलाफ़), उनकी कविताओं की डायरी, पैन और पता नहीं क्या-क्या। एक दौर में तो पद्मावत भी उसी मेज़ पर निवास करती थी। कितनी रातों में मैं जब पानी पीने के लिए उठी तो यह दृश्य देखा- अँधेरे कमरे में एक रोशनी का वृत्त है। उस वृत्त की परिधि के बाहर के धुँधलके में माँ सोई हुई हैं। पापा का रोशन चेहरा और उनकी उँगलियों में एक क़लम- बस ये उस पीले वृत्त के भीतर तल्लीन। बहरहाल, इस कमरे की एक ख़ासियत यह भी थी कि इसका दरवाज़ा कभी बंद नहीं होता था। बस गलियारे की तरफ़ एक पर्दा लगा होता था और दोस्त तो "अरे भाई विजयी!" या "कोई है?" कहते हुए सीधे दाख़िल हो जाते थे। केशव चाचा या सर्वेश्वर चाचा जैसा कोई अंतरंग हुआ तो पापा के मुँह से उनकी भारी और रौबदार आवाज़ में अनायास निकलता था- अख़ुख़ेह!!!

इस कमरे से एक मेहराब के रास्ते आप खाने के कमरे में जाते थे। इन दोनों के बीच कोई दरवाज़ा नहीं

कंचनलता शाही

पत्नी कंचनलता शाही के साथ

था। फिर एक बरामदा और फिर एक लम्बा सा ईंटों का आँगन जिसके उस पार दूर एक दरवाज़ा दिखाई देता था, साही जी की लाइब्रेरी और लिखने का ख़ास कमरा। उस कमरे में एक बहुत हसीन पुरानी कालीन बिछी रहती थी, हल्के हरे और गुलाबी रंग की। पापा की शादी के समय यूसुफ़ बेग ने उन्हें वह भेंट की थी, भदोही से। (भदोही के कालीन बुनकरों के लिए पापा ने बहुत काम किया था।) साही जी के स्वभाव का आप इससे भी अंदाज़ा लगा सकते हैं कि यह सुन्दर और मँहगी कालीन कभी बैठके में नहीं लगाई गई बल्कि उसको निजी और प्रिय मानकर अपने सबसे निजी कमरे में, आँगन के उस पार के कमरे में, रखा गया, जहाँ कोई ग़ैर कभी नहीं आता था। इस कालीन पर बैठ कर एक नीची मेज़ पर वे अक्सर लिखते या कॉपी जांचने जैसे काम करते। वह मेज़ मैंने आज तक संभालकर रखी हुई है- जैसे उसमें उनका कोई अंश बस गया हो शायद।

आँगन के इस पार से उस पार देखना एक बड़ा विचित्र अनुभव था, जैसे आप ख़ुद की परतें खोलकर अपने आप की किसी गहरी, अंदरूनी जगह पहुँचने वाले हैं। घर के बाहर से आपको कभी गुमान नहीं हो सकता था कि इसके अंतस् में यह क्या तिलिस्मी सौन्दर्य छिपा पड़ा है। आँगन में ढेर से फूलों के गमले थे, एक आम के पेड़ जितना बड़ा अमरूद का पेड़ था, माँ का तुलसी चौरा था, बीचोंबीच एक चबूतरा था, दाहिनी तरफ़ एक बग़ीचा था और बाक़ायदा एक खण्डहर भी था। यह खण्डहर एक कमरे का था जिसकी छत गिर गई थी, और जिसके बगल में एक खुला बरामदा था, वह भी छतविहीन। मेरे माँ-बाप ने इस खंडहर पर एक लतर चढ़ा दी थी जो जाड़े में लाल फूलों से एकदम लद जाती थी, इतनी कि पत्तियाँ भी न दीखें। उस टूटे बरामदे में तख़्त रखकर उस पर एक काला कढ़ाईदार नमदा बिछाया जाता था जिस पर अक्सर पापा धूप में बैठा करते थे और माँ के साथ कॉफ़ी पीते थे, अख़बार पढ़ते थे या लिखते-पढ़ते थे। अज्ञेय ने अपने एक कविता संग्रह का नाम 'आँगन के पार द्वार' रखा है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में मेरे एक अंग्रेज़ी के प्रोफ़ेसर थे श्री मानस मुकुल दास। बताते थे कि जब वे छोटे थे तब जब भी कभी अज्ञेय इलाहाबाद आते थे (इलाहबाद से जाने के बाद), उनके पिता के घर में ही ठहरते थे और वहीं इलाहाबाद के कवियों और लेखकों का जमघट लगता था। (इस घर का नाम 'बसुधा' था, ऊपर लिखा हुआ था पत्थर के अक्षरों में, और इसकी भी एक कहानी है। पहले इसमें बच्चन जी और सुमित्रानंदन पन्त रहा करते थे। 'ब' यानि बच्चन, 'सु' यानि सुमित्रानंदन और 'धा' यानि धाम।) मानस दा ने मुझे बताया कि अज्ञेय ने उनसे कहा था कि 'आँगन के पार द्वार' शीर्षक देते समय उनकी आँखों में 14 बैंक रोड का ही चित्र था।

ख़ैर, मैं किन स्मृतियों में खो गयी। मैं आपको शो-केस के बारे में बताना चाह रही थी। तो उस छोटी सी लड़की ने जो कभी मैं थी और दूसरों के शो-केसों से प्रभावित थी, पापा से ज़िद की कि हमारे घर के लिए भी एक शो-केस लाइये। पापा ने मुझे गम्भीरता से समझाया कि शो-केस में चीज़ें रखकर उनकी नुमाइश करना एक तरह की मानसिक कंगाली का द्योतक है और वे उम्मीद करते हैं कि मैं ऐसा करने वालों में शामिल नहीं होना चाहूंगी।

संस्मरण काफ़ी लंबा हो गया है लेकिन एक-दो बातें और कहे बिना मैं इसे समाप्त नहीं करना चाहती क्योंकि मुझे लग रहा है कि मैंने अपने पिता के गाम्भीर्य, उनकी नैतिकता और उनकी विनोदप्रियता का तो ज़िक्र किया परन्तु उनका एक अहम् पक्ष आपके सामने अभी तक नहीं रख पाई, जिसको जाने बिना उनको कोई सम्पूर्ण रूप से नहीं समझ सकता है। यह पक्ष बहुत निजी था और इसको वे जल्दी ज़ाहिर नहीं करते थे। हाँ, कई कविताओं में आप उसे देख सकते हैं। यह थी उनकी बहुत गहराई से महसूस करने की प्रवृत्ति। यह ही उन्हें पेड़ों, पत्तियों, फूलों, ऋतुओं, पहाड़ों, नदियों वग़ैरह को महसूस करते समय आह्लादित करती थी, उनकी भावनाओं को किसी वाद्ययन्त्र के तारों की तरह झंकृत करती थी और उनके सौंदर्यबोध की जड़ में थी और इस अतीन्द्रिय तीव्र अनुभूति की पिपासा उन्हें लगातार तलाश करते रहने को मजबूर करती थी।

"प्यास के भीतर प्यास
लेकिन पानी के भीतर पानी नहीं।"

शायद उनकी तलाश हमेशा असफल ही रहनी थी क्योंकि उनकी कल्पना के मुक़ाबले में सब प्राप्य अंत में छोटा ही पड़ता था। ●

साहित्य की दुनिया जिसे जानती तो है पर मानती नहीं!

इस वर्ष हिंदी की लोकप्रिय कथाकार शिवानी का भी जन्मशती वर्ष है। शिवानी हिंदी की ऐसी लेखिका रही हैं जो लोगों के घर में घर कर गयी थीं। उनका साहित्य पढ़कर लोग साहित्यकार बने पर साहित्य की मुख्यधारा में उन्हें वो जगह नहीं मिली क्योंकि लोकप्रियता को ''गुणवत्ता'' के विरुद्ध मानने का एक पूर्वाग्रह हिंदी में आज भी काम करता है। वरिष्ठ कथाकार सपना सिंह का लेख कई सवाल खड़े करता है।

सपना सिंह

मो० 6387098089

हमारे हिन्दी साहित्य संसार की यह विडंबना ही तो है। एक हवा सी उड़ी या उड़ाई गई है कि जो लोकप्रिय है वह साहित्य नहीं। लोगों ने भारती जी की 'गुनाहों का देवता' को भी इसी कसौटी पर परखा और उसे किशोर भावुकता की लिजलिजी अभिव्यक्ति से ज्यादा महत्व नहीं दिया। जबकि ये प्रमाणित सत्य है कि हिन्दी साहित्य की सर्वाधिक बिकने वाली पुस्तकों में अनुदित बंगाली साहित्य (शरतचन्द्र, रविन्द्र नाथ टैगोर) के साथ हिन्दी में 'गुनाहों का देवता' और शिवानी के उपन्यास हैं।और ये सत्य है कि लोकप्रियता के मामले में शिवानी अपने समकालीनों के लिए ईर्ष्या का बायस बनती हैं। उन जैसी लोकप्रियता किसी हिन्दी लेखक को नहीं मिली। ये लोकप्रियता लुगदी साहित्य या लोकप्रिय साहित्य जो एक बार पढ़कर किसी को दे दी जाती या रद्दी के हवाले हो जाती है ऐसी लोकप्रियता नहीं थी।

सत्तर अस्सी के दशक समय की जिन्हें याद हो उन्हें ये बखूबी पता है कि उन दिनों हर पढ़े लिखे घर में धर्मयुग और साप्ताहिक हिन्दुस्तान जैसी पत्रिकाएं पढ़ी जाती थीं। इन पत्रिकाओं में हर तरह के लोगों के लिए पढ़ने को सामग्री रहती थी। कुछ स्तरीय कहानियां और धारावाहिक उपन्यास भी छपते थे जिनका पाठकों में भारी आकर्षण था। धर्मयुग में छपना किसी लेखक के लिए बड़ी बात थी। शिवानी जी लगातार धर्मयुग में छपती थीं। उनकी कहानियों, उपन्यासों के धारावाहिक अंकों का पाठक बेसब्री से इंतजार करते थे। शिवानी जी की लोकप्रियता का अंदाजा इस बात से लगा सकते हैं कि उनके पाठक उनके ज्यादातर पात्रों को सच समझते थे और उनके बारे में ऐसे बात करते थे जैसे वह उनके पड़ोस वाले घर की या अपने घर की कोई सदस्य हों।

'कृष्णकली' का एक किस्सा तो काफी कहा सुना जाता है। जब उसकी आखिरी किस्त धर्मयुग में छपी तो मेडिकल कहलेज के छात्र छात्राओं में उदासी छा गई। अफसोस से वे एक दूसरे से कह रहे थे ओह कृष्णकली मर गई। लोगों को लगा कृष्णकली शायद कोई मरीज है जो मर गई। जब पता चला कि ये तो एक उपन्यास का पात्र है तो लोग अचंभित हुए। तो ऐसा असर था शिवानी जी की लेखनी का।

ये विडंबना है कि, इतना पढ़ी जाने वाली लेखिका पर कभी कोई गंभीर चर्चा नहीं हुई। उनपर और उनके साहित्य पर कोई आलोचनात्मक लेखन नहीं हुआ। आखिर क्या वजह रही होगी कि लगातार लेखन प्रकाशन और पाठकों के अपार प्रेम और आदर के बावजूद साहित्यिक बिरादरी से वे अलग थलग बनी रहीं। क्या इसकी वजह उनकी पारिवारिक और सामाजिक परिस्थितियां थीं? हो सकता है!

जिस समय शिवानी लिख रहीं थीं उस समय जो स्त्री रचनाकार लिख रहीं थीं उनसे शिवानी जी की परिस्थितियां भिन्न थीं। वे या परिवार छोड़ चुकी थीं या उन्होंने परिवार किया ही नहीं था। शिवानी जी भरे पूरे परिवार की मुखिया थीं। कुछ पारिवारिक सामाजिक कर्म होते जो स्त्री पुरुष को निभाने होते हैं, जिनसे मुंह मोड़ लेना सभी के लिए संभव नहीं होता। शिवानी जी इन सब को सहज रूप से साधते हुए लेखन कर रहीं थीं। उनका लेखन प्रकाशकों द्वारा सम्मान पूर्वक मांग कर छापा जाता। पाठक उनके लेखन को पसंद करते। जिस लोकप्रियता और मान्यता के लिए लेखक लिखता छपता चर्चा परिचर्चा करवाता है वो शिवानी जी को सिर्फ लिखकर ही हासिल था। शायद वो अपने लेखन में इस कदर

“

जिस समय शिवानी लिख रहीं थीं उस समय जो स्त्री रचनाकार लिख रहीं थीं उनसे शिवानी जी की परिस्थितियां भिन्न थीं। वे या परिवार छोड़ चुकी थीं या उन्होंने परिवार किया ही नहीं था। शिवानी जी भरे पूरे परिवार की मुखिया थीं। कुछ पारिवारिक सामाजिक कर्म होते जो स्त्री पुरुष को निभाने होते हैं, जिनसे मुंह मोड़ लेना सभी के लिए संभव नहीं होता। शिवानी जी इन सब को सहज रूप से साधते हुए लेखन कर रहीं थीं। उनका लेखन प्रकाशकों द्वारा सम्मान पूर्वक मांग कर छापा जाता। पाठक उनके लेखन को पसंद करते।

व्यस्त होती रही हो कि उन्होंने अपनी रचनाओं की समीक्षा, आलोचना आदि करवाने पर ध्यान ही नहीं दिया हो।

शिवानी जी के लेखन से मेरा परिचय कब और कैसे हुआ ये मुझे अब भी ठीक ठीक याद है। जैसा कि उन दिनों के हर पढ़े लिखे मध्यवर्गीय घरों का चलन था धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान हमारे घर में भी

नियमित आती थी। हां इस मामले में हम थोड़े ज्यादा खुशहाल थे कि और भी ढ़ेरों पत्रिकाएं आती थीं। बच्चों की पत्रिका, कॉमिक्स भी। बाकि बच्चों में हम थोड़े अधिक पढ़ाकू थे तो आठवीं क्लास तक आते आते बड़ो के लिए लिखी चीज़ें आकर्षित करने लगीं। धर्मयुग वगैरह की कहानियां समझ में नहीं आती थीं। गुलशन नंदा कहीं मिले थे और कुछ विजय सीरीज के जासूसी उपन्यास भी। अभी इंद्रजाल कॉमिक्स और राजन इकबाल के बाल पॉकेट बुक्स से नाता टूटा नहीं था। उन्हीं किन्हीं दिनों में शिवानी का कोई उपन्यास हाथ आया था (अब तो याद नहीं कि वो कौन सा उपन्यास था क्योंकि बाद में उनके हर उपन्यास दोहराये)।

अब जबकि मैं स्वयं को देशी विदेशी भारतीय भाषाओं की अनुदित कृतियों की भारी पाठक मानती हूं। स्तरीय साहित्य खूब पढ़ा लगातार पढ़ने की ललक बनी हुई है तो अक्सर ये सोचती हूं कि अगर उस उम्र में शिवानी की जगह अगर प्रेमचंद हाथ में आते तो क्या सीन होता। शायद मैं न समझ सकने और नीरस जान कर साहित्य से पलायन कर लुगदी साहित्य में ही अटकी रही होती।

शिवानी के लेखन से जो आस्वाद मिला उसने साहित्य की दुनिया में मुझे एक एक सीढ़ी ऊपर चढ़ाकर एक से एक नायाब किताबों से परिचित कराया। शिवानी को मैं प्रेमचंद और गुलशन नंदा के बीच की एक लकीर मानती हूं जिनसे आपको प्रेमचंद की जाने का रास्ता मिलता है।

शिवानी का साहित्य बड़ा विस्तृत है। उन्होंने साहित्य की लगभग सभी विधाओं में कलम चलाई और उनकी कलम का स्पर्श जिस विधा को मिला उसे पाठकों का भरपूर प्यार मिला। उपन्यास, कहानियां, संस्मरण, यात्रा वृतांत, ललित निबंध सभी विधाओं में उन्हें महारत हासिल थी पर उनकी का कमाल सबसे अधिक उपन्यास विधा में दिखता था।

चौदह फेरे, कृष्णकली, शम्शान चंपा, भैरवी, मायापुरी, सुरंगमा, अतिथि उनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। जो पत्रिकाओं में धारावाहिक रूप से छपते थे। पाठकों में अगली किस्त आने का और उसे जल्दी से पढ़ लेने का रोमांच भरा इंतजार रहता था। प्रकाशक अंतिम किस्त आने का बेसब्री से इंतजार करते थे कि उसके बाद उन्हें उपन्यास छापने को मिलेगा और उसे बेच सकेंगे। शिवानी उस दौर की बहुत बिकने वाली लेखिका थीं। ये धाक बहुत कम हिन्दी लेखकों की थी।

शिवानी जी का अनुभव संसार बहुत विस्तृत था जो उनकी रचनाओं में भी परिलक्षित होता था। उनका रचना संसार बीसवीं सदी के भारतीय समाज और उसमें आये बदलाव खासकर स्त्रियों की दशा का पूरा खाका प्रस्तुत करती है। उनकी रचनाओं में सामंती परिवेश, संयुक्त परिवारों की स्थिति, नव धनाढ्य वर्ग, पारंपरिक कुमाऊनी सरल ग्रामीण समाज सहज रूप से स्थान पाते रहे उनका चित्रण उन्होंने बहुत प्रमाणिकता से किया। समाज में आजादी बाद जो परिवर्तन हुए, राजनीति में जैसे नायक खलनायक दिखे। कुछ अच्छे कुछ भ्रष्ट व्यक्ति, राजनेता, अपराधी

शिवानी जी की भाषा पर बात किए बिना इस लेख का समापन नहीं किया जा सकता। जैसा कि उनके पाठक जानते हैं बचपन में गौरा (शिवानी) अपने परिवार के साथ देश के विभिन्न भागों में रहीं। गुजरात, ओरक्षा, रामपुर, अल्मोड़ा और फिर शिक्षा के लिए गुरु रविन्द्र नाथ टैगोर के शान्ति निकेतन का प्रवास। इन सबने जहां उनके अनुभव संसार को समृद्ध किया वहीं उनकी भाषा को भी प्रांजल किया। बचपन में जब उन्होंने लिखना शुरू किया तो बांगला में लिखा गुरुदेव की सलाह कि, लेखक को हमेशा अपनी मातृभाषा में ही लिखना चाहिए मानकर उन्होंने हिंदी में लिखना शुरु कर दिया। और साहब क्या खूब लिखा। उनकी संस्कृतिनिष्ठ हिन्दी 'शिवानी की भाषा' के नाम से जानी जाने लगी।।

और अपराध, स्वार्थी औरतें, उद्दात चरित्र, वेश्याएं, किन्नर सब तरह लोग शिवानी जी की रचनाओं में शामिल थे।

जहां उनके पात्र उच्च वर्गीय अहल्या, कर्नल, मंत्री, व्यवसायी थे वहीं कुष्ठ रोगी भी थे। मंदिर, मठ, आश्रम, योगी योगिनियां, भैरवी, साधु महात्मा और उनके रूप में मौजूद लम्पटता इन सभी का चित्रण उनके उपन्यास और कहानियों में हुआ है। उनके उपन्यास के स्त्री चरित्र अद्भुत रहे हैं चाहे वो एलीट क्लास की एकाकी अहल्या हो या चौदह फेरे में चित्रित निपट गंवार पर व्यवहारिक बुद्धि की तेज तर्रार ताई। अनुपम सौंदर्य की धनी अपने पैदाइशी अतीत से भागती कृष्णकली हो या राजनेता के प्रेम में पेंडुलम सी डोलती सुरंगमा हो।

शिवानी जी सौंदर्य और नैतिकता का अनुपम कोलाज रचती थीं। उनके उपन्यास कहानियों में प्रेम में नैतिकता की जोरदार वकालत है। प्रेम में सबकुछ जायज है ऐसा मानने वाले उनके द्वारा रचित चरित्र खल पात्र ही रहे। अनायक ही माना उन्होंने और अपने पाठको से भी मनवाया। उनके लेखन में हर वर्ग, जाति और वर्ण के लोगों ने स्थान पाया। उनकी अप्रोच समाज के हाशिए के लोगों के लिए जैसे वेश्याएं, हिजड़े, कोढ़ी के भी सहानुभूतिपूर्ण थी। वह अपने चारों ओर के यथार्थ का चित्रण सहृदयता से और प्रमाणिकता से करती थीं।

शिवानी जी की भाषा पर बात किए बिना इस लेख का समापन नहीं किया जा सकता। जैसा कि उनके पाठक जानते हैं बचपन में गौरा (शिवानी) अपने परिवार के साथ देश के विभिन्न भागों में रहीं। गुजरात, ओरक्षा, रामपुर, अल्मोड़ा और फिर शिक्षा के लिए गुरु रविन्द्र नाथ टैगोर के शान्ति निकेतन का प्रवास। इन सबने जहां उनके अनुभव संसार को समृद्ध किया वहीं उनकी भाषा को भी प्रांजल किया। बचपन में जब उन्होंने लिखना शुरू किया तो बांगला में लिखा गुरुदेव की सलाह कि, लेखक को हमेशा अपनी मातृभाषा में ही लिखना चाहिए मानकर उन्होंने हिंदी में लिखना शुरु कर दिया। और साहब क्या खूब लिखा। उनकी संस्कृतिनिष्ठ हिन्दी 'शिवानी की भाषा' के नाम से जानी जाने लगी।।

शिवानी जी की भाषा पर क्लिष्टता का आरोप लगता रहा। कुछ हद तक ये बात सच भी है। उनकी संस्कृतनिष्ठ हिन्दी थी। शिवानी जी स्वयं बहुत पढ़ी लिखी महिला थीं। उन्हें कई भाषाएं आती थीं। भाषा का इस्तेमाल वह बहुत ही सावधानी से करती थीं। कठिन परन्तु संप्रेशणीय भाषा थी उनकी। उनका लिखा कोई एक गद्यांश पढ़कर भी उनका पाठक ये बता सकता था कि ये शिवानी जी का लिखा है। भाषा की ये कारीगरी साधने वाली वो हिन्दी की एकमात्र लेखक हैं।

आज जरूरत है शिवानी जी के साहित्य को सहेजने की, और उसे नयी पीढ़ी को सहजता पूर्वक उपलब्ध कराने की। इस दिशा में उनकी बेटी सुश्री मृणाल पाण्डे जी ने कोशिश शुरू कर दी है। शायद निकट भविष्य में शिवानी समग्र उपलब्ध हो। आने वाले समय में शिवानी जी के व्यक्तित्व और कृतित्व पर शोधपरक कार्य हैं और हिन्दी की मनीषी साहित्यकार को उसका उचित मान हिन्दी साहित्य की दुनिया दे सके यही अभीष्ट है। ●

हरिशंकर परसाई पर विवाद क्यों

(संदर्भ 'काल के कपाल पर हस्ताक्षर')

पिछले दिनों जबलपुर के लेखक राजेन्द्र चंद्रकांत राय ने हिंदी के अप्रतिम व्यंग्यकार हरिशंकर परसाई की एक औपन्यासिक जीवनी लिखी है। यह जीवनी चर्चा में है और विवादों के केंद्र में भी। ''स्त्री लेखा'' ने उनसे एक बातचीत कर सच्चाई जानने की कोशिश की है।

राजेंद्र चंद्रकांत राय जी, अपने परसाई जी के जन्मशती वर्ष में बड़ी मेहनत के साथ 600 से अधिक पेज की एक जीवनी लिखी है लेकिन आपकी जीवनी पर कई लोग कई तरह के सवाल खड़े कर रहे हैं। कुछ लोग तो इसे ''झूठ का पुलिंदा'' ही बता रहे हैं। कुछ तो इसके नाम पर ही आपत्ति कर रहे। आपने अटल जी की कविता की पंक्तियों से किताब का शीर्षक रखा है जबकि परसाई तो आजीवन भाजपा संघ के विरोधी रहे।

लोगों को सवाल करने का अधिकार है। जो इसे झूठ का पुलिंदा कह रहे हैं, उन्होंने या तो किताब नहीं पढ़ी है, या फिर वे किसी पूर्वाग्रह से ग्रसित हो सकते हैं। मैंने अपनी इस किताब का नाम किसी की कविता से नहीं रखा है। परसाई जी की रचनाएं सर्वकालिक सिद्ध हो रही हैं, इसलिये यह शीर्षक दिया है।

कृपया यह बताएं कि आपकी इस औपन्यासिक जीवनी में कितनी कल्पना है और कितना यथार्थ है?

यह एक जीवनीपरक उपन्यास है, लिहाजा इसमें सभी घटनाएं यथार्थ हैं और पात्रों के संवादों में यथार्थ ओर कल्पना का सम्मिलित प्रयोग किया गया है।

चंद्रकांत जी अपने जीवनी में जिन प्रसंगों का जिक्र किया है उसका क्या संदर्भ और प्रमाण फुट नोट में व्यक्त किया है?पिछले दिनों अज्ञेय पर युवा इतिहासकार अक्षय मुकुल ने एक जीवनी लिखी है उसमें उन्होंने अज्ञेय से संबंधित हर चीज के बारे में एक फुट नोट दिया है। इससे उनकी जीवनी की प्रमाणिकता बढ़ जाती है। आपकी जीवनी में इसका अभाव दिखता है, क्या इसलिए कि इसमें कल्पना की मात्रा अधिक है और यथार्थ कम है। वैसे, आपने जीवनी की भूमिका में बताया भी है कि आपने परसाई के परिवार वालों मित्रों आदि से जानकारियां एकत्र कर यह जीवनी है।

जैसा कि मैंने पहले ही कहा है कि यह जीवनीपरक उपन्यास है, अतः फुटनोट की आवश्यकता नहीं है। हां, परिशिष्ट में मैंने उन किताबों और व्यक्तियों के नाम दिये हैं, जिनसे संदर्भ लिये गये और जिनसे बातचीत की गयी। परसाई जी के एक रिश्तेदार श्री के के तिवारी, जिनका परसाई जी के साथ दोस्ताना रिश्ता भी रहा है, के साथ मैंने बार-बार और लंबी बातचीतें की। वे जबलपुर में रह कर पढ़े हैं और परसाई जी के प्रिय पात्र रहे हैं। अन्य लोगों से भी बातें हुई हैं। मैंने परिशिष्ट में उन सबका जिक्र किया है।

आपने यह जीवनी लिखते हुए क्या ''निराला की साहित्य साधना'' और ''प्रेमचन्द : कलम का सिपाही'' जैसी किताबों को ध्यान में रखा है या हाल में राजा फाउंडेशन से बहुत सारे लेखकों की जीवनी आयी है उनको आपने ध्यान में रखा हो?

भाई जी, मैंने बहुत सी जीवनियां समय-समय पर पढ़ी हैं। जिनके आपने नाम लिये उन्हें भी। फिर कहता हूं कि यह एक जीवनीपरक उपन्यास है।

इस जीवनी में कई विवादस्पद प्रसंग भी है मसलन परसाई जी ने आपातकाल का समर्थन किया था और उन्होंने भारत की कम्युनिस्ट पार्टी छोड़ दी थी राज्यसभा की सदस्यता के लिए प्रयास किया, इस बारे में एक जीवनीकार के रूप में आपकी क्या टिप्पणी है? आप उनके इस कार्य को किस रूप मे देखते हैं जबकि बकौल विश्वनाथ त्रिपाठी आपातकाल के समर्थन में जब लेखक अज्ञेय का हस्ताक्षर लेने गए तो अज्ञेय ने यह कह कर मना कर दिया कि लेखक का काम सत्ता का समर्थन करना नहीं होता।

मेरी किताब में परसाई जी के द्वारा आपात्काल के समर्थन वाला प्रसंग नहीं है। मैंने यह भी नहीं लिखा कि परसाई जी ने कम्युनिस्ट पार्टी छोड़ दी थी। वे 1964 में कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य बने और बाद में

राजेन्द्र चन्द्रकान्त राय

सदस्यता का नवीनीकरण नहीं कराया। वे आजीवन मार्क्सवादी रहे। मैंने यह प्रसंग परसाई जी के प्रिय डॉ रामशंकर की किताब, 'दर्पण देखे मांज के' से लिया है। वे लिखते हैं- ''1964 में परसाई ने पार्टी की सदस्यता ग्रहण कर ली। फिर जब नवीनीकरण का प्रश्न आया, तो उन्होंने का. बाजपेयी से अपना सदस्यता फार्म वापस बुला लिया। परसाई ने फार्म वापस बुलाते समय का. बाजपेयी और अन्य सदस्यों से यह कहा कि 'गोर्की सोवियत संघ के और दुनिया के क्रांतिकारी साहित्यकारों में एक महानतम साहित्यकार थे और वे एक कम्युनिस्ट साहित्यकार, मार्क्सवादी सिद्धांतों पर आस्था रखने वाले साहित्यकार माने जाते थे। सोवियत यूनियन में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना में भी उनका प्रमुख योगदान रहा है। जब गोर्की ने बाद के वर्षों में कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता छोड़ दी, तब भी उन्हें कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य और वैचारिक व साहित्यिक क्षेत्र में एक अगुआ और नेता के रूप में ही लगातार मान्यता दी गयी।' (डॉ रामशंकर मिश्र, दर्पण

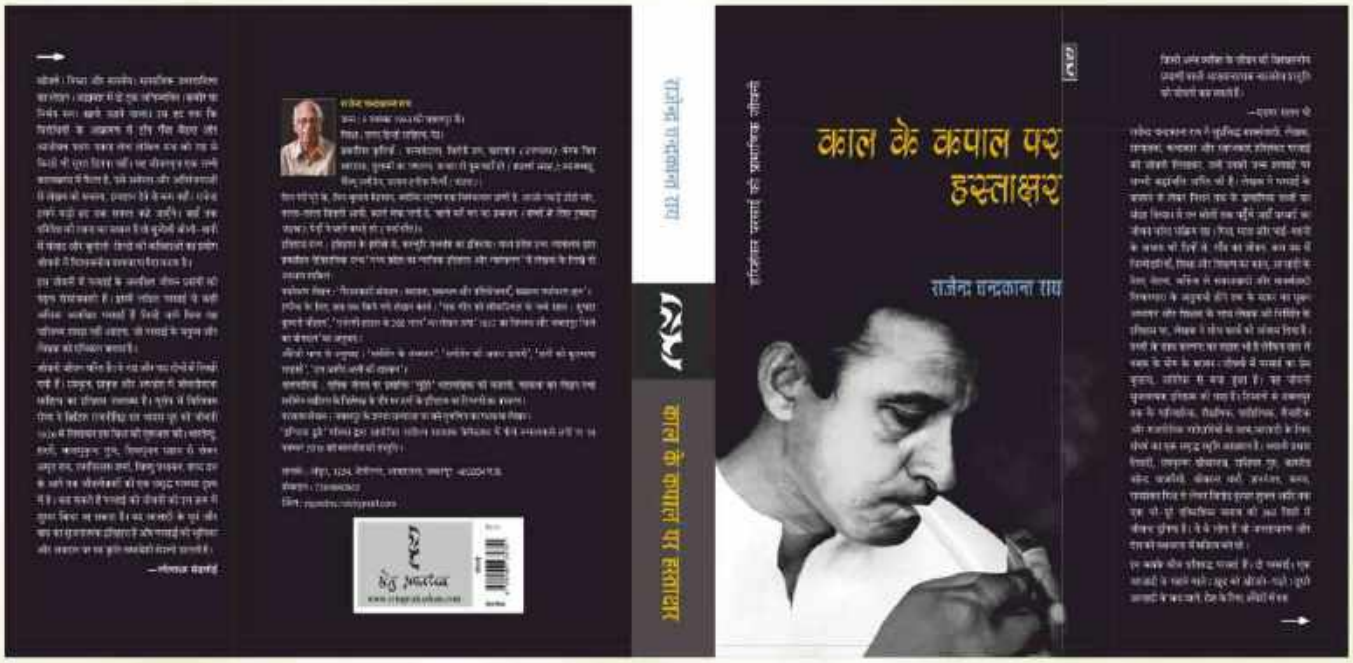

देखे मांज के, प्रकाशक विश्वभारती प्रकाशन, धनवटे चैम्बर्स, सीताबर्डी नागपुर-440412, वर्ष 2012, पृ. 189–190)

राज्यसभा वाला प्रकरण भी यथार्थ है। स्वयं परसाई जी ने अपनी किताब 'हम इक उम्र से वाकिफ़ हैं' के अध्याय 'सन्तन कहा सीकरी सों काम' पृ. 137 पर लिखा है- 'बीसेक साल पहले राज्यसभा की सदस्यता मेरे रास्ते में आ गयी थी।' और यह भी कि- 'एक दिन मुझे भोपाल से फोन पर ख़बर दी गयी कि चैबीस तारीख को आपको और मायाराम सुरजन को पंडित द्वारिकाप्रसाद मिश्र से मिलना है।' (पृ. 138)

इसी प्रसंग में उन्होंने आगे लिखा है- 'बात मुझे अच्छी लगी। मैं कुछ दिन बाद दिल्ली गया। सुभद्रा जोशी ने कहा कि आपका नाम चल रहा है और ऊपर है। केशवदेव मालवीय आदि ने भी कहा। अब मेरी कल्पना में वेस्टर्न कोर्ट घूमने लगा। वेस्टर्न कोर्ट में रहेंगे। राज्यसभा में 'डमी' नहीं होंगे, सक्रिय रहेंगे। बहुत सारी योजनाएं बना डालीं।' (पृ. 138–139)
और यह भी कि जब उनकी जगह पर बंगला लेखक प्रमथनाथ विशी राज्यसभा में चले गये, तब- 'हम दिल्ली दरबार नहीं चढ़ सके। दुख तो मुझे हुआ पर मैं जल्दी उससे उबर गया।'
मैं अज्ञेय जी से सहमत हूं।

मेरी किताब में परसाई जी के द्वारा आपात्काल के समर्थन वाला प्रसंग नहीं है। मैंने यह भी नहीं लिखा कि परसाई जी ने कम्युनिस्ट पार्टी छोड़ दी थी। वे 1964 में कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य बने और बाद में सदस्यता का नवीनीकरण नहीं कराया। वे आजीवन मार्क्सवादी रहे। मैंने यह प्रसंग परसाई जी के प्रिय डॉ रामशंकर की किताब, 'दर्पण देखे मांज के' से लिया है।

आप यह जीवनी लिखकर परसाई जी को हिंदी पाठक हिंदी समाज के सामने किस रूप में पेश करना चाहते थे और क्या संदेश देना चाहते थे?परसाई जी हिंदी समाज के किस रूप में नायक हैं और आइकॉन हैं।

परसाई जी मेरे आदर्श हैं। मैं उन्हें कालजयी रचनाकार मानता हूं। मैं उन्हें उसी रूप में समाज के सामने पेश करना चाहता हूं, जैसे कि वे स्वयं थे, यानी एक महान् इंसान, संघर्षशील, सिद्धांतवादी, कॉमरेड और एक्टिविस्ट लेखक।

परसाई जी ने एक किताब लिखी है और उसमें अपने साथ के लोगों पर बहुत संस्मरण भी लिखा है, क्या उन सारे समकालीनों को अपने अपनी जीवनी में समेट लिया है या कुछ छूट भी गए हैं जैसे परसाई जी ने एक प्रकृति कवि रामविलास शर्मा के बारे में भी एक संस्मरण लिखा है जो आलोचक रामविलास शर्मा से अलग लेखक थे लेकिन उन दोनों का कोई विशेष जिक्र इसमें नहीं दिखता है।

जी नहीं, मैंने परसाई जी के समस्त समकालीनों को अपनी किताब में नहीं लिया। मेरा ऐसा इरादा भी न था। हां, जिन समकालीनों की किसी ऐसे प्रसंग में मौजूदगी रही, जिसे मैंने किताब में लिया है, तो वहीं पर उनका जिक्र ज़रूर आया है।

आप इस जीवनी से कितना सन्तुष्ट हैं और कैसी प्रतिक्रियाएं मिली हैं। क्या आप इसमें कुछ जोड़ना या घटाना चाहेंगे?

मैं इस जीवनी से पूरी तरह संतुष्ट हूं। उम्दा प्रतिक्रियाएं आ रही हैं। लेखक और पाठक दोनों की सराहना मिल रही है। श्री लीलाधर मंडलोई जी ने किताब पढ़ी और ब्लर्ब लिखा है। श्री हरियश राय ने 'उद्भावना' पत्रिका में अपनी टिप्पणी के साथ किताब का एक अंश प्रकाशित किया है। 'बनास जन' में मेरा एक लेख आया है, जो इस किताब के लिखे जाने के समय, परसाई जी से संबंधित व्यक्तियों और स्थानों की यात्रा के बारे में है। 'विश्वरंग' में इस किताब का एक अन्य अंश 'वह पाणिग्रहण था', छापा गया है।

मैं इस किताब में कुछ जोड़ना या घटाना नहीं चाहता। यह अपने आप में एक परिपूर्ण किताब है।

सुना है कि पहले एक प्रकाशक ने यह जीवनी छापने से मना कर दिया क्योंकि यह प्रामाणिक नहीं। क्या यह सच नहीं है।

यह सही नहीं है।

आपका बहुत-बहुत धन्यवाद। आपने मुझे अपनी बात कहने का अवसर दिया।●

वीरेंद्र नारायण : स्वाधीनता आंदोलन से रंगकर्म तक

प्रीति लाल
मो० 9911800388

वे मोहन राकेश से उम्र में दो साल बड़े थे और इब्राहिम अलकाजी से एक साल। हबीब तनवीर उनसे मात्र दो माह ही बड़े थे। उन्होंने आजादी की लड़ाई में 3 साल तक भागलपुर जेल में अपना समय बिताया था। उस समय उनके ही वार्ड में हिंदी के सुप्रसिद्ध लेखक फणीश्वर नाथ रेणु और बंगाल के प्रख्यात लेखक सतीनाथ भादुड़ी भी थे। रेणु जी तो एक साल के बाद बीमारी के कारण जेल से रिहा हो गए थे और सतीनाथ भादुड़ी दो साल के बाद जेल से रिहा हुए थे लेकिन मेरे पिता 3 साल के बाद जेल से छूट कर आए थे। उसके बाद वे सोशलिस्ट पार्टी में शामिल हो गए थे और जयप्रकाश नारायण के अखबार "जनता" में काम करने लगे जिसमें हिंदी के प्रख्यात समाजवादी लेखक और पत्रकार रामवृक्ष बेनीपुरी सम्पादक थे। जय प्रकाश नारायण और बेनीपुरी जी मेरे पिता को अपने बेटे के समान मानते थे। बेनीपुरी जी ने ही मेरे पिता की शादी 1948 में करवाई थी। मेरी माँ हिंदी नवजागरण के अग्रदूत शिवपूजन सहाय की बड़ी पुत्री थी और शादी से पहले वह गांव में ही रहती थी। एक बार जब मेरे नाना ने बेनीपुरी जी से अपनी बेटी की शादी के लिए योग्य वर सुझाने की बात की तो बेनीपुरी जी ने कहा- "लड़का तो हम लोग के आस पास ही है। अरे वह अपना वीरेंद्र नारायण है न?" उनके प्रस्ताव पर नानाजी भी मान और मेरे पिता ने सादे ढंग से शादी की।

बेनीपुरी जी ने लिखा है कि उन्होंने यह शादी करवा कर अपनी गुरु दक्षिणा मेरे नाना को दी थी क्योंकि बेनीपुरी जी मेरे नाना का बड़ा सम्मान करते थे और उन्हें अपना बड़ा भाई मानते थे। मेरी माँ की शादी 1948 में हुई और तब वह भागलपुर चली गई क्योंकि मेरे पिता वहीं के थे। वहीं मेरी बड़ी बहन ममता का जन्म हुआ बाद में पिता जी जनता के बाद 1950 में "नई धारा" में बेनीपुरी जी के साथ काम करने लगे। वह पत्रिका प्रेमचन्द युगीन लेखक राजाराधिकारण प्रसाद सिंह की थी। दरअसल मेरे नाना का राजा जी बेनीपुरी जी दिनकर जी आदिसे रोज का सम्बंध था। पिता जी को नाटकों से शौक था। वे भागलपुर जेल में ही नाटक लिखने लगे थे। उन्होंने 1954 में पटना में ही बेनीपुर जी के प्रसिद्ध नाटक "अम्बपाली" में अरूणध्वज का मुख्य अभिनय किया था। दिल्ली के आल इंडिया ड्रामा फेस्टिवल में जब यह नाटक आया था तो उसे प्रथम पुरस्कार मिला था और उसे नाटक को देखने राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद भी आए थे। राजेन्द्र बाबू से मेरे नाना राजा जी और बेनीपुरी जी बड़ा ही आत्मीय संबंध था। उसके बाद मेरे पिताजी लंदन चले गए। उन्हें ड्रामा में एक्टिंग करने का बहुत शौक था। उन्होंने ब्रिटिश रंगमंच के प्रथम अभिनेता सर लॉरेंस ओलिवर से पत्राचार किया और उसके बाद वहां लंदन में अकेडमी ऑफ म्यूज़िक एंड ड्रामेटिक आर्ट में दाखिला लिया। उनके बैच में रिचर्ड हॉरिस भी थे जो विश्वप्रसिद्ध एक्टर बने पर उस बैच में टॉप मेरे पिता जी ने किया और उन्हें गोल्ड मैडल मिला था।

मेरी माँ ने अपनी शादी के बारे में लिखा है- "मैंने उनको देखा नहीं था। जब वे मंडप आये तो मैंने खिड़की से देखा था वे पीली धोती और रेशमी कुरता पहने हुए थे। सूर्यपुरा के राजासाहब ने मोटर भेजी थी जिससे मेरी विदाई हुई थी। भागलपुर पहुंचने पर जब इनसे बातें हुई तो इन्होंने जाना कि मैं किनकी बेटी हूँ और वे बहुत संतुष्ट हुए, क्योंकि बाबूजी से ये पटने में मिले थे और उनसे बहुत प्रभावित हुए थे। उन्हें पूरा विश्वास हो गया कि लड़की कैसी है। इनको और इनके परिवार को देखकर जाना कि मैंने ईश्वर से जो मांगा, सब कुछ मुझको बिलकुल वैसा ही मिला। मेरे बाबू जी के पुण्य का फल था।"

मेरी माँ ने उस संस्मरण में यह भी लिखा है- मेरे ससुर और बड़े ससुर बकालत करते थे और बड़े ससुर का तो भागलपुर में बड़ा नाम था घर की आर्थिक स्थिति भी उस जमाने के हिसाब से ठीक ही थी और हम लोगों का रहन-सहन एकदम साधारण लेकिन खुशहाल था। लगभग साल डेढ़ साल के बाद मैं पटना आ गयी जहां ये सोशलिस्ट पार्टी के अखबार जनता में सहायक संपादक थे। लंगरटोली मुहल्ले के बिहारी साव लेन के एक मकान में जिसका किराया 30 रु था, उस वक्त इनकी जनता 125 रु. तनखाह मिलती थी। मुश्किल तो होती थी लेकिन कम में भी संतुष्ट रहना तो मैंने बाबू से ही सीखा था और इनके जैसा सुयोग्य वर पाकर खुश थी। मेरी बड़ी बेटी ममता का जन्म तो भागलपुर में हुआ था लेकिन

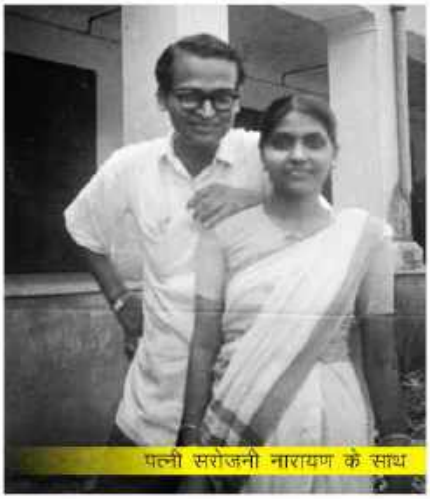

पत्नी सरोजनी नारायण के साथ

उसके बाद तीन बेटे विजय-जय और संजय और में एक बेटी प्रीति का जन्म वहीं लंगरटोली के उसी मकान में हुआ था। सभी का जन्म रेणु जी की पत्नी लतिका रेणु की देख रेख में हुआ था जो नर्स थीं। जेपी ने यह निर्देश दिया था कि जेल जानेवाले समाजवादी नेताओं की गर्भवती पत्नियों के प्रसव लतिका जी की देख रेख में होगा। बाद में ये "राष्ट्रवाणी" अखबार में और फिर बेनीपुरीजी के साथ ही "नई धारा" में काम करने लगे थे। बाबूजी के कारण ही बेनीपुरी जी हमेशा इनको बेटा जी ही कहते थे और साहित्यिक सभी लोग इनको भी बहुत प्यार और इज्जत देते थे। सब लोग बराबर घर पर भी आते रहते थे। बेनीपुरीजी तो हम लोगों को बच्चों के साथ बराबर अपने घर पर खाने पर बुलाते थे और बाबूजी से कम मुझको, इनको या बच्चों को प्यार नहीं करते थे।"

"उन दिनों का हम लोगों का जीवन सारे अभावों के बीच भी बहुत सुखमय था। इनका सारा समय लिखने-पढ़ने, सितार रियाज करने और बच्चों के साथ खेलने-प्यार करने में बीतता था। साहित्य सम्मेलन में कलाकेंद्र में रोज शाम को इनका जाना जरूरी था। बाबूजी साहित्य सम्मेलन में ही रहते थे। परिषद् कार्यालय भी वहीं था। ये अपना सितार लेकर श्यामनारायण बाबू की रात भर चलने वाली संगीत की बैठकों में जाया करते थे और देर रात लौटते थे। उसी बीच जब बाबूजी को टी.बी. हो गई थी तो उनको जबर्दस्ती अपने घर में ले आए थे और उनके दवा इलाज पर मुस्तैदी रखते थे। बच्चों की वजह से बाबूजी नहीं आना चाहते थे तो इन्होंने बच्चों को कुछ दिनों के लिए भागलपुर भेज दिया था। जब बाबूजी को

टी.बी. अस्पताल में भरती कराना पड़ा था तो डॉक्टर के लाख मना करने पर भी शुरू में ये वहां बाबूजी की देखरेख में रह गए थे। शायद 1954 की बात है बेनीपुरीजी का नाटक 'अंबपाली' पहले साहित्य-सम्मेलन, पटना में खेला गया था। उसी समय से इनके मन में इंग्लैंड जाकर ड्रामा की ट्रेनिंग लेने की धुन सवार हो गई। इन्होंने "नई धारा" से इस्तीफा दे दिया और इंगलैंड जाने की तैयारी में लग गए इनका इरादा इतना पक्का था कि इन्होंने घर में जो थोड़ा बहुत फर्नीचर या उसको भी बेच दिया, और कुछ पैसा जो इसके लिए बचाते आ रहे थे बस उससे किसी तरह टिकट वगैरह का इंतजाम करके ये चले गए। वहां एक होटल में बैरे का काम करते हुए किसी तरह वहां का अपना खर्च चलाते थे। बाबूजी ने परिषद का कुछ काम लंदन में कराकर इनके लिए कुछ पैसों का इंतजाम भी कराया था। अपना सितार ये वहां भी ले गए थे और यहां भी इनका रियाज चलता रहा। वहां पहले ये एक बंगाली के साथ कुछ दिन रहे जो सितार बजाता था और जिसके यहां एक अंग्रेज लड़की साथ नाच का रियाज करने के लिए आती थी। लेकिन बाद में ये कहीं अलग रहने लगे। इस बीच में भी बच्चों को लेकर भागलपुर चली गई थी। ठीक साल भर के बाद से ट्रेनिंग पूरा करके वापस आ गए। जिसके तुरंत बाद इनको यहां दिल्ली में सांग एंड ड्रामा डिवीजन में नौकरी मिल गई। जगदीशचंद्र माथुर उस वक्त उस मिनिस्ट्री में सेकेटरी थे। वे जब पटना में थे तभी से इनको बहुत मानते थे और उनकी मदद इनको बराबर मिलती रही। दिल्ली में नौकरी हो जाने के कुछ ही महीनों बाद हम लोग यहां राजेंद्र नगर के एक मकान में चले गए। बच्चे सब अभी छोटे-छोटे थे। सबका नाम वहीं लिखवाया गया। संजय तो गोद में ही था। यहां ये बहुत व्यस्त रहने लगे, लेकिन दफ्तर से आने के बाद और जाने से पहले ये बच्चों के साथ वक्त बिताते थे और पुरानी आदत के अनुसार देर तक लिखते-पढ़ते थे। सितार का रियाज भी नियम से चलता था मुझको और बच्चों को बीच-बीच में छुट्टी के दिन बाहर भी ले जाते थे। बच्चों को भी हमेशा अच्छी बातें बताते थे। सिगरेट और शराब पीने की आदत इनको दिल्ली आने के बाद ही लगी। ये दोनों ही दिल्ली को देन थे। इंग्लैंड में भी इनकी ये आदतें नहीं थीं। यहां से बराबर मुझको चिट्ठियों में अपनी कड़ी मेहनत और स्वास्थ्य पर ध्यान रखने की बात लिखा करते थे। लेकिन दिल्ली में दफ्तर की कड़ी मेहनत के दौरान और वहां की पार्टियों आदि की सोहबत में ही उनको ये आदतें लगीं। लेकिन शराब भी ये बहुत कायदे से पीते थे। शराब पीकर बहकते मैंने इन्हें कभी नहीं देखा। रोज की आदत इनकी रिटायर करने के बाद ही हुई, और वह भी सिर्फ रात के खाने से पहले, जिसके बाद या तो सितार लेकर बैठते थे या फिर लिखते थे। देर रात तक लिखने-पढ़ने की इनकी आदत शुरू से थी। इन्होंने अपनी जिंदगी बहुत शान से जी। लिखने-पढ़ने और संगीत नाटक के अलावा इनके बहुत सारे और भी शौक थे। बागवानी का शौक इनको बचपन से था वैसा

हरिवंश राय बच्चन और उनकी पत्नी तेजी के साथ

ही शौक कुत्तों का था। अंतिम दिनों में बोन्साई का बेहद शौक था। जब तक किदवई नगर के सरकारी फ्लैट में रहे, दफ्तर से आते ही दरवाजे पर ही बैग रखकर पहले गार्डन का एक चक्कर लगाते थे और एक-एक पौधे का हाल देखते थे। उस नीचे के फ्लैट में बड़ा सा गार्डन था, जिसके एक कोने में इन्होंने अपने हाथों से एक झोपड़ीनुमा कमरा बना लिया था और दफ्तर से आने से बाद उसी में बैठकर लिखना पढ़ना करते थे। तब तक नाती-पोते भी हो गए थे, तो उनको भी वहां कुछ देर अपने साथ बैठा लेते थे।"

"हम लोगों का जीवन हमेशा एक खुली किताब की तरह रहा। हम जहां भी रहे नाते-रिश्ते के लोग बराबर हमारे यहां आते-जाते रहे। सबने हम लोगों के रहन-सहन को खुली नजरों से देखा। हम दोनों के बीच कभी कोई किसी तरह का गहरा मतभेद नहीं हुआ, बराबर एक-दूसरे के प्रति पूरा विश्वास, पूरी समझ बनी रही। घर की व्यवस्था का पूरा भार मेरे जिम्मे शुरू ये रहा, यहां तक कि बच्चों की पढ़ाई कैसी चल रही है, फीस कब लगेगी, कहां कौन सा उपहार देना है इन सबकी चिंता मेशा मेरी रही। मैंने हर तरह से इनको अपने काम के लिए हर शौक के लिए पूरी आजादी दे दी थी।"

माँ के संस्मरण में पिता जी का पूरा व्यक्तित्व सामने उभर कर आता है। पिता जी ने 1954 में ही अपना पहला उपन्यास लिखा था जिसकी भूमिका अज्ञेय ने लिखी थी। पिता जी तेजी बच्चन के साथ ड्रामा करते थे। बच्चन जी ने जब शेक्सपियर के मैकबेथ का अनुवाद किया तो उस नाटक का निर्देशन मेरे पिता जी ने किया। वे चेखव के प्रशंसक थे। चेरी के बगीचे और तीन बहनों का भी अनुवाद किया था। श्रीराम सेंटर पर 77 में मंचन भी हुआ था। ससे पहले लक्ष्मी नारायण लाल के "मिस्टर अभिमन्यु" का भी निर्देशन किया था जिसमें दिनेश ठाकुर ने काम किया था। देवेंद्र राज अंकुर और महेश आनंद जब एम.ए. के छात्र थे पिता जी से मिले थे। 1960 में "कल्पना" में पिता जी के प्रसाद के नाटकों पर लेख छपे थे और "सूरदास" नामक नाटक छपा था। पिता जी ने विद्यापति, शरतचन्द्र, बापू पर भी नाटक लिखे थे। गाँधी जी की जन्मशती पर सरकार ने जो आयोजन किया था, उस आयोजन का हिस्सा "बापू के साये में" नाटक भी था। उसके कई शो हुए थे। इलाहाबाद में कुंभ में लाइट एंड साउंड का कार्यक्रम कर रामचरित मानस भी दिखाया था। दिल्ली में 77 में मोरारजी देसाई और लालकृष्ण आडवाणी ने भी वह रामचरित मानस शो देखा था। पिता जी तमिल के राष्ट्रकवि सुब्रमनियम भारती पर भी इस तरह का शो किया था जो दक्षिण भारत मे लोकप्रिय हुआ था।

पिता जी में बहुमुखी प्रतिभा थी पर आत्म प्रचार से दूर छपने छपाने को लेकर मोह नहीं उनके बहुत सारे नाटक छपे ही नहीं। मेरे मामा मंगल जी के कारण 5 खंडों में रचनावली संपादित की लेकिन नई पीढ़ी के लोग पुराने लोगों को पढ़ते नहीं। रंगमंच की दुनिया बदल गयी। पिता जी किसी गुट में नही रहे। जब अलका जी ने भारती जी का नाटक "अंधा युग" किया था तो पिता जी ने उसकी आलोचनात्मक समीक्षा लिखी थी जिससे अल्का जी से उनके सम्बंध थोड़े खराब हो गए। पिता जी में एक आदर्शवादी मूल्य रहे निर्भीक और साहसी भी रहे। आज़ादी की लड़ाई के सेनानी थे इसलिए कभी नाम के चक्कर में नहीं रहे। जीवन भर वे मेरे नानाजी की तरह काम करते रहे। 16 नवम्बर को उनका जन्म हुआ था और उसी तारीख को वह यह दुनिया छोड़कर चले गए। एक अभिनेता एक निर्देशक, एक नाटय आलोचक, एक कवि, एक कहानीकार, एक उपन्यासकार, एक अनुवादक, एक सितारवादक- क्या नहीं थे वे पर सांसारिक यश से दूर रहे जबकि अज्ञेय, विष्णु प्रभाकर, डॉक्टर नगेन्द्र बच्चन, जगदीश चन्द्र माथुर सब से उनका आत्मीय परिचय रहा पर पिता जी नाना जी की तरह पर्दे के पीछे रहे। प्रख्यात संगीत निर्देशक अनिल विश्वास हम लोगों के घर आते थे। विलायत खान तो पिताजी को भैया कहते थे। ऐसी दोस्ती थी। इस तरह घर का माहौल कलामय था। ऐसे पिता सबके हों जो पूरे परिवार की खुशियां का भी ख्याल रखते हों। जिम्मेदारी का भी।●

साहित्यकारों की पत्नियाँ

आशा का उजास 'हमारी माँ'

हिंदी के प्रसिद्ध कवि नंद चतुर्वेदी के जन्मशती वर्ष में उनकी पत्नी पर उनकी विदुषी बेटी मंजु चतुर्वेदी का लेख दे रहे हैं।

मंजु चतुर्वेदी
मो० 9414283160

सन् 1940 में अक्षय तृतीया के अबूझ मुहूर्त में पारंपरिक रीति-रिवाजों से हमारे माता-पिता विवाह के बंधन में बंध गए। 17 वर्ष के नंद चतुर्वेदी जिन्हें हम 'दा', 'नंदबाबू' कहते हैं और 13 वर्ष की आशा चतुर्वेदी जिन्हें हम 'जी' कहते हैं, अपने में मगन थे। भावी जीवन की चुनौतियों से बेखबर। नंदबाबू की मंजिले अभी तय नहीं थी। पढ़ाई बाकी थी किन्तु युवा मन में बहुत कुछ कर गुज़रने की चाह थी। कविताओं से मन और विचार अभिव्यक्त हो रहे थे। झालावाड़ नरेश राजेन्द्र सिंह सुधाकर के सम्मुख काव्य पाठ से पुरस्कार प्राप्त करके बहुत उत्साहित थे।

13 वर्ष की किशोरी के लिये विवाह का मतलब समझ पाना मुश्किल था। स्कूल जाना, शिक्षा पाना, पढ़ना-लिखना सब पर पाबंदी थी। बातें करना, बाहर घूमना फिरना कुछ भी नहीं। सार्वजनिक जीवन का कोई अनुभव भी नहीं था। विवाह गुड्डे-गुड़िया का खेल है, ओढ़ने-पहनने के लिये चमकीले वस्त्र और बहुत सी मिठाइयाँ खाने का मजा आता है। यही होती है शादी, ऐसा सोचकर खुश थी। अबोध भोली और अनजान। दुनियादारी से बेखबर।

यह विवाह अनेक अर्थों में असमान और अलग प्रकार का था। श्री सुदर्शनलाल चतुर्वेदी जंगलात के हाकम थे और अपने पुत्र की बारात लेकर आए थे। हमारे बाबा का ऊँचा नाम था। उनका जाति, समाज में रूतबा था। उन्होंने बड़ी उम्र में विवाह किया था। दादी बाबा से उम्र में बहुत छोटी थी। घर-परिवार में सभी बाबा से भयभीत रहा करते थे।

विवाह चित्तौड़ में श्री राधाकृष्ण चौबे के घर से हुआ था। वे हमारे नाना मूलचंद चौबे के बड़े भाई थे। बड़े भाई ने छोटे भाई की आर्थिक स्थिति देख-समझकर प्रस्ताव रखा था कि उनकी दो बेटियों का विवाह तो वे कर ही रहे हैं क्यों न तीसरी बेटी का काज भी करवा दें। नाना ने बात मान ली।

हमारे नाना मेवाड़ से खानदेश, महाराष्ट्र चले गये थे और वहीं फलों का व्यापार करने लगे थे। परिवार वहीं बस गया। पूरा परिवार मराठी संस्कृति में ढल गया। खान-पान, भाषा, भूषा सब वैसा ही। बाद में नाना को व्यापार में घाटा हुआ तो वे मध्य प्रदेश में नीमच के समीप ढाबी गाँव में रहने लगे। वहीं खेती बाड़ी शुरू कर दी थी। मकान भी बनवा लिया। वे एक नेक और ईमानदार व्यक्ति थे। शरीर से भारी थे। गौर वर्ण के थे। उनकी नीली आँखे थी। परिवार में दो मौसियों और मेरी आँखे नीली है। सब कहते थे कि हमारे नैननक्श नाना जैसे है।

खैर, दो भिन्न सांस्कृतिक परिवेश। माँ हिन्दी और मराठी भाषा बोलती थी। ब्याहकर राजस्थान के हाड़ौती क्षेत्र झालावाड़ में आयी तो राजस्थान की स्थानीय बोलियों से नितांत अपरिचित। साथ में लायी थी 'सबक' का पिटारा क्या करना है, कैसे रहना है? पर्दा करना, बड़ों के पैर छूना, आने-जानेवालों का मान करना। अब तुम 'ससुराल वाली' हो। जैसा वे कहे करना, वो जैसा सिखाएं, जो आज्ञाएँ दें पालन करना।' माँ ने सिर हिलाकर हामी भरी। वे खास कुछ समझ नही सकी सिवाय इसके कि घर छूट रहा है। माता-पिता, भाई-बहन सबसे दूर जाना पड़ेगा। कच्ची उम्र थी ऊपर से शादी के लम्बे चलने वाले अनुष्ठानों से थकी हुई थी लिहाजा विदाई में देरी होती देख आँखें बंद की तो नींद ही आ गयी। नानी ने झिझोड़ा। नींद से उठाया। विदाई का मुहूर्त था। अपनों को छोड़ने का यह पहला मौका था। वे रोने लगी, रोती रहीं और जब किसी ने चुप कराने की चिंता नहीं की तो खुद आँसू पोंछ लिये।

नाना-नानी खुश थे। उन्हें पढ़ा लिखा दामाद मिला, प्रतिष्ठित परिवार था जिनका अपना पुश्तैनी घर था। और क्या चाहिए?वे अपनी सुन्दर, सुशील, शांत और मितभाषी बेटी की शादी कर जैसे 'गंगा नहा लिए।'

बहुत जल्दी ही हमारी माँ को यह अहसास करवा दिया गया कि वे एक मामूली परिवार से आयी हैं। तिस पर अनपढ़। सब सुनकर भी वे चुप रह गईं। क्या करती?तब लड़कियों को घर से बाहर भेजने, स्कूल में पढ़ाने का चलन नहीं था। उनकी बहनें भी पढ़ी-लिखी नही थी। इसमें उनका क्या दोष?

पुराना ज़माना था। विवाह का धर्म घर-गृहस्थी की कुशलता में परखा जाता था। हर स्त्री की तरह हमारी माँ की दिनचर्या भी गृहस्थी की पटरी पर दौड़ने लगी। अब तक वे कामों में बहुत निपुण नहीं थी। खाने खेलने की उम्र में काम करना पड़े तो मुश्किल आएगी ही। आए दिन बातें सुनने को मिलती। मगर कैसी शिकायत और किससे शिकायत। उनका हर दिन रसोई की अर्गला खोलने से शुरू होता। वर्षों तक यही सिलसिला चलता रहा। या तो घर-गृहस्थी के काम-या फिर बच्चों की सार-संभाल। औरत को राहत किसी भी सूरत में नहीं मिलती, सुबह जल्दी उठना, ठंडे पानी से नहाना, चूल्हा चौका संभालना। बच्चों को संभालते हुए शौचादि का काम आ पड़े तो फिर से नहाना। दोपहर में कच्चा खाना बनता यानी रोटी, दाल, सब्जी। शाम को कटरे (पराठें)। अतिथियों का आना अ-तिथि ही होता है। फिर रसोई खोलो। चूल्हा जलाओ। फूंक मारो। आँखे जलने लगती और पानी गिरने लगता। उन्हीं में आंसू भी मिले होते। किसी को पता न चलता। सब यही समझते थे कि धुंए के कारण ऐसा हो रहा है। औरत के लिए रसोई ही वह जगह होती है जहाँ वो सारे रस उत्पन्न करती है। व्यंजनों को पकाते हुए वो पीहर को याद करती रहे तो कौन रोक सकता है। 'अबके बरस भेजो भैया को बाबुल, सावन में लीजों बुलाय रे।' कैसे और कब ये संदेशा पहुँचा पता नहीं मगर पहुँचा तो था। क्योंकि बुलावा आया था और यह समाचार भी पता चला कि हमारी सावित्री मौसी का विवाह रामकाका से होगा। बाद में हमारे रामभऊ मामा की शादी हमारी कृष्णा बुआ से हुई। ये आटेसाटे (बदले) का विवाह कहलाता था। उस समय इसका काफी प्रचलन था।

बहन के आ जाने से सुख-दुख तो साझा हुए ही कामकाज में भी सहारा मिल गया।

संयोग यह हुआ कि पिताजी कवि और काका कहानीकार। दोनों बहनों के लिये ये आश्चर्य का विषय था। दोनों ही इसे कौतुक की तरह देखती थी। आँखों में उत्सुकता भरी होती। ऐसे कोई कैसे कविता, कहानी लिख सकता है?ज़रूर कोई 'अजूबा' है, कोई रहस्य।

दादी-बाबा को अपने बेटों पर बहुत गर्व था और बेटी तो लाड़ली थी ही। हमारे प्रकाश काका और बुआ का स्वर भी गजब का था। दादी सौ-सौ नज़रे उतारती थी। नंदबाबू (नंद चतुर्वेदी) नफासत पसंद थे। कवि सम्मेलनों में ख्याति मिल रही थी और राजनीति की ओर भी बढ़ रहे थे। हाड़ौती का पहला 'प्रगतिशील सम्मेलन' खुद के खर्चे से नंदबाबू ने घर पर करवाया था। अनेक समाजवादी नेता साहित्यकार

तब घर आए। दादी ने भोजन की व्यवस्था की।

दा के जीवन और लेखन में बड़ा बदलाव आ चुका था। उन्होंने ब्रज भाषा में कविता लिखना छोड़ दिया था। 'नये गान होंगे, नई वन्दना में। सितारों तुम्हारी चमक जा रही है, नए चांद की रोशनी आ रही है और माँ तुम्हारे भाल का चंदन नहीं अंगार हूँ मैं, जैसी आशावादी कविताओं में उन्हें ज़िन्दगी का आकाश दिखाई दे रहा था। नई संस्कृति की दस्तक नंदबाबू ने सुन ली थी मगर हमारी माँ की दुनिया अभी भी उनका घर और छोटे तीन बच्चे थे और साथ में थी ससुराल और मायके की जिम्मेदारियाँ।

1950 में हमारे पिताजी जलगाँव, महाराष्ट्र की हेडमास्टर की नौकरी छोड़कर उदयपुर आ गए। यहाँ उन्हें विद्या भवन टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज में हिन्दी प्राध्यापक की नौकरी मिल गयी थी। महाराणों के इस शहर में झीलों का अनुपम सौन्दर्य कवि मन को भाने लगा था। यद्यपि ये पुराने रंग-ढंग का शहर था। इस शहर की दिक्कत यह थी कि आवागमन के संसाधन नहीं के बराबर थे। तांगा, ठेला, साइकिल बस यही। पिताजी अकेले नहीं आए थे। हमारी माँ, बच्चे, बाबा-दादी, काका, मौसी और प्रिय रिश्तेदार। हमारी माँ से रसोई छूटती ही नहीं थी। घर के काम स्त्री के थे वो करने ही पड़ते थे। ना उन्होंने क्षितिज देखने की फुर्सत पायी और न ही इन्द्रधनुषी छटा को निहार सकी। हमारी माँ की छवि 'अन्नपूर्णा' की थी। हर आने-जाने वाले की खाना के लिये मनुहार होती थी। घर में लोग बने ही रहते थे। गेंदा लालजी और नारायण दादा ने विद्या भवन से बी.एड. किया तो प्रायः हमारी माँ के हाथ का बना खाना खाया करते थे। माँ इस छवि को तोड़ नहीं सकी।

हमारी नानी अपनी इस रूपवान बेटी को 'बिन्दी' कहा करती थी। माँ के गौरवर्णी मुख पर सिन्दूर की लाल बिन्दी सजी रहती थी। जो देखता, देखता रह जाता। भला कोई स्त्री इतनी सुहासिनी, इतनी सुन्दर कैसे हो सकती है?लोग कयास लगाते कि शायद इन्हीं के साहचर्य में नंदबाबू ने लिखा होगा कि-

सुन रही हो प्राण की धड़कन हमारी
प्राण! मन के प्यास की यह तृप्ति कैसी
देह दो दो किन्तु यह अनुरक्ति कैसी
श्वास स्वप्नों में सहज होकर समाहित
सुन रही हो प्यार की गुंजन हमारी

माँ मन से बहुत भोली, व्यवहार में सरल और हृदय से उदार थी। दिक्कत ये थी कि वे किसी से घुलमिल नहीं पाती थी। वाक्चातुर्य नहीं था, अभिव्यक्ति के लिये शब्दों की कमी थी और बातें बनाना तो बिल्कुल नहीं आता था। हमारी दादी चतुर और होशियर थी। वो हमारी माँ को ज्यादा कुछ मानती नहीं थी और गाहे बगाहे उनका मज़ाक बनाती थी। धीरे-धीरे हमारी बड़ी बहन चंदाजीजी माँ की ढाल बन गयी थी। वे कई बार भिड़ जाया करती थी।

तेजोदीप्त, सुदर्शन, प्रतिभाशाली नंद चतुर्वेदी अपने कॉलेज में लोकप्रिय थे। बहुत सी महिलाएँ कॉलेज में पढ़ रही थी। वे नंदबाबू के आसपास रहने के बहाने

पत्नी के साथ नंद चतुर्वेदी

ढूंढ़ती थी। पढ़ने के लिये 'घर' आ जाती थी। वे नंदबाबू की कविताओं में 'रस' लेती थी और तारीफों से माहौल गर्माए रखती थी। नंदबाबू को पढ़ी-लिखी, करीने से ओढ़ने-पहननेवाली, खुलकर हँसती महिलाएँ और उनका साथ भाने लगा था। हमारी माँ उद्विग्न रहा करती थी। ये छठे दशक की बात थी जब स्वाधीन भारत में शिक्षित स्त्री ने परिवार और समाज में बदलाव को दस्तक दे दी थी। दिक्कत अभी भी यह थी समाज में सभी महिलाओं को पढ़ने को इजाज़त नहीं थी। पढ़ीलिखी और अनपढ़ स्त्रियों के बीच एक सांस्कृतिक अंतर दिखाई देता था। इसका खामियाजा उन स्त्रियों को भुगतना पड़ा जो दुर्भाग्य से रीति-रिवाज़ों में जकड़ी हुई थी। बहुत सी स्त्रियाँ घर में, घर के कामों में लगी रहती थी।

वे ज़िन्दगी की मझधार में खड़ी होकर दिशा तय नहीं कर पा थी और हर बार शिकस्त ही हाथ लगती थी। उपेक्षा और हीन भावना मन के भीतर कसमसाहट पैदा कर रही थी। इस बीच नंदबाबू के पास जब उपेन्द्रनाथ अश्क का पत्र आया तो हमारी माँ चिंता में पड़ गयी। अश्कजी ने लिखा था कि कौशल्याजी उदयपुर आ रही है और उन्हें घर पर ठहराने का आग्रह किया गया था। माँ तब बार-बार यही पूछती रही कि वे उनसे क्या बात करेंगी?कैसे आवभगत होगी। क्या वे एक घरेलू स्त्री से बात करना पसंद करेंगी?

उदयपुर शिक्षा और साहित्य की नगरी है। इसका एक अच्छा प्रभाव यह हुआ था कि यहाँ 1933 में ही सहशिक्षा का विद्या भवन स्कूल खुल चुका था। हमारे परिवार के लिये यह वरदान था।

1956 में नंदबाबू विद्या भवन रूरल इन्स्टीटयूट में हिन्दी के प्राध्यापक नियुक्त हुए। नंदबाबू जितने प्रखर कवि थे उतने ही गुणी शिक्षक थे। वे जब मैथिलीशरण गुप्त की 'पंचवटी' पढ़ाते थे तो विज्ञान के विद्यार्थी भी आ बैठते थे। वे लोकप्रिय कवि और शिक्षक के रूप में पहचाने जाने लगे थे।

वे एक बेहतरीन वक्ता भी थे लिहाजा विद्या भवन स्कूल में भाषण के लिये आमंत्रित किए जाते थे। स्कूल में प्राध्यापकों से अच्छा परिचय था। तब यह तय हुआ कि हमारी स्कूली शिक्षा विद्या भवन स्कूल से हो। सवाल यह था कि क्या लड़कियों को सहशिक्षा के स्कूल में भेजना ठीक होगा? सार्वजनिक भागीदारिता से वंचित, बाहर की मुखर दुनिया से अपरिचित और दूर रहने वाली हमारी माँ ने तुरन्त सहमति दे दी। वे इस दुख और अपमान से उबरना चाहती थी जो उन्हें अशिक्षा के कारण भोगना पड़ा। अब एक माँ के भीतर चेतनशील स्त्री जन्म ले रही थी। बेटियों को हर हाल में पढ़ाना है। ये उनका संकल्प था। वे गर्व से कहती थी कि उनकी बेटियाँ प्रथम श्रेणी पास हैं। उनके संघर्ष के साक्षी, हम सबने कभी भी, किसी के भी समक्ष ये नहीं जताया कि वे पढ़ी-लिखी नहीं है। वे ऐसी माँ थी जिन्होंने अपने बच्चों को दिन-रात पढ़ते देखा था। वे मनोविनोद में कहती थी कि 'मैंने तो सात बार एम.ए. किया है। अरूण दादा सुखाड़िया यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर बने तो इसलिये खुश हुई कि अब मृत्यु पर्यन्त तक का साथ है उदयपुर में ही।

हमारी माँ अब तक बहुत बदल चुकी थी। घर बाहर के काम वे ही संभालती थी। उनका एक कथन बहुत काम का था 'भरी मुट्ठी लाख की।' तो घर में शादी हो, कोई अस्पताल में भर्ती हो या मेहमान आनेवाला हो, वे कभी ये नहीं जताती थी कि कोई तंगी है, परेशानी है। 'सब हो जाएगा, चिंता मत करो।' जीवन की गाड़ी तो क्या गृहस्थी भी अकेले चल ही नहीं सकती। तमाम उन्मुक्तता के बावजूद नंदबाबू ने अपने कर्तव्य बखूबी निभाए। वे अपना दायरा समझ चुके थे। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि मन से कठोर, क्रूर नहीं थे। वे स्त्री जीवन के दृश्य-अदृश्य दुखों, पराधीनताओं और दासत्व से उत्पन्न विसंगतियों के विरोधी थे। उनका कहना था कि स्वतंत्रता स्त्री-पुरुष दोनों की बुनियादी ज़रूरत है। राममनोहर लोहिया के टीकाकार होने के नाते वे किसी भी प्रकार के सत्ता प्रभाव के विरोधी थे। यही कारण रहा कि घर में उन्होंने सबको 'स्पेस' दी, अधिकार दिए। यदि उनके रिश्तेदार आए

तो माँ को भी रोका-टोका नहीं। उन्होंने नाना का इलाज करवाया, हमारी सबसे छोटी मौसी को उदयपुर में पढ़ाया और एक मौसी की शादी में आर्थिक मदद की। इतना ही नहीं हमारी माँ को या हमें कभी कोई आदेश नहीं दिया, काम नहीं सौंपे। अपनी माँ और माँ के गाँव से बहुत प्रेम था। उस मोहिनी से बंधे रहे।

माँ के हमारी बुआ, काका, उनके बच्चों से बड़े ही स्नेहपूर्ण सम्बन्ध थे। बाद में घर में बहुएं आयी, पोते-पोती, दोहिते-दोहितियों हुए और वे संयुक्त परिवार में सबकी 'जी' कहलाने लगी। मदद करना उनके स्वभाव में था। अड़ोस-पड़ोस के बच्चों को खेलते देखना उन्हें बहुत पसंद था। रूरल इंस्टीट्यूट छूटा तब भी वहाँ से बहुत सी महिलाएँ मिलने आती रही। वे हमारी माँ की मिलन सारिता की तारीफ करती थी।

दुनिया को जितना कवि समझ सकता है उतना कोई और क्या समझेगा। समय की आहटों को पहचानते हुए नंदबाबू ने माँ के पक्ष में तीन बड़े निर्णय किए। पहला उन्हें प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र में साक्षरता अभियान का हिस्सा बनाया, दूसरा बैंक अकांउट खुलवाया और तीसरा 30 अहिंसापुरी वाले घर की रजिस्ट्री उनके नाम करवाई। जिसे वो 'माय हाउस' कहती थी। उन्होंने हस्ताक्षर करना सीख लिया था 'आशा चतुर्वेदी'। पहले वे कहा करती थी कि ये शक्ति उन्हें इसलिये मिली कि देश की प्रधानमंत्री एक महिला है। वे श्रीमती इंदिरागांधी को अपना आदर्श मानती थी और अपने अधिकारों का प्रतिरूप भी। वे अपने वोट का महत्त्व समझने लगी थी। हाथ में जो रुपया आता था सिरहाने पर, तकीये के नीचे रखती थी। यह भी ताकत का ही विकल्प था।

नंदबाबू की साहित्यिक-राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं का साकार रूप थी उनकी संपादित त्रैमासिक पत्रिका 'बिन्दु'। लघुपत्रिका आन्दोलन बल पकड़ रहा था। 'बिन्दु' की कीर्ति चारों तरफ फैल रही थी। नंदबाबू को ये नाम और यश सहज ही नहीं मिला था। इसके पीछे उनकी लगन, मेहनत तो थी ही साथ ही परिवार का विशेषकर हमारी माँ का समर्पण भाव था। रूरल इंस्टीट्यूट में तीन-तीन महीने तक वेतन नहीं मिलता था तो राशन-पानी का इन्तज़ाम, बड़े से संयुक्त परिवार में होने वाले अनेक काज, सात बच्चों की पढ़ाई और ऊपर से बिन्दु का प्रकाशन। मुश्किल था, बहुत मुश्किल। कभी ठेले में, कभी तांगे में रखकर बिन्दु के अंक घर लाए जाते। प्रिंटिंग प्रेस से घर की दूरी नापना कठिन था। उदयपुर का एक दूसरा छोर था रूरल इन्स्टीट्यूट। बिंदु के अंकों का एक कमरे में ढेर लग जाता। माँ सारे कामों से फुर्सत पाकर लिफाफों में पत्रिका रखती। हम अपनी समझ से पते की पर्चियाँ लगाते। नंदबाबू के चेहरे पर चमक होती थी जिसका श्रेय वो माँ को दिया करते थे। हमें मिठाई भी खिलाते थे। ये अर्थ संकट के गहरे बादलों से निकलता सूर्य होता था। पत्रिका बंद हुई किंतु यश बना रहा।

हम 30 अहिंसापुरी वाले मकान में आ चुके थे। नंदबाबू रूरल इंस्टीट्यूट का बंगला छोड़ना नहीं चाहते थे और निर्माण जैसे नीरस काम में उनकी कोई रुचि नहीं थी। तब ये जिम्मा आया हमारी माँ पर। साथ दिया सुयश भाई ने। जैसे-तैसे 'माय हाउस' तैयार हुआ। पैसा चाहे नंदबाबू का था मगर चाहत और अनथक मेहनत 'जी' की थी।

हमारी माँ बीमार रहने लगी थी। उनको डायबिटीज़ हो चुकी थी और वे चाहती थी कि घर में कोई डॉक्टर बने। मन्नू जीजी के दोनों बच्चे गरिमा और गौरव डॉक्टर बने तो सपना पूरा हुआ। चंदा जीजी का बेटा अनुभव बाद में दांतों का डॉक्टर बना।

एक समय ऐसा आया जब नंदबाबू अधिकतर सृजनरत रहने लगे। व्यस्तताएं बढ़ गई थी। उदयपुर में अकादमी और विश्वविद्यालय होने से लेखकों का आना-जाना, सेमिनार, गोष्ठियाँ होती रहती थी। घर का 'ड्राइंगरूम' लेखक कक्ष था। एक दूसरे कमरे में परिवार के हम सब। अरूण दादा नित ही आते थे और 'जी' के पास बैठते थे। सारे समाचार लेते और समस्याएँ हल करते। चंदाजीजी भरतपुर से, मन्नू जीजी कोटा से आती थी, अनुरागभाई मुम्बई से। सब इधर के कमरे में।

हम सब समझ चुके थे कि लेखक का संघर्ष दोहरा-तिहरा है। अपनी जगह अपनी पहचान और छवि की चिंता दा ने कभी नहीं की। वे निडर और बेबाक थे। नौकरी में मुखिया से, सरकार में सत्ता से और अकादमी में अध्यक्ष से वे प्रायः नाराज रहते थे। उनकी बैचेनी समझ में आती थी। उनके स्वभाव के हम समर्थक थे। अब 'जी' भी दा की कविताओं में 'रस' लेने लगी थी। आकाशवाणी, दूरदर्शन पर रुचि से कविताएँ सुनती थी। मन ही मन खुश भी होती। नंदबाबू को राजस्थान साहित्य अकादमी का सर्वोच्च 'मीरा' पुरस्कार मिला, 'बिहारी' पुरस्कार मिला और जब सरकार की ओर से लंदन गए तब उत्सव का माहौल था, सभी गौरवान्वित थे। हमारी माँ जीवन के सातवें दशक में प्रवेश करके गहरी आश्वस्ति भाव में थी। सब अच्छा हो रहा है।

'वक्त के उड़ते पंछी से जग का हर प्राणी हारा है।' कविता पंक्ति बार-बार याद आ रही थी। जब 'सब अच्छा हो रहा है' तो ये विपदा क्यों?ये कैसी परीक्षा है?डाक्टर बोर्दिया ने कहा 'माताजी को स्तन कैंसर है।' सुनकर हम सब हतप्रभ थे। अब?रोना थम नहीं रहा था। मगर क्या ये सच है कि जिसने दुख दिया है वही सहनशक्ति देता है, पार लगाता है। विश्वास अटूट हो तो भला क्या डर?माँ ने कहा चिन्ता मत करो ठीक होकर आऊंगी। कितनी हिम्मत चाहिये।

'अपने पर और अपनों पर विश्वास का कैसा अनूठा भाव'

दा बहुत निराश और हताश थे। वे चुपचाप बैठ थे। चिन्ताओं से घिरे। कहाँ, कैसे इलाज होगा? अनुरागभाई ने मुम्बई में डाक्टर से समय लिया, अरूण दादा ने हवाई टिकिट करवाया, आदर्श ने हिन्दुस्तान जिंक से रुपयों का इन्तजाम किया। सुयश और मन्नूजीजी साथ में गए। मैंने उदयपुर में घर संभाला। सब की दुआएँ थी। उन्होंने कैंसर को हरा दिया। उनकी मृत्यु कैंसर से नहीं हुई थी।

मृत्यु के बहाने भी क्या कम होते हैं?रात साढ़े ग्यारह बजे थे। कौस्तुभ ने कहा उसे भूख लगी है। बिस्कुट और दूध लेकर आयी। इधर देखा तो दिल थक् से रह गया। दा को आवाज़ दी। वे नींद में थे सो हड़बड़ाते हुए उठे। देखा कि कंचन सी काया अंगारे सी लाल थी। वे छटपटा रही थी। ये अटैक था। आधे घंटे के संघर्ष के बाद डाक्टर ने जवाब दिया 'शी इज़ नो मोर।' मुझे विश्वास नही हुआ। ऐसा कैसे हो सकता है?वे कहाँ जा सकती है। जिन्हें दिन-रात सबकी चाहत और चिंता रहती है वे कैसे छोड़कर जा सकती है। किन्तु वे विदा हो चुकी थी। उनके तकीये के नीचे कुछ रुपये, चंदाजीजी का पत्र, बैंक पासबुक और अलमारी की चाबी मिली। छिपाने को कुछ था ही नहीं। उनकी मृत देह को उसी कमरे में रखा गया जहाँ नंदबाबू ने असंख्य कविताएँ लिखी उनके लिये जिन्होंने जीवन से हार नहीं मानी। फिर एक दिन नंदबाबू भी अलविदा हो गए। उनकी जीवनयात्रा पर भी बहुत कुछ है लिखने को, कहने को। ●

नन्द चतुर्वेदी की पत्नी

तस्कीन

योगिता यादव
मो० 9599096226

श्रीमती वर्मा के चेहरे पर झुर्रियां लगातार बढ़ती जा रही हैं। आंखें खूब बड़ी-बड़ी हैं पर उनके नीचे गहरे काले गड्ढे दिखाई देने लगे हैं। नींद अब बहुत कम आती है। आती भी है, तो आधी रात में उचट जाती है। आज भी वे एक बुरे सपने के कारण डर कर जाग गईं।

"श्री राम श्री राम करते हुए शाहनी चिनाब के पानी में नहाने उतरी है। मगर बाहर नहीं निकली। पानी में डुबकी लगाने के कुछ देर बाद ही पानी लाल हो गया।"

भोर की नीरव शांति है, आसपास कोई नहीं। बस एक गंडासा पड़ा है किनारे पर, गीला, रक्त सना।

मिसेज वर्मा बहुत देर तक छटपटाती रहीं, ऐसे कि जैसे दम तोड़ता कोई व्यक्ति पानी से बाहर आने का जतन कर रहा हो। छटपटाहट में वे शायद चीख पड़ी होंगी, तभी वर्मा जी की नींद भी टूट गई। उन्होंने हथेलियों से तेज तेज मिसेज वर्मा की पीठ सहलायी और पानी पिलाया।

घूंट घूंट पानी पीते उन्हें अहसास हुआ कि वे अभी जिंदा हैं। ये हकीकत नहीं सपना था। वे सिक्का बदल गया की शाहनी नहीं, दिल्ली सरकार के नगर निगम स्कूल में पढ़ाने वाली श्रीमती रीता वर्मा हैं।

कृष्णा सोबती की ये कहानी अभी कुछ दिन पहले ही उन्होंने पढ़ी थी। पर वो गंडासा?गंडासा कहां से आया?कहानी का अंत तो कुछ और था! वे सोच में पड़ गईं। आंख मूंदकर वापस बिस्तर पर लेट गईं। वर्मा जी उनकी परेशानी से बेचैन हो उठे थे। उन्होंने बहुत कोशिश की जानने की, पर मिसेज वर्मा नहीं बता पाईं। वे दोबारा इस सपने में लौटना चाहती थीं।

पर नींद नहीं आई। वर्मा जी की जिज्ञासा से परेशान वे पीठ करके, आंखें मूंदे लेटी रहीं। नींद और बहुत देर तक नहीं आई। बाएं कंधे में दर्द होने लगा, तो करवट बदलनी पड़ी। आंखें अब भी बंद थीं। सो जाना चाहिए, नहीं सोईं तो अगला दिन खराब हो जाएगा। वे उल्टी गिनती गिन रही हैं मन ही मन, ताकि नींद आ जाए। पर नींद की बजाए वह गंडासा घूम रहा है मस्तिष्क में।

रात उनींदी कटी, पर सुबह तो उठना ही था। सिर भारी हो रहा है, नींद की कमी से थकान और भारीपन है।

"आज फिर कब्ज रहेगी दिन भर। कुछ देरे ऐसे ही बैठती हूं" अपनी ही हालत पर परेशान हो उठी हैं मिसेज वर्मा। राहत के लिए जमीन पर उकड़ू बैठ गई हैं। ये मलासन की मुद्रा है, शायद पेट को कुछ आराम आए। केतली से गुनगुना पानी गिलास में उड़ेला और घूंट घूंट पीने लगीं, उसी मुद्रा में बैठे हुए।

धीरे-धीरे बाहर रोशनी बढ़ने लगी है। सुबह पांच बजे का अलार्म बजने पर उन्होंने बिस्तर छोड़ दिया था। अब धीरे-धीरे घड़ी की सूइयों के आगे बढ़ते उनके शरीर में भी रफ्तार आने लगी है। वे नहाई हैं, सुबह मंदिर में जोत जगायी है। बच्चों को उठाया है, उनके टिफिन तैयार किए हैं। बच्चे भी अपनी रफ्तार से तैयार हो रहे हैं। छह बज चुके हैं। घर में शोर और बढ़ने लगा है, चीजें ढूंढने का, मांगने का।

वर्मा जी बनियान पहने, तौलिया बांधे प्रातः कालीन पूजा में मगन हैं- "श्री गुरु चरण सरोज रज, निज मन मुकुरु सुधारि. बरनऊं रघुवर बिमल जसु, जो दायकु फल चारि.२."।

कंठ वर्मा जी का सुरीला है, पर दाएं हाथ में बजती घंटी से अजब तरह का कोलाहल पैदा हो रहा है। दीवार पर टंगे टेलीविजन की टीएफटी स्क्रीन से एक बाबा जी आक्रामक मुद्रा में चिल्ला रहे हैं। प्रेशर कुकर में पक रही दाल तीसरी सीटी के साथ घुटने को तैयार है। भांति-भांति का शोर मिलकर श्रीमती वर्मा के सिर में हथौड़े बजा रहा है। इससे उनका माइग्रेन का दर्द फिर से शुरू हो जाता है।

इन दिनों वर्मा जी की अति भक्ति भी श्रीमती वर्मा का सिर दर्द बढ़ा रही है। जिसके लिए कभी उन्हें मीठी रोटियां कुत्तों को खिलानी होती हैं, तो कभी भिगोयी हुई दाल खिलाने के लिए गाय ढूंढनी पड़ती है। पिछले कुछ सालों में वर्मा जी की भक्ति लगातार बढ़ती जा रही है। किस दीवार पर शीशा होना चाहिए, घर से निकलते हुए कौन सा पांव पहले बाहर निकालना है, लौंग, इलायची या सफेद कपूर की डली, आज घर से निकलते वक्त पर्स में क्या डालना है! और, सोते वक्त किस दिशा में मुंह करना है, किस दिन पास आना है, किस दिन दूर रहना है, आजकल सब वर्मा जी तय करते हैं। उनकी इस अतिभक्ति के प्रेरणास्रोत हैं टीवी पर आने वाले वे धर्मोपदेशक बाबा जी और यूट्यूब की फीड। श्रीमती वर्मा को याद नहीं कि देव उठनी ग्यारस, तीज-संक्रात और होली-दिवाली के अलावा किसी और त्योहार के लिए उन्होंने माँ या सास से कोई विशेष विधान सीखा हो। पर अब हर साल एक नया नियम उनके लिए तय किया जाने लगा है।

इन दिनों वर्मा जी की अति भक्ति भी श्रीमती वर्मा का सिर दर्द बढ़ा रही है। जिसके लिए कभी उन्हें मीठी रोटियां कुत्तों को खिलानी होती हैं, तो कभी भिगोयी हुई दाल खिलाने के लिए गाय ढूंढनी पड़ती है। पिछले कुछ सालों में वर्मा जी की भक्ति लगातार बढ़ती जा रही है। किस दीवार पर शीशा होना चाहिए, घर से निकलते हुए कौन सा पांव पहले बाहर निकालना है, लौंग, इलायची या सफेद कपूर की डली, आज घर से निकलते वक्त पर्स में क्या डालना है! और, सोते वक्त किस दिशा में मुंह करना है, किस दिन पास आना है, किस दिन दूर रहना है, आजकल सब वर्मा जी तय करते हैं। उनकी इस अतिभक्ति के प्रेरणास्रोत हैं टीवी पर आने वाले वे धर्मोपदेशक बाबा जी और यूट्यूब की फीड। श्रीमती वर्मा को याद नहीं कि देव उठनी ग्यारस, तीज-संक्रात और होली-दिवाली के अलावा किसी और त्योहार के लिए उन्होंने माँ या सास से कोई विशेष विधान सीखा हो। पर अब हर साल एक नया नियम उनके लिए तय किया जाने लगा है।

सिर दर्द फिर तेज हो गया, गैस का नॉब बंद करते हुए वे वर्मा जी पर लगभग चीख पड़ीं, "आप एक बार में एक काम क्यों नहीं करते?या तो पूजा कर लो या बाबा जी को सुन लो! इस तरह तो कुछ भी पल्ले नहीं पड़ेगा किसी के भी।"

पूजा में मगन वर्मा जी बोले कुछ नहीं, बस हाथ से इशारा किया, कि चुप रहो।

मिसेज वर्मा चुप हो गईं, उन्हें ग्लानि हुई कि रात वर्मा जी की नींद भी उचट गई थी उनके कारण। वे तो फिर भी दोपहर में घर लौट आएंगी, पर वर्मा जी तो देर शाम ही लौटेंगे। पूरे दिन कुर्सी पर बैठे पीठ अकड़ जाती होगी। मुझे यूं सुबह-सुबह उन पर चीखना नहीं चाहिए। पर क्या करें, सिर दर्द ने परेशान कर दिया है।

घरेलू सहायिका साफ-सफाई के लिए आ गई थी। मिसेज वर्मा अदरक वाली चाय के दो कप लेकर डायनिंग टेबल पर बैठ गई हैं। एक अपना, दूसरा वर्मा जी का, साथ में बिस्कुट रख लिए हैं, "इन्हीं को खाकर सिर दर्द की गोली ले लूंगी।" सुबह-सुबह रोटी खाने का मन नहीं करता और ब्रेड, सैंडविच खाना पूरे परिवार ने ही बंद कर दिया है।

साढ़े छह होने को हैं। अब उन्हें निकल जाना चाहिए। उनके बाद बच्चे निकलेंगे और फिर सबसे अंत में वर्मा जी। घर वापसी का भी यही क्रम है। पहले श्रीमती वर्मा वापस आएंगी, फिर बच्चे और सबसे अंत में वर्मा जी। वर्मा जी बिजली विभाग में बड़े अधिकारी हैं।

श्रीमती वर्मा ने नाश्ते के नाम पर बस दो बिस्कुट खाईं, सिर दर्द की गोली भी चाय के साथ निगल ली। अब उन्हें यकीन है कि अगले आधे घंटे में उन्हें कुछ आराम आ जाएगा। अपनी चाय का थर्मस, पर्स और गाड़ी की चाभी उठाई और स्कूल के लिए निकल पड़ीं।

कॉलोनी से बाहर निकलते हुए उनकी नजर फिर से उन्हीं नारियल पानी बेचने वालों पर पड़ी। कुछ दुकानें खुल गईं थीं, कुछ खुलने वाली थीं। दुकान पर खड़ा व्यक्ति गंडासे से नारियल छील रहा था। आसपास कोई नहीं था, शायद अपने ही लिए। मिसेज वर्मा को यकायक याद आ गया, वे इसी गंडासे को लेकर परेशान थीं। इसी ने रात भर उन्हें सोने नहीं दिया। "कहां से कहां ले गया गंडासा उन्हें, कितनी कहानियों, कितने पात्रों, कितने बरसों को पछाड़ कर कितनी दूर!"

"धार कितनी तेज है इसकी, किसी व्यक्ति की गर्दन भी यह ऐसे ही काट सकता है, जैसे नारियल का ऊपरी सिरा इसने छील डाला है। कौन हैं ये लोग?कहां से आते जा रहे हैं?हर पचास मीटर पर एक नारियल पानी का ठीया। कितना नारियल पानी पीना है लोगों को! फुटपाथ पर इतनी दूकानें लगाने का लाइसेंस इन्हें दे कौन देता है?"

अनजाने डर और कल्पनाओं से वे परेशान हो उठीं। शुक्र है कि सिग्नल की सब बत्तियां हरी मिलीं, उन्हें कहीं भी ज्यादा देर रुकने और सोचने का समय नहीं मिला। और वे समय पर स्कूल पहुंच गईं।

उनके स्कूल में अकसर लोग पांच-दस मिनट लेट आते हैं। पर किसी के सामने शर्मिंदा होना उन्हें पसंद नहीं। इसलिए सुबह सात बजने से दस मिनट पहले ही वे स्कूल पहुंच जाती हैं। उनके इसी अनुशासन के चलते प्रिंसीपल ने उन्हें स्कूल का अनुशासन अधिकारी बना रखा है। मिड डे मील, वजीफा, वर्दी-किताबों से लेकर सबकी छुट्टियों, आधी छुट्टियों और बिना बताई छुट्टियों यानी फरलो का हिसाब भी उन्हें ही रखना होता है। हालांकि सब काम के लिए अलग-अलग इंचार्ज हैं, पर इन इंचार्जों की भी इंचार्ज हैं श्रीमती वर्मा। यानी वर्मा मैडम।

इस सब में धीरे-धीरे वे इतनी अकेली पड़ती जा रही हैं कि उनके साथ खाना खाने वाला भी कोई नहीं होता। कई दिनों तक अकेले खाना खाने के बाद उन्होंने अब स्कूल में खाना लाना ही बंद कर दिया है। हां चाय ले आती हैं थर्मस में भरकर। इतनी कि उनके अलावा भी अगर किसी को पीनी हो तो पी सके।

पर हर रोज आधी चाय उन्हें घर लौटकर सिंक में उड़ेलनी पड़ती है। वास्तव में चाय पर जो चर्चाएं होती हैं, वे खांटी घरेलू किस्म की होती हैं, सास, ननद, जेठानियां या नए फैशन के कपड़ों की। कभी-कभी फूहड़ भी। पर उनकी ओर से जब इन बातों में कोई सहयोग नहीं किया जाता, तो चाय पीने वाले का सारा स्वाद जाता रहता है। खैर, इन सब चीजों से अब उन्हें कोई फर्क नहीं पड़ता। ये सब छोटे लोग हैं। लापरवाह, अनुशासनहीन। उनकी चेतना में अब देश के बड़े दुश्मन हैं, जिनसे उन्हें खुद को, अपने परिवार को और अपने समाज की बहू-बेटियों को बचाना है। इन चिंताओं का तनाव उनके चेहरे पर भी नजर आने लगा है। वे हर समय एक अनजाने डर से घिरी रहती हैं। वरना कभी उनका चेहरा बहुत हंसमुख हुआ करता था।

पर स्कूल में इतना शोर, इतना काम होता है कि उन्हें कभी परेशान होने या सोचने की फुर्सत ही नहीं मिलती। उस पर उन्हें तो हॉल वाली क्लास मिली है, जिसमें दो कक्षाएं एक साथ लगती हैं, एक-दूसरे की तरफ पीठ किए। हर बच्चा एक अलग किस्म की चुनौती है। कुछ बच्चे एकदम बच्चे हैं, जिन्हें सामान्य साफ-सफाई की भी जागरुकता नहीं, तो कुछ उम्र से पहले ही इतने बड़े हो गए हैं कि उन पर उन्हें विशेष नजर रखनी पड़ती है। इन दिनों तस्कीन ने भी उनका सिर दर्द बढ़ा रखा है।

दोपहर में सोना चाहती थीं, पर बार-बार बजती घंटी ने यह भी होने नहीं दिया। बेटे ने बताया कि पड़ोस के कुछ लोग आए हैं। असल में रेजिडेंस वेलफेयर एसोसिएशन के लोग घर-घर जाकर सभी को समझा रहे थे कि किराएदार रखने से पहले जरूरी तहकीकात कर लें। रेंट एग्रीमेंट बनवाएं, थाने से वेरिफिकेशन करवाएं। दो पैसे के लालच में मुसीबत मोल न लें, "एक तो अपराध बहुत बढ़ते जा रहे हैं, दूसरा आतंकवादी, उग्रवादी और अब तो रोहिंग्या भी, सभी किराए के मकानों में ही अपना-अपना काम करते हैं।"

"अजी बहन जी, सीधी सी बात है, मुसलमानों को घर किराए पर देना ही नहीं। अपनी मां-बहनों के भी सगे नहीं हैं ये, बताओ। हमारा खाना-पीना अलग, इनका रहना-सहना अलग।"

आंखें मलते, आधी नींद से जागी मिसेज वर्मा सुन रही थीं चुपचाप। उनके घर में भी बेटी है, बेटा है, उन्हें चिंता हुई। वर्मा जी को यूं भी पसंद नहीं किराएदार रखने। घर चाहें जितना बड़ा हो, इस्तेमाल हो ही जाता है। उनके तो गांव से भी नाते-रिश्तेदार आते ही रहते हैं। घर में इतनी जगह तो होनी ही चाहिए कि कोई मेहमान आ जाए तो रात सोने की चिंता न रहे।

नींद टूट ही गई थी, तो सोचा फल-सब्जी ही ले आएं। सुरक्षा के कारण कॉलोनी में रेहड़ी वालों का आना बंद कर दिया गया है। दोनों बच्चे अपने कमरे में पढ़ रहे थे। इस समय उन्हें ट्यूशन जाना होता है। बच्चों को कोचिंग सेंटर छोड़कर मंडी पहुंची तो उन्हें वही सब बातें फिर से याद हो आई, जो वे कई दिनों से लगातार सुन रहीं थीं। वाट्सएप पर कुछ वीडियो घूम रहे थे। जिनमें जाली टोपी लगाए लंबी दाढ़ी वाला फल विक्रेता हर फल पर थूक रहा था। यही थूका हुआ फल वह ग्राहकों को बेचता था। बस तभी से तय किया गया था कि किसी भी दाढ़ी वाले, जाली टोपी वाले से फल-सब्जी नहीं खरीदने।

मंडी के भीतरी हिस्सों में गाड़ी ले जाना मुश्किल भरा होता है। इसलिए उन्होंने बाहर खड़े एक रेहड़ी वाले से सेब का भाव पूछा। सेब अच्छे लाल-चमकीले और बेदाग थे। उन्होंने छू कर देखा, शानदार थे। दो किलो तुलवा लिए। उसकी तराजू पर लगे बार कोड को स्कैन कर पेमेंट करना शुरू किया तो नाम आया 'इदरीस खान'।

मिसेज वर्मा चौकन्नी हो गईं। नहीं चाहिए, तुले हुए सेब छोड़कर वे आगे बढ़ गईं। पीछे सेब वाला चिल्लाता रह गया। थोड़ा और आगे बढ़ीं, पर सेब कहीं नहीं दिखे। बस एक केले की रेहड़ी थी। इससे पहले कि वे केले का भाव पूछतीं, एक दूसरा रेहड़ी वाला केले वाले के पास आकर बोला, "सलीम भाई पांच सौ का छुट्टा है क्या?"

वे झुंझलाई वहां से भी लौट आईं। अब आगे जाने का उनका मन नहीं हुआ। वर्मा जी को फोन कर सब हाल बताया, और उनसे ही लौटते हुए फल-सब्जी लेते आने को कहा।

अजब परेशानी हो गई है। मन का कुछ खरीद भी नहीं सकते। दिन का चैन और रातों की नींद दोनों पर संकट है। शाम को वॉक करते हुए भी मिसेज बत्तरा इसी मुद्दे पर चर्चा करती रहीं- "क्या बताएं पूरा माहौल ही खराब हो गया है। एक वीडियो आया है मेरे मोबाइल पर, जिसमें एक जूस वाला पान की पीक मिलाकर पिला रहा था लोगों को जूस में। बहुत मारा

लोगों ने।''

''पुलिस के हवाले नहीं किया?''

''क्या करती है पुलिस, कभी किया है उसने?खुद ही एलर्ट रहो, यही अच्छा है।''

''मैं तो सच्ची परेशान हो गई। आदमी क्या खाए, क्या पिए!''

''आपको खाने-पीने की चिंता है?मैं कहती हूं बच्चे सही सलामत रहें।''

मिसेज वर्मा और डर गईं, मिसेज बत्तरा की इस बात से।

अब कुछ और सुनने की उनकी हिम्मत नहीं थी। जल्दी-जल्दी पार्क का चक्कर लगाया और घर लौट आईं। बच्चों के सामने वे अपने किसी भी डर के बारे में बात करने से परहेज करती थीं।

रात अपने कमरे में वर्मा जी को दिन भर की बातें बताईं, तो उन्होंने कुछ और चीजें जोड़ दीं-

''मांस खाते हैं और बहुत कट्टर होते हैं।''

''मार-काट तो इनके खून में है।''

''नारियल पानी बेचने के बहाने हथियार पैने कर रहे हैं।''

''फलों-सब्जियों पर थूकने वाले वीडियो तो मैंने भी देखे हैं, और वो जूस में पान की पीक मिलाने वाला भी। पर लोग बता रहे थे, किसी के यहां एक मुसलमान नौकरानी थी। उन्होंने सीसीटीवी कैमरे में देखा कि वह आटे में पेशाब किया करती थी। जब बच्चे ज्यादा बीमार होने लगे तो उन्हें चेक करना पड़ा।

उफ्फ खाने के साथ कोई ऐसा कैसे कर सकता है?

ये तो हम लोग सोचते हैं न, उन्हें क्या! हम तो काफिर हैं उनके लिए। उनके धर्म में लिखा है हमारा अपमान करना, हमें मार डालना।

''आपने पढ़ी है कुरान शरीफ?'' मिसेज वर्मा ने अनेपक्षित प्रश्न कर दिया।

''नहीं!'' कहते हुए वर्मा जी के चेहरे पर अजीब से भाव आए।

अब वे कुछ और न सुनना चाहती हैं, न देखना। वे बहुत थक गईं हैं, उन्हें नींद चाहिए। गहरी नींद।

अपना मोबाइल उन्होंने बंद कर दिया। पर वर्मा जी देर तक ब्लूटूथ लगाए मोबाइल देखते रहे। ऐसे समय में उन्हें अहसास होता था कि अच्छी नींद के लिए पति और पत्नी का भी अलग-अलग सोने का कमरा होना चाहिए। पर कभी-कभी वे अकेले सोने से डर जातीं। इन दिनों अकसर डरावने सपनों से उनकी नींद टूटने लगी थी।

आज की सुबह भी वैसे ही व्यस्त, वैसी ही अधूरी नींद के साथ हुई थी, जैसी पिछले कई दिनों से हो रही है। शायद महीनों से। उनके चेहरे की झुर्रियां बताती हैं कि इस तनाव को अब काफी समय बीतने लगा है।

सोने से ठीक पहले उन्होंने जो वीडियो देखे थे उनसे उनकी चिंताएं और बढ़ गई थीं। पर सुबह के अखबार में ऐसा कुछ नहीं था। दरवाजे पर खड़े-खड़े ही उन्होंने अखबार के कई पन्ने पलट डाले। कोई भी खबर वैसी नहीं थी, जैसी वे पढ़ना चाहती थीं। झुंझला कर उन्होंने अखबार एक तरफ पटक दिया। ''सारा मीडिया बिका हुआ है।''

वे नहाईं, तैयार हुईं और अलमारी के सारे कपड़े निकाल कर पलंग पर पटक दिए। यह जानते हुए भी कि इन्हें संगवाने का वक्त अभी उनके पास नहीं है। पर यह बहुत दिनों का छूटा काम था, जो आज उन्हें करना ही था। कच्चे नींबू के रंग का, बादामी रंग वाला, गुलाबी और एक ये घीया के रंग वाला सलवार-कमीज भी, वे स्कूल में काम करने वाली राजदुलारी को दे देंगी। ऐसे ही महीन काम की कुछ महंगी साड़ियां भी रखी हैं सूटकेस में। जिन्हें वे स्कूल के विशेष आयोजनों में ही पहना करती थीं। राजदुलारी उनके स्कूल में मिड डे मील परोसने वाली। साड़ियां वह नहीं संभाल पाएगी। इसलिए साड़ियां उन्होंने गांव भिजवाने का फैसला किया है। वहां कुछ गरीब रिश्तेदार हैं, जिन्हें साड़ी पहनना और उन्हें संभालना आता है।

''हुनर की सूईं से वे हमारी जिंदगी में बहुत भीतर तक घुस आए हैं। लखनवी कढ़ाई के ये सूट अब नहीं पहनने।''

सलवार-कमीज के जोड़ों का थैला उठाकर उन्होंने दरवाजे के पास रखे स्टूल पर रख दिया, साथ में पर्स भी ताकि जाते हूए भूले नहीं। कनखी से घड़ी की तरफ देखा, सैकंड वाली लाल सूईं उन्हीं की तरह बिना थके दौड़ रही थी। बड़ी सूईं चार का अंक छूने ही वाली है। सुबह के छह बजकर बीस मिनट होने को हैं।

वर्मा जी अभी तौलिया में ही थे, बच्चे स्कूल के लिए तैयार हो रहे थे।

उन्हें याद आया कि पुष्पा को अब तक आ जाना चाहिए था। ''पुष्पा अभी तक नहीं आई! जितना ही उस पर तरस खाओ, उतना ही ये खून पीती है। हद ही करती है, कब आएगी, कब काम करेगी। आज नहीं आई तो मैं उसे हटा ही दूंगी, इसका रोज का यही किस्सा हो गया है।'' झुंझलाते हुए उन्होंने पुष्पा को फोन मिला दिया।

जितने आवेश में श्रीमती वर्मा ने पुष्पा को फोन मिलाया था, उससे दोगुने रुआंसे स्वर में पुष्पा ने जवाब दिया, ''सिर दुखा रहा है दीदी, आज नहीं आएगी।''

सिर तो उनका भी दुख रहा है पर बहस करके और समय बर्बाद करने से बेहतर था कि जल्दी-जल्दी जितना काम सिमटता है, उतना समेटा जाए। बाकी दोपहर में लौट कर देखेंगे। वे स्कूल के लिए लेट नहीं होना चाहतीं।

भला है कि वे समय से स्कूल पहुंच गईं। उन्होंने लॉकर खोला, रजिस्टर निकाला और उपस्थिति के हस्ताक्षर किए। आज भी रजिस्टर के पन्ने पर सबसे पहला नाम उन्हीं का था। उनके बाद बाकी लोग भी आते गए और हस्ताक्षर करते हुए अपनी-अपनी क्लासों में चलते गए। स्कूल में इतनी ज्यादा भीड़ हो गई है कि सामुहिक प्रार्थना की बजाए अब सभी अध्यापिकाएं क्लास में ही प्रार्थना करवाती हैं।

हमेशा की तरह उनकी क्लास में खूब शोर था। हॉल वाली क्लास के दो दरवाजे थे पहले दरवाजे की तरफ मुंह करके तोमर मैडम की क्लास लगी थी ओर दूसरे दरवाजे की तरफ मुंह करके मिसेज वर्मा की क्लास। क्लास में अलग-अलग तरह के बच्चे हैं। कोई किसी की कापी फाड़ देता है, तो कोई कभी

हमेशा की तरह उनकी क्लास में खूब शोर था। हॉल वाली क्लास के दो दरवाजे थे पहले दरवाजे की तरफ मुंह करके तोमर मैडम की क्लास लगी थी और दूसरे दरवाजे की तरफ मुंह करके मिसेज वर्मा की क्लास। क्लास में अलग-अलग तरह के बच्चे हैं। कोई किसी की कापी फाड़ देता है, तो कोई कभी किसी की पेंसिल चुरा लेता है। श्रीमती वर्मा का अनुशासन हमेशा कड़क ही रहता है। वे अनुशासन से किसी तरह का कोई समझौता नहीं करना चाहतीं। गाली-गलौज और लड़ाई-झगड़ा करने वाले बच्चों को सुधारना भी उन्हें आता है। तस्कीन की बदतमीजियां और बढ़ती जा रहीं हैं। उन्होंने जब प्रिंसीपल को इसके बारे में बताया, तो उन्हें सलाह मिली, ''छोड़ो न मैडम। इसने कौन सा बैरिस्टर बन जाना है। रंग-ढंग हैं इसके पढ़ाई वाले? पढ़ना-लिखना इसने है नहीं, बेकार में मेरी या आपकी शिकायत कर दी तो मुसीबत और हो जाएगी। आप ही करवाओ, मुझे तो अपना तन सर से जुदा नहीं करवाना।''

किसी की पेंसिल चुरा लेता है। श्रीमती वर्मा का अनुशासन हमेशा कड़क ही रहता है। वे अनुशासन से किसी तरह का कोई समझौता नहीं करना चाहती। गाली-गलौज और लड़ाई-झगड़ा करने वाले बच्चों को सुधारना भी उन्हें आता है। तस्कीन की बदतमीजियां और बढ़ती जा रही हैं। उन्होंने जब प्रिंसीपल को इसके बारे में बताया, तो उन्हें सलाह मिली, "छोड़ो न मैडम। इसने कौन सा बैरिस्टर बन जाना है। रंग-ढंग हैं इसके पढ़ाई वाले? पढ़ना-लिखना इसने है नहीं, बेकार में मेरी या आपकी शिकायत कर दी तो मुसीबत और हो जाएगी। आप ही करवाओ, मुझे तो अपना तन सर से जुदा नहीं करवाना।"

तन सर से जुदा मतलब? मिसेज वर्मा पहले पहल इसका अर्थ नहीं समझ पाईं। फिर उन्हें याद आया कि प्रिंसीपल मैडम उसके धर्म की तरफ इशारा कर रही थीं और समझा रही थीं कि मुझे भी सावधान रहना चाहिए।

क्लास की ये खूब लड़ाका लड़की अब हर समय उनकी आंखों में रहती। हालांकि पढ़ाई में औसत थी, पर व्यवहार में बहुत कटु। क्लास में वह सिर्फ उन्हीं बच्चों से ठीक से बात करती थी, जो उसकी बस्ती से आते थे। बाकियों से हमेशा लड़ने को तैयार रहती थी। यह बात श्रीमती वर्मा को बहुत अखरती थी। अब कुछ दिनों से तस्कीन हिजाब लपेट कर आने लगी है।

श्रीमती वर्मा ने पूछा, तो जवाब मिला, "अम्मी ने कहा है। अब वह बड़ी हो गई है।" जबकि श्रीमती वर्मा को यकीन है कि वह न नहाने और बालों को ठीक से कंघी न करने के कारण उन्हें हिजाब से ढकने का स्वांग कर रही है।

पिछली बार गृहकार्य में जब सभी को दशहरे का चित्र बनाने के लिए दिया गया, तब भी तस्कीन खाली कापी ले आई थी। जबकि वह क्लास में हमेशा उत्साहित होकर हर सवालों के जवाब देने वाली लड़की है। जब पूछा तो फिर उसी तरह का जवाब, "अब्बा ने बनाने से मना कर दिया, यह हमारे धर्म की चीज नहीं है।"

इस जवाब से बहुत ठेस लगी थी श्रीमती वर्मा को। पर उन्होंने तस्कीन को दोबारा टोकने की बजाए तय किया कि विषबेल की जड़ पर ही प्रहार किया जाए। छुट्टी के समय सीधे तस्कीन की मां को तलब कर लिया, जो सिर से पांव तक बुरके में ढकी तस्कीन को स्कूल से लेने आती थी। अपनी अक्खड़ आवाज में उन्होंने कहा था, "क्यों भई क्या सिखाते हो आप बच्चे को घर में?एक क्लास में सब बच्चे एक सी पढ़ाई करते हैं। जो होमवर्क मिलेगा वो तो करना ही पड़ेगा।"

जबकि वे खुद भी तस्कीन को अब एक अलग नजर से देखने लगी थीं।

तस्कीन चुप्पी साधे मां की उंगली पकड़े खड़ी रही थी। उसके चेहरे पर चोरी पकड़े जाने की सी ग्लानि थी। पर मां ने तपाक से जवाब दिया, "क्यों नहीं बनाएगी। मुझे तो पता नहीं मैडम जी। इसके अब्बा तो कभी ऐसा नहीं कहते। अपने से कह दिया होगा इसने। कैसे नहीं बनाएगी, मैं बनवाऊंगी आज ही। थोड़ा बहुत पढ़ लेगी तो आपके जैसी मैडम बन जाएगी, वरना चूल्हा-चौका करती रहेगी हमारी तरह।"

तस्कीन की मां के ये शब्द भी श्रीमती वर्मा को महज स्वांग लगे कि तस्कीन तो बच्ची है, वह साफ शब्दों में कह गई। उसे अपनी बात छुपानी नहीं आई। पर मां एक नंबर की मक्कार है। लच्छेदार बातें करती हैं और अंदर से बेटी के दिमाग में जहर भरती है। कैसे बन जाएगी ये मेरी तरह?अभी से हिजाब पहनना सीख गई है, कल को तुम्हारी तरह बुरका ही पहनेगी। वे मन ही मन सोच रही थीं।

श्रीमती वर्मा बुरका उठाकर उसके ढके चेहरे को देखना चाहती थीं। पढ़ना चाहती थीं कि ऐसा कहते हुए उसके चेहरे पर कैसा बनावटीपन था। पर वे ऐसा नहीं कर सकीं और मन मसोस कर रह गईं। अगले दिन तस्कीन की कापी में दशहरे का चित्र बना हुआ था। उन्हें जीत जाने का सा भान हुआ।

"साफ कहने वालों से ज्यादा खतरनाक होते हैं ये मुंह देखकर बात करने वाले। मत भिड़ा करो हर किसी से। पता भी नहीं चलेगा कब किसका सर तन से जुदा कर दें। ये लोग हर जगह समूह में रहते हैं। हम ठहरे गांव-घर से दूर, उस पर दोनों की सरकारी नौकरी। फूंक-फूंक कर कदम रखना पड़ता है। देखे हैं न बाहर वो नारियल पानी वाले। सब इन्हीं के लोग हैं। घेराबंदी कर रहे हैं धीरे-धीरे। जब मौका पड़ेगा, मिनट नहीं लगेगा और नारियल की तरह छील डालेंगे हमें।" वर्मा जी ने उसी रोज समझाया था।

बात कुछ-कुछ समझ में आ गई थी, पर डरना श्रीमती वर्मा के स्वभाव में नहीं था। वे और ज्यादा चौकन्नी हो गईं। हम क्या कर सकते हैं अकेले?इस सवाल पर गहन चिंतन-मनन करने के बाद उन्होंने तय किया था कि हम उनकी अर्थव्यवस्था को तोड़ सकते हैं। जैसे वे घुस आए हैं हमारी सामाजिक व्यवस्था में। असहयोग एक बहुत बड़ा हथियार है!

जाली टोपी वाले, लंबी दाढ़ी वालों से सामान खरीदना तो उन्होंने पहले ही छोड़ दिया था। अब डिजिटल पेमेंट ने बिना दाढ़ी, बिना टोपी के भी उन्हें पहचानना आसान कर दिया था। पेमेंट करने से पहले नाम आ जाता। जिससे वह तय कर सकती थीं कि इससे सामान खरीदना है या नहीं। लखनवी कढ़ाई के वे सब कपड़े भी उन्होंने इसी उद्देश्य से अपनी अलमारी से बाहर कर दिए थे। पुराने दर्जी से भी कपड़े अब नहीं सिलवाने। कभी-कभार जो चूड़ियां पहनती थीं, वह भी अब छोड़ दी थीं कि इसमें भी सब वही लोग हैं। फल वाले, सब्जी वाले, रिक्शा वाले, नौकर-नौकरानियां।

पड़ोस में, स्कूल में हर तरफ एक ही तरह का विमर्श चल रहा था।

"सालों से तुष्टिकरण होता आया है, लोग बोलते ही नहीं थे। कश्मीर से हिंदुओं को निकाल दिया, कोई बोला ही नहीं। हम गिन गिन कर बच्चे पैदा करते हैं और उन्हें भी डर डर कर पालते हैं। इन्हें देखो, बचपन से ही ये बच्चों को कट्टर बनाते हैं।" सैर करते हुए फिर से याद दिलाया था बत्तरा आंटी ने।

लगभग वैसी ही बातें, एकदम वैसे ही शब्द तोमर मैडम के भी थे, "हम मगन हैं अपनी दाल रोटी में, ये हर मुहल्ले को सीरिया बना देंगे। अब जाकर तो लोगों मे बोलने की हिम्मत आई है। फिल्में बनने लगी हैं। वरना आज से दस साल पहले कहां संभव था ऐसी फिल्म बनाना और उसे पर्दे पर दिखाना! हर बहन-बेटी वाले को देखनी चाहिए यह फिल्म।"

जिस फिल्म का ऐसा उत्साहवर्धक प्रचार था, उस फिल्म को देखने के बाद कई दिनों तक श्रीमती वर्मा का ब्लड प्रेशर हाई रहा था। सभी ने कहा था कि फिल्म जरूर देखनी चाहिए, जैसे कोई अभियान सा चला था कि देखिए, कुछ पुरानी सहेलियों ने भी तय किया कि समूह में देखी जाए फिल्म। फिर वर्मा जी ने सलाह दी कि बच्चों को भी दिखानी चाहिए। उन्हें भी जागरुक होना चाहिए कि किस किस तरह से देश के दुश्मन लड़कियों को बरगलाते हैं।

वर्मा जी ऑफिस के काम में व्यस्त थे। बेटा भी जाने को तैयार नहीं हुआ, तो बेटी के साथ उन्होंने यह फिल्म देखी। थोड़ा अंदेशा तो था कि फिल्म एक जटिल मुद्दे पर है और मनोरंजक नहीं होगी। पर उसे देखकर उनका तनाव इतना बढ़ जाएगा, इसकी उन्होंने कल्पना भी नहीं की थी। कुछ दृश्यों ने उन्हें दोहरे स्तर पर तोड़ डाला। पहला यूं कि, एक खास समुदाय की होने के कारण कोई लड़कियों के साथ इतनी ज्यादती कर सकता है कि जिसे देखते हुए भी रोंगटे खड़े हो जाएं।

दूसरा यह कि वह अपनी सत्रह साल की बेटी के साथ पर्दे पर वे दृश्य देख रही थीं, जो उन्हें उसे नहीं दिखाने चाहिए। वे लगातार तड़पती रहीं और तय नहीं कर पाईं कि बेटी को किस चीज के लिए कितना जागरुक करें। फिल्म तीन घंटे की थी पर उसके तनाव से बाहर आने में उन्हें कई दिन लग गए।

सचमुच उन्हें उसके लिए दवाएं लेनी पड़ी थीं। उसके बाद, वे पहले से भी ज्यादा चौकन्नी हो गईं। अब वे बेटी को ट्यूशन के लिए छोड़ने खुद जाती हैं और तब तक कोचिंग सेंटर के बाहर गाड़ी में बैठी रहती हैं, जब तक क्लास खत्म नहीं हो जाती। इस कोचिंग सेंटर का मालिक भी मुसलमान है। वे न तो बेटी को ताले में बंद रख सकती हैं और न ही ट्यूशन छुड़वा सकती हैं। पर सावधानी तो उन्हें बरतनी ही होगी।

यही सावधानी वे तस्कीन के साथ भी बरतती थीं। वह धीरे-धीरे एक दूसरे ही रंग में ढल रही थी। शहर की हवा में एक अजीब सी घुटन भरती जा रही थी। जो न ठीक से सोने देती है, न चैन से रहने देती है। इतिहास, समझ, संवाद, बातचीत सब भयानक लगने लगा है।

तस्कीन ने आज फिर एक बच्चे से झगड़ा किया है और उसकी कापी पर थूक दिया है। श्रीमती वर्मा को उसकी इस हरकत पर बहुत गुस्सा आया और उन्होंने

उसे क्लास से बाहर खड़ा कर दिया।

"आप ही संभाल सकते हो वर्मा जी, प्रिंसीपल मैडम को और इसे। लड़की है कि तूफान", तोमर मैडम कटाक्ष करती हैं।

"मैं तो आपसे पहले ही कहता था वर्मा जी, लातों के भूत बातों से नहीं मानते। आप इनके कितने भी सगे हो जाए, रहेंगे ये वैसे के वैसे। आप जितनी सॉफ्ट हो, ये उतने ही कट्टर होते हैं। सिविलियन क्या जानें इनके बारे में, हम जानते हैं।"

त्यागी जी फौज से रिटायर होकर दोबारा नौकरी में आए थे स्कूल में। वे स्कूल के पीटी टीचर हैं। जब भी श्रीमती वर्मा को बच्चों के लिए अतिरिक्त प्रयास करते देखते, तो कोई न कोई जुमला उछाल ही देते। उन्हें अपने फौजी होने पर जितना गर्व था, सिविलियन्स के सिविलियन होने पर उतना ही दया भाव। उनकी नजर में वे सब दोयम दर्जे के नागरिक थे। श्रीमती वर्मा से ज्यादा खुल कर कुछ बोल नहीं पाते थे, क्योंकि अनुशासन में वे उनसे भी एक कदम आगे ही थीं। पर आज तस्कीन को सज़ा मिलने पर क्लास से बाहर खड़ा देखा, तो उनके दिल को कुछ शांति सी मिली। उनका मन हुआ कि वे चलते हुए उसके गाल पर दो तमाचे लगा दें। पर ये स्कूल है और वे सरकारी नौकरी में हैं। बड़े जतन से उन्हें अपनी भावनाओं को काबू करना पड़ा।

अपना मोबाइल देखते हुए वे स्कूल का राउंड लगाने लगे। कभी-कभी लगता है कि मोबाइल न होता वे दिन भर क्या करते! इसी के सहारे उनका टाइम पास होता है। वरना स्कूल में कोई खास खेल गतिविधि होती नहीं है। न ही बच्चे इतने बड़े हैं, कि उन्हें संभालने के लिए त्यागी जी की थर्ड डिग्री इस्तेमाल करनी पड़े। वे अकसर साथी अध्यापकों को बताते थे, "कोई भी लड़का बदमाशी करे, तो उसे हाथ से कभी नहीं मारना। सीधे कोहनी देना उसकी पीठ में। सीधा हो जाएगा।"

ऐसा बहुत सारा ज्ञान वे अकसर लोगों को बांटा करते थे। मौखिक भी और वाट्सएप पर भी। जनहित में अपने मोबाइल से मैसेज फॉरवर्ड किया करते थे। जिसके कारण स्टाफ के लोग उन्हें पीठ पीछे न्यूज चैनल कह कर बुलाते थे। इतनी ही दिलचस्पी से वे स्टाफ की खबरें इधर-उधर किया करते थे।

मिसेज वर्मा उम्र के नाते त्यागी जी का सम्मान करती थीं। वरना उनकी कोई बात उन्हें तमीज की नहीं लगती थी।

आज फिर वाट्सएप का कोई मैसेज वे स्टाफ के लोगों को दिखा रहे थे। श्रीमती वर्मा को लगा कि ये हमेशा की तरह का कोई फालतू मैसेज होगा। पर उस मैसेज के साथ ही स्कूल में हड़कंप मच गया। एक बहुत छोटी सी वीडियो क्लिप थी जिसमें लोग एक-दूसरे पर पथराव कर रहे थे और आगजनी हो रही थी। प्रिंसीपल ने श्रीमती वर्मा को संदेशा भेजकर बुलावा लिया। पता चला कि कांवड़ियों पर पथराव हुआ है। शहर में सांप्रदायिक दंगे भड़क गए हैं।

बारूद तो बहुत पहले से तैयार हो रहा था, आज

त्यागी जी फौज से रिटायर होकर दोबारा नौकरी में आए थे स्कूल में। वे स्कूल के पीटी टीचर हैं। जब भी श्रीमती वर्मा को बच्चों के लिए अतिरिक्त प्रयास करते देखते, तो कोई न कोई जुमला उछाल ही देते। उन्हें अपने फौजी होने पर जितना गर्व था, सिविलियन्स के सिविलियन होने पर उतना ही दया भाव। उनकी नजर में वे सब दोयम दर्जे के नागरिक थे। श्रीमती वर्मा से ज्यादा खुल कर कुछ बोल नहीं पाते थे, क्योंकि अनुशासन में वे उनसे भी एक कदम आगे ही थी।

आखिर चिंगारी भड़क ही उठी थी। मारकाट के वे दृश्य फिर से उनकी आंखों के सामने तैर गए, जो उन्होंने बंटवारे पर आधारित फिल्मों में देखे थे। उनके साथ ही याद आ गया वह गीला रक्त में सना गंडासा, जिससे मिलता-जुलता गंडासा वे नारियल पानी वाले के हाथ में देखा करती थीं। उन्हें अपने बच्चों की फिक्र होने लगी। झटपट वर्मा जी को फोन कर घर पहुंचने को कहा। बच्चों के वैन ड्राईवर को फोन किया, पता चला वह रास्ते में ही है और बच्चों को लेकर घर जा रहा है।

इधर प्रिंसीपल ने तत्काल बैठक बुलाई और स्कूल में छुट्टी की घोषणा कर दी। पर इसके पहले जरूरी था कि सभी बच्चों के घर फोन किया जाए, स्कूल रिकॉर्ड से सभी बच्चों का फोन नंबर निकाला गया और उनके घर वालों को फोन कर उन्हें ले जाने को कहा। प्रिंसीपल ने शुक्र मनाया कि हर महीने मिलने वाले बजीफे के कारण सब बच्चों का रिकॉर्ड मौजूद है स्कूल में। वरना पहले तो कुछ पता ही नहीं होता था सरकारी स्कूलों में। किसी के पिता फैक्ट्री में थे, किसी के रेहड़ी लगा रहे थे, कोई पास था, कोई दूर था, किसी की मां ने फोन उठाया तो किसी के बड़े भाई-बहन ने।

जैसे-जैसे सूचना पहुंची स्कूल के गेट पर भीड़ लगती गई। एक-एक बच्चे को पहचान करवा कर उसके घरवालों के हवाले किया गया। एक घंटे के अंदर सारा स्कूल खाली हो गया। पर एक बच्चा अब भी बच गया, जिसके पिता का फोन नहीं लग रहा था, बार-बार कोशिश करने के बाद भी। वह थी तस्कीन, हमेशा क्लास में सबसे लड़ने-झगड़ने वाले तस्कीन आज अपना बस्ता उठाए डरी-सहमी खड़ी थी। वे सब बच्चे भी अपने-अपने मां-बाप के साथ जा चुके थे, जो उसी की बस्ती के थे और जिनसे बात करते हुए उसके चेहरे पर मुस्कान खिल आया करती थी।

अब तक बाकी व्यवस्था देखते श्रीमती वर्मा को ख्याल ही नहीं आया कि अब तक न तस्कीन के पिता का फोन मिला है और न ही उसकी मां आई है उसे लेने। मगर अब जैसे जैसे स्कूल खाली हो रहा है, उनकी चिंता बढ़ती जा रही है।

वे जिसे भी समाधान की लालसा में यह बात बता रहीं हैं, वह उन्हीं की तरफ देख रहा है, कि आप ही संभालो। जिम्मेदारी प्रिंसीपल की भी है, वह देर तक बैठी रही है उनके साथ, पर फोन अब भी नहीं लग रहा। उम्र दराज प्रिंसीपल की रिटायरमेंट में बस दो ही साल बचे हैं। स्कूल में बढ़ते सन्नाटे के साथ उनकी भी घबराहट बढ़ने लगी है। अब तक मोबाइल पर हिंसा और पथराव के वीडियो आ रहे थे। श्रीमती वर्मा ने देखा कि उनके मोबाइल का नेटवर्क अचानक गायब हो गया है। उन्होंने घबराकर प्रिंसीपल मैडम का फोन मांगा, पर उनके मोबाइल से भी नेटवर्क गायब है।

अब स्कूल में रहना सुरक्षित नहीं। स्कूल में बस पांच जन बचे हैं, दो औरतें, एक चौकीदार, एक त्यागी जी और एक तस्कीन।

"बस अब देर करना ठीक नहीं। रामसिंह जी आप ताले लगाओ, हम सब को अब निकलना चाहिए।" त्यागी जी ने झटपट सारी व्यवस्था अपने हाथ में ले ली। प्रिंसीपल उसी रफ्तार से अपनी गाड़ी स्टार्ट कर चलने को तैयार।

श्रीमती वर्मा भी घबरायी हुई थीं। वर्मा जी से बस एक ही बार बात हुई है, वे घर पहुंचे होंगे कि नहीं। अपना पर्स और चाय का थर्मस उठाए वे अपनी गाड़ी की तरफ ही जा रहीं थीं कि उन्होंने देखा, त्यागी जी तस्कीन को अपनी गाड़ी की पिछली सीट पर लगभग धकेल रहे हैं।

महीनों से बेचैन, कई रातों की जागी, शहर के दंगों से घबरायी, अपने बच्चों की चिंता में पसीना-पसीना हुई जा रही मिसेज वर्मा की तंद्रा अचानक भंग हुई, ये क्या कर रहे हैं आप त्यागी जी?

एक क्षण के दसवें हिस्से से भी कम समय में उन्होंने दौड़कर त्यागी जी की पिछली सीट का दरवाजा खोल लिया। और झट से तस्कीन को उसमें से बाहर खींच लिया। तस्कीन भी उस खिंचाव के साथ दौड़ी आई। उसकी आंखों में आंसू और चेहरे पर अब भी भय था। उसने मिसेज वर्मा के हाथ को और कसकर पकड़ लिया।

"अरे! ये तो मेरी बच्ची है"।

मिसेज वर्मा शायद कहना चाहती थी कि ये मेरी क्लास की बच्ची है। पर उनके मुंह से यही निकला, "ये मेरी बच्ची है।"●

शुभा
मो. नं.: 9896310916,
ईमेलः shubhamanmohan@gmail.com

१. विघटन

निर्दोष शरीरों और प्राणों के बीच धँसा है
हत्यारा
हँसता रहता है
डराता है
खेलता है
मर्ज़ी से करता है हत्या
न्याय का कुटिल मंच रचते हुए
पब्लिक के बीच एक प्रस्तुति की तरह।

२. स्वाभाविक जीवन

एक व्यक्ति विफलता से बना है
और इसमें कोई ख़ास बात नहीं है
ख़ास बात इसमें है कि वह
सफलता से कैसे बचा
सफलता जब प्यार और सुरक्षा का रूप
धर कर आई
तो उसने कैसे छाँटा वितण्डा
ममता और आकर्षण के झाँसों से
निकलकर
उसने अकेले रहना और
समूह में काम करना कैसे सीखा
प्रशंसा के सामने अपना एकान्त कैसे
बचाया
यश और प्रसिद्धि के रास्ते से बचते हुए
कैसे गया दुखियारों की राह पर
गुमनामी में सुकून से रहते हुए
उसके जीवन से गुज़रते हैं दुख-सुख
धूप और छाया की तरह
वह पृथ्वी पर रहता है मिट्टी की तरह
न इससे कम न इससे ज्यादा।

३. बिखराव

वनस्पति के पीछे चलती है
उनकी खुशबू
सात सुरों की तरह
हज़ार गीतों की तरह

मनुष्य के पीछे चलते हैं
दुख और खुशी
एक-दूसरे का पता देते

सात सुर टूट रहे हैं
जैव-श्रृंखला की तरह
साज़ अभी बज रहा है
हज़ार गीतों के टुकड़े
आपस में उलझ रहे हैं। ●

अजंता देव
मो. नं.: 8890186804,
ईमेलः ajantadeo@gmail.com

१. सीढ़ियाँ

सारी सीढ़ियाँ अधूरी हैं कि कभी कोई रुकता
नहीं उन पर।
सीढ़ियाँ सिर्फ़ चढ़ाती नहीं उतारती भी हैं,बाज़
दफे गिरा भी देती हैं।
सीढ़ियों के साथ रेलिंग ना हो तो नज़रें झुका
कर चलो।
सीढ़ी कुछ नहीं कर सकती, पांव चाहिए
चढ़ने उतरने को।
सीढ़ी से क्या होगा अगर दरवाज़ा बन्द हो।
सीढ़ी मत तोड़ो हर दरवाज़े पर स्वागतम नहीं
लिखा।
और
सीढ़ी से ही सीढ़ी का काम लो, मनुष्य इससे
बेहतर काम के लिए है।

२. मानवी

क्या पृथ्वी की चोटों के निशान
छुप सकते हैं
जैसे छुप जाते हैं स्त्री के चेहरे पर नीले
बैंगनी रंग कंसीलर से
क्या छुपा कर हँस सकती है पृथ्वी
जैसे हँसती है स्त्री दो घंटे बाद पार्टी में
पृथ्वी नहीं सहती आघात
पृथ्वी नहीं करती ढोंग
पृथ्वी को नहीं है आदत त्याग की
पृथ्वी रोती नहीं रुलाती है
अब हमें बंद करना चाहिए स्त्री को पृथ्वी
कहना
हमें देखना होगा स्त्री को
डरी हुई
स्वार्थी
और उलझी हुई
जैसे मनुष्य।

३. बची खुची औरतें

सब जा चुकी हैं मैदान या घर में
ढलते सूर्य की तिरछी रोशनी में
घाट पर बैठी हैं गिनती की
बची खुची औरतें
ये इतनी अकेली हैं कि जी भर के देख रही
हैं मछुआरे का कसरती बदन
देख रही हैं जा चुकी भीड़ के बाद
दुर्गा की प्रतिमा को आहिस्ता डूबते
सबसे बाद में डूबता चेहरा
और अंत में इधर उधर तैरते शस्त्र
ये उठ जाती हैं विसर्जन के घाट से
चिल्ला कर पुकारती हैं मल्लाह को
'भिड़े-भिड़े'
उस पार किराया देती हैं सिक्के गिन कर
मुस्कुरा कर उठा लेती हैं अभी-अभी पकड़ी
ताज़ा मछली
कहती हैं अगली पूजा में चुका देंगी दाम।

४. नष्ट

नष्ट करो मुझे पूरा
आधा नष्ट अपमान है निर्माण का
मेरा पुनर्निर्माण मत करना
मत करना मेरे कंगूरों पर चूना
आधे उड़े रंग वाले भित्तिचित्र ध्वस्त करना
ले जाने देना चरवाहे को मेरी अंतिम ईंट
मत बताना उसे वह किस शताब्दी की थी
मेरे झूलते दरवाजों पर रख देना दीमक से
भरी लकड़ी
मकड़ियों के जालों से एहतियात बरतना
आखिर में मेरे साथ पूरे खिले फूलों सा
बर्ताव करना
मुझे हरियाली के हवाले कर पलट कर मत
देखना। ●

सविता सिंह

मो. नं.: 9891233848,
ईमेलः savitasingh@ignou.ac.in

१. दाग-दाग देह

क्या मिला उन्हें जिन्होंने
स्त्री की देह को दागा
सोचकर इससे वह डर जाएगी
वह मर जायेगी
आत्महत्या कर लेगी
क्या सोचा था उन्होंने
उसे निर्वस्त्र करके
उसे गलियों मोहल्लों में ऐसे ही घूमा कर
कि वह डर जाएगी
वह शर्म से मर जायेगी, और
बच गई तो आत्महत्या कर लेगी
उसका मरना क्यों जरूरी है
उनके लिए
राजकाज चलाने के लिए शायद

मगर वह तो मरेगी नहीं
वह तो चंपा की डाल है
कात्यायनी की कविता में अमर
वह जल को जानती है
पहाड़ को भी
हत्यारे लोगों को जानती है वह
हवा की नमी में वह जीवित रहती है
रात के विस्मय की तरह वह सबकी आँखों में
बसी रहती है
समय मिलते ही जवाकुसुम की तरह खिल
जाती है
पहाड़ उसके अपने है
मिट्टी उसे न जाने कब से जानती है
हर तरह की सत्ताएँ उससे खौफ़जदा रहीं हैं
वह कोमल मन की पत्ती
पेड़ों को अपना प्रेमी मानती है

रात में वह उसका रंग बन
काली हो जाती है
उसे पहचानना मुश्किल है ज़रा
उसे मिटाना नामुमकिन

पेड़ काट सकते हैं आततायी
पहाड़ बाँट सकते है
उसकी रात नहीं छीन सकते
न काला रंग मिटा सकते है
तारों का जाल नहीं चुरा सकते है
अलबत्ता उसके विस्मय का हिस्सा जरूर बन
सकते है।

२. रात का अंतस

जब हवा थोड़ी थमी
तब जंगल से दूसरी आवाजें आने लगीं
इतनी आवाजें की लगा दे कब से रुकी हुई
थीं
उनका आवाज बनना कब से बचा हुआ था
वे महज फुसफुसाहटें थीं अबतक

जब हवा शांत हो गई
नदी बहने की आवाजें आने लगी
पानी की आवाज सुनना भी कितना रहस्यमय
अनुभव हो सकता है
जबकि उसकी भयानक मंशा को झेल चुके थे
बगल के गाँव में रहने वाले परिवार
बाढ़ में बह गए थें बूढ़े, बच्चे, जानवर
अभी पानी कुछ कहने को है कि
वह ऐसा नहीं
न प्रकृति ही ऐसी है
वह कहने को है वह हमारे भीतर है बहुत
भीतर

अभी हवा बिलकुल शांत है
अभी किसी की देह में एक कायनात करवट
ले रही है
कोई पुरानी वासना सरसरा रही है
एक आवाज भीतर से उठ रही है
रात तक रुको
उसके अन्तस को देखना है
तो रात तक रुको
ऊपर तारों की छतरी को तनने दो
चाँद को सरकने दो बाईं तरफ थोड़ा
आने दो बाहर नृत्य करने उस काले पक्षी को
जो रात का पक्षी है
अप्रतिम अपने सौंदर्य में भयावह

अभी हवा फिर चल पड़ी है
एक दूसरी आवाज फिर से आ रही है
सन सन सन
क्या तुम्हें मालूम है
इसका अर्थ सिर्फ आत्मा जानती है
देह को भी इसका नहीं पता
वह सिर्फ सिहरती है
किसी प्रेम की अनुभूति में

प्रेम, मगर किससे... आह!

३. कहाँ है वतन मेरा

कल मेरा मन दुख रहा था
कल ही इस दुख का हजारवाँ वर्ष था
कल ही मेरी बेटियाँ मारी गई थी
मेरे बेटे युद्ध के लिए दूसरे देश भेज दिए
गए थे

कल के ही दिन
हजार वर्ष पूर्व मैं जार-जार रोई थी
उसे पीछे मुड़कर मुझे देखने की मनाही थी
वह अभी पूरी तरह दस वर्ष का भी नहीं
हुआ था
कल ही के दिन मैंने तय किया था पितृसत्ता
से लड़ूँगी
आज भी लड़ती हूँ

किसी शोभायात्रा में शामिल नहीं होती जिसमें
युद्ध का यशोगान होता हो
उस सभा में भी नहीं जाती जिसमें शासकों
के शौर्य का बखान होता हो

एक युद्ध में खुद भी शामिल रही हूँ
शांति स्थापित करने के लिए
में कितनी रातों से जागी हूँ
कितने ही कोस चल चुकी हूँ
भूखी प्यासी हूँ

में चल रही हूँ रात के भीतर
हवा के संग
नदियों को लाँघती
पहाड़ों पर चढ़ती

में कितने ही पहाड़ पार चुकी हूँ
अभी मैं कहाँ हूँ
सोचती हूँ

कहाँ है मेरा वतन...●

प्रगति सक्सेना
मो. नं.: 98116 99391,
ईमेलः pragati.prag@gmail.com

१. आज़ादी

आँगन मारता है चिड़ियों को
आज़ादी और उड़ान के सपनों समेत
टाँग देता है उन्हें, सजा देता है अपने खुलेपन में
ये उसकी उदारता का बखान है, उसके प्रेम का,
मरी हुई चिड़ियों को तमगों की तरह दिखाता है

जब भी चाहे वो उन्हें दुलार सकता है
ये कहते हुए कि इन्हें उड़ने की पूरी आजादी है
आँगन उनसे जब चाहे बतिया सकता है
और कह सकता है कि अपने मन से
उसके खुले में बैठी ये चिड़ियाएँ

कोई शिकायत नहीं करतीं वो उनका देश है,
घर से अलग अपने इस घर से वो बहुत प्यार करती हैं
आँगन कभी-कभी सहम जाता है उन अत्याचारों पर
जिनसे कभी इन चिड़ियों को गुजरना पड़ता था

उनकी चहचहाहट उसके खुलेपन में गूँजती है
और वो अपनी उदारता और बड़प्पन से सराबोर
एक नई चिड़िया का स्वप्न देखता है
और प्रेममय स्वर में हर नई चिड़िया को बताता है,
उसका पता कोई नहीं, उसका घर कोई नहीं
वो बसता है इन चिड़ियों में, उनके सपनों में,
इनके इस कभी ना बदलने वाले पते में

२. मेट्रो में सोती लड़की

सपनों से थकी
असलियत में फँसी
सोती है लड़की
चलती ट्रेन में

अब फिक्र नहीं अपने नए-नए चूड़े की
मेकअप की, नींद में अधखुले होंठों से
उड़ते जाते हैं सपने धीरे-धीरे

अब वह आज़ाद है
नींद में

अभी बहुत लंबा रास्ता
बहुत छोटी नींद
उसे आदत है, रोज़ सुबह तैयार होकर
मेट्रो से दफ्तर
बीच में नींद
मेकअप नया है, चूड़ा भी, थकान भी

झूलती है दूसरी लड़की के कँधे पर बेहोश
नींद में गुम
कुछ स्टेशन बाद लौटेगी इसी दुनिया में
फिर से तैयार होगी
होंठों पर सलीके से लगाएगी असलियत
की लाली, बोझिल आँखों को
आने वाले दिन की उम्मीद के काजल से भरेगी
और अपना स्टेशन आते ही फुदक कर उतरेगी
प्लेटफॉर्म पर
घर वापिस पहुँचने से पहले
पूरा करना है दिन भर का सफर अभी

३. घर लौटते रास्तों की बढ़ती दूरियाँ

सड़कें चौड़ी कर दी गईं
इधर आने वालों और इधर से जाने वालों
के बीच दूरी और बढ़ गयी
विकास इतना हो गया कि
आने वाला, जाने वाले से अलग हो गया

पहले मगर दूर से ही सही, लोग मिल लेते थे
बस हाथ हिला दुआ-सलाम हो ही जाती थी
आने और जाने वालों के बीच एक छोटा सा डिवाइडर
नज़र भी नहीं आता था

इमारतें इतनी ऊँची ना थीं कि धूप रोक लें
पेड़ों से बस ज़रा सी ऊँची कि ज़मीन से अंदाज़ा हो जाता
कितनी सीढ़ियाँ चढ़नी होंगी
अब सिर उठा कर इमारतों की चोटी देखनी होती है,
नंगे आसमान के बरक्स

सीढ़ियों का अंदाज़ा भूल गए, लिफ्ट तो होगी ही ना!

जो हरे हवा में झूलते बहुत पुराने पेड़ थे
भेंट चढ़ गए इस लंबी चौड़ी विशाल एकाकी सड़क के
बेशक्ल भीड़ के बयाबान को चीरते हम पहुँचते हैं मेट्रो स्टेशन
नज़रें सिर्फ वहीं तक सीमित
जहाँ तक देखते हुये पैर ना लड़खड़ाए, सिर ना चकराये

फिर एक अकेली सी चैन की साँस लेते हैं
इस विकास पर इतराते हुये
चलो दिन बीत गया- अब दूरियाँ भी बीत जाए किसी तरह
जो बढ़ती ही जाती हैं घर लौटते रास्तों में ●

नीलेश रघुवंशी

मो. नं.: 9826701393,
ईमेल:neeleshraghuwanshi67@gmail.com

१. शहर

कैसी धूल भरी निर्जनता
छायी हुई है चारों ओर।
शहर मरते कैसे हैं?
धमाकों के साथ नहीं मरते
बर्दाश्त की हद पार करने और
समझदार चुप्पी से मरते हैं शहर।

२. इस समय

एक कोने में बिल्ली अपने बच्चों को दूध पिला रही है
छोटे-छोटे बच्चे और बिल्ली इतने सटे हुए हैं आपस में
मुश्किल है उन्हें गिनना
एक औरत
पेड़ में रस्सी का झूला डाल, झुला रही है बच्चे को
साथ-साथ बच्चे के औरत भी जा रही है धीरे-धीरे नींद में
इस समय
एक पत्ता भी नहीं खड़कना चाहिए।

३. गहरे बादल

एक दिन
बहुत तेज़ गहरे बादल घिर आए
एक बादल रुक गया
उसे देख मुझे तुम्हारी बहुत तेज याद आई
वहाँ भी बादल घिर रहे हैं, क्या?

मैं अपने होने की यादों में भ्रमण करती हूँ
केले के पात से ढँकती हूँ खुद को
तुम मुझे छीलोगे तो
अनार के दानों की तरह खुद पर बिखरा पाओगे।
तुम्हें प्यार करती हूँ इतना कि
सफेद कागज पर लिखी अरजी बन जाना चाहती हूँ
कि हमें प्यार करते हुए काम पर जाना है
कि लौटते हुए हमें फिर प्यार करना है
कि हमें काम करना है लेकिन
इस तरह नहीं कि हम एक दूसरे से प्यार न कर सकें।
हम दूर, बहुत दूर हैं
हम प्यासे हैं
रूका, ठहरा बादल अचानक से बरस पड़ा।

४. सुंदरियों

मत आया करो तुम सम्मान समारोहों में
तश्तरी, शाल और श्रीफल लेकर
दीप प्रज्वलन के समय
मत खड़ी रहा करो माचिस और
दिया-बाती के संग
मंच पर खड़े होकर मत बाँचा करो
अभिनंदन पत्र
उपस्थिति को अपनी सिर्फ मोहक और
दर्शनीय मत बनने दिया करो

सुंदरियों,
तुम ऐसा करके तो देखो
बदल जाएगी ये दुनिया सारी ।

५. खिड़की खुलने के बाद

मुंडेर पर अनगिन चिड़िया
दूर कहीं
झुण्ड में उड़ते सफेद बगुले
पेड़ की डाल पर नीलकंठ
कूकती कोयल हरे-भरे झूमते पेड़
ताज़गी से भरी सुबह
प्रकृति प्रेम हिलोरें मारता है मेरे भीतर।

खोलती हूँ जैसे ही खिड़की
दिखते हैं
सड़क पर शौच करते लोग
कीचड़ में भैंसों के संग धँसते बच्चें
बिना टोंटी वाले सूखे सरकारी नल पर
टूटे-फूटे तपेले में अपना मुँह गड़ाए
एक दूसरे पर गुर्राते कुत्ते
दिखता है
कूड़े और नालियों पर बसर करता
सड़ाँध मारता जीवन।
देखना कुछ चाहती हूँ
दिख कुछ और जाता है
खिड़की खुलने के बाद। ●

अनीता वर्मा

मो. नं.: 9931511753,
ईमेल: Anita.verma555@gmail.com

१. बोलती हुई लड़की

लड़की बोलने लगी है
अपनी खुशी, अपने दुख
आदतें, पसंद और चाहतें
इसे गौर से देखो
यह अब डरती नहीं
हिचकती नहीं
यह विरोध कर सकती है
उठकर जा सकती है बिस्तर से
अपनी पसंद का घर बना सकती है
बेड़ियाँ अब इसे नहीं डरातीं
इसने इन्साफ़ करना सीख लिया है

यह अब भी माँ, बहन और मित्र है
पर गाली नहीं है
दीन,हीन, मुजरिम और जिस्म तो क़तई नहीं है

अब भी यह प्यार करती है
मरहम लगाती है उजड़ती, बिखरती दुनिया को
सुन्दरता को बचा लेने की ज़िद ने
इसे सुंदरतम में बदल दिया है
यहाँ से रँगों का संसार शुरू होता है
पृथ्वी एक बगीचे में बदल जाती है।

२. जनतंत्र

जनतंत्र के विद्रूप चेहरे के सामने
न्याय किसी अँधेरे कक्ष में क़ैद है
झूठ के धुँधलके में गुम हो गए हैं दृश्य
सारे साक्ष्य मिटा दिए गए हैं
राजनीति करती है अपने संधान
न्याय के प्रेत का काँटा चुभा हुआ है कंठ में
अधिनायक खींसे निपोरता
लाशों पर हल चलाता है

बेटियों के आँसू गालों पर लुढ़कते हैं
मिट्टी उन्हें सोख लेती है
तूफ़ान सैलाब बन सड़कों पर उतरता है
ज़बाने बंद हैं
अत्याचारी हँसता हुआ अपनी बातें कहता है
अडिग विश्वासों की नीव हिलाता हुआ
लोहे की दीवारों के बीच बंद
जन और तन्त्र का
यह स्थाई दृश्य है।

३. स्वोना

मुरझाए पलाश
वसंत की प्रतीक्षा करते हैं
पारिजात में नहीं आते फूल
दूर चली गई हैं ऋतुएँ
हरियाली ने पहन लिया है भूरा लबादा

बारिश अब बारिश नहीं रही
घटाएँ गरजती नहीं
काला नहीं होता आसमान
बूँदें उतरती नहीं हृदय में
धारासार जल में भीगती नहीं आत्मा

सपने अपने देश वापस चले गए हैं
बर्फ़ पिघलने लगी है
सुगंध के झोंकों ने
बदल लिए हैं रास्ते

उगते और डूबते सूरज के बीच
साँसों का कारोबार है
कुछ भी उगता नहीं
खो चुका है
खोने का अहसास।

४. चट्टान

चट्टान को सोचते हुए
साथ चले आते हैं बर्फ़ और पहाड़
तीखी चढ़ाइयाँ और समुद्र के कछार
एक चट्टान जैसा मन
दुखों को ठोस बनाता हुआ
कभी नहीं टूटनेवाला

चट्टानों के नीचे रहनेवालों
और उनपर रेंगनेवालों की अलग एक
दुनिया है
मछलियों के अंडों, साँपों, कीड़ों का
दुर्निवार संसार
मूँगे, घोंघों, सीपों से भरा हुआ
उछलती लहरें समुद्र की
पटकती हुईं अपना सिर

आख़िर क्यों है चट्टान
प्रेमी जोड़ों के बैठने के लिए
बचाने को प्रेम का अहसास
या ऊँचाइयों को नापने का
यह एक वाहिद पैमाना है
गहराई और ऊँचाई से
इनका पुराना रिश्ता है
जितनी ठंडी और शांत है
उतनी ही ज्वालामुखियों से भरी हुई।●

प्रज्ञा रावत

मो. नं.: 9926434541,
ईमेल: pragyarawat61@gmail.com

१. हवा...

लड़कियों ने ज़मीन से ज़्यादा
साफ़ हवा माँगी थी अपने हिस्से की।

२. सुबह सवेरे...

दुनिया के फेफड़े
में आग लगी है
अमेजन के जंगल में
दो हफ्ते से नहीं बुझी है आग
आसमान काला हो
रहा है संसार का
शेयर बाजार में भारी गिरावट
आई है बाजार एक ही दिन में
काफ़ी डूब गया है!
पृथ्वी के हर भाग पर मची है मारकाट
पढ़ते हुए ये समाचार
सोच रहा है कवि मन
कि इस ख़ौफ़ में
क्या सीख दूँ बच्चों को
कि देखें चाँद की तरफ़
और मनाएं खुशी
मंगल, चंद्रयान के आनंद की
इस बीच तेज़ सरसराहट महसूस
करती हूँ
कि धीरे-धीरे सारे बच्चे
दुबक गए हैं मेरे आंचल में

इकट्ठा होने लगते हैं
बच्चों के चेहरे
सोमालिया, अल-सल्वाडोर, क्यूबा के
के बच्चे
पेरू के बच्चे, विएतनाम के बच्चे, कोरिया
कम्बोडिया के बच्चे
इज़राइल और फ़िलीस्तीन के बच्चे
अफ़ग़ानिस्तान, हिंदुस्तान, पाकिस्तान
ईरान ईराक और
क्रागुएवाल्ज़
के बच्चे!
मैं पनाह देती हूँ अपने जिस्म के भीतर
इन्हें
ज़ोर-ज़ोर से चीख़ रही होती हूँ
मेरे हाथ से छूटकर
चकनाचूर हो गया है
फ़र्श पर
चाय का कप
और ये बिलकुल सुबह का
समय है
संसार भर के
मित्रों! (२३.०८.२०१६, सुबह सवेरे
अखबार पढ़ते हुए।)

३. स्त्री

हर पुरुष को एक मायावी लोक
से उतरी कमनीयनुमा सी स्त्री चाहिए
एक घरेलू खांटीनुमा
उसे प्रज्ञावान कात्यायनी
एक में नहीं अलग-अलग
जिस्मों-रूह में चाहिए
स्त्री एक पुरुषार्थी पुरुष को
प्रज्ञावान बनाने में
समूचा ब्रह्माण्ड एक कर देती है
अपने आसपास अरुंधती रहय गढ़ती
दमकदार मेरी रहय चमकदार सेरेना
विलियम्स
पुरुष का दंभ प्रेम में तो बदलना चाहिए
ना। (०४.०६.२०२२)

४.घर जाना है

धरती के इस छोर से
फिर शुरू कर दिया है चलना
सभ्यताओं के विकसित जंगल
से बाहर हाँकें जा रहे ये चींटियों के
झुण्ड नहीं इंसानों के हुजूम हैं
जिन्हें सभ्य भाषा में
कामगार माना जाता है
इन्हें घर जाना है!

जिनके पास नहीं इस छोर से
उस छोर तक कोई घर
उन्हें घर जाना है
जो पोटलियों में पैदा होते गए
जनानी के बच्चे से आदमकद जवान तक
जो दफ़्न करते गए दादी नानी
के पीढ़ियों के किस्से इनमें
उन्हें घर जाना है!

जो निन्यानवै से एक सौ निन्यानवै
माफ़ करें नौ सौ निन्यानवे के रंगीन
काँचों के जश्न में सराबोर मॉल
के तिलिस्म को ताजमहल की
हुनरमंदी सा हमारे लिए तराशते रहे
सदियों से ताक़ते रहे हर शहर की
तीसरी सड़क से
उस हुजूम को घर जाना है!

इन दिनों जबकि हमें अपने घर
अधिक अच्छे लगने लगे हैं
संसार भर में पृथ्वी पर तारी इंसानों
की मृत्यु का दर्दनाक खौफ़ छाया है
तब ये हुजूम बेदखली का फ़रमान
अपने सीने पर उठाए क्यों निकल
पड़े हैं तपिश में!

जिनका नहीं कोई घर
तो फिर उन्हें घर क्यों जाना है!
क्या उन्हें अपने आदम गाँव की
हवा पर है भरोसा या उस आसमान
के आसपास पहुँचना चाहते हैं जिसकी
तनी
अरगनी पर फचीटे हुए कपड़े सा टाँग
देंगे अपने लुटे जिस्मों को
ये उनके घर पहुँचने की मुहीम का
आख़िरी मंज़र होगा!! (०१.०५.२०२०)

●

सुशीला पुरी

मो. नं.: 9451174529,
ईमेल: sushilapuri31@gmail.com

१. कील की तरह

कह-कह कर वह थकी नहीं
थक चुके हैं
सुनने वालों के कान
हाशिए से आती यह आदिम आवाज़
अनुपस्थित है खोई अनाम धुन की तरह

गूँजती रहती है वह धुन
उनकी पराजित योजनाओं में
कील की तरह गड़ती है
उनकी आत्मा की नैतिक पीठ पर

उसे उखाड़ फेंकने की साज़िश पाले
लहूलुहान हैं बेवश योद्धा
भाषा ने छोड़ दिया है उनका साथ
गूँगेपन में ढल रहा है
उनका हर वार।

२. उन्नीस साल की लड़की

सत्ताइस साल पहले
लिखी थी एक कविता
उन्नीस साल की लड़की ने
चलने के बारे में
पाँवों के निशानों के बारे में
मुश्किलों से जूझने
और उड़ानों के बारे में,
उस कविता में
कुछ दुर्लभ ध्वनियाँ थी
जिनकी गूँज आकाश तक जाती थी
एक सूरज था
जो अंधेरों को चीरने का हुनर रखता था
निर्वासन के पहले लिखी गई थी वह
कविता

ठीक उन्हीं दिनों
हँसने का महास्वप्न पाले
लड़की ब्याह दी गई
और उसकी घड़ी से सुइयाँ गायब हो गईं
यातनाओं के सघन जंगल में
गायब हो गई वह
कोई पगडंडी तक नहीं थी वहाँ
वहाँ के महान धर्मग्रंथों में
जो व्याख्याएँ थीं
वह बेहद शर्मनाक थीं
उनके पास ग्लानियों का कोई अर्थ न था
क्रूरताओं के निरंकुश जंगल में
तरह-तरह के बनैले जीव थे
जो लड़की को कच्चा चबा जाना चाहते थे
उनकी निर्मम व्यवस्थाओं में
लड़की के लिए चलना मना था
हँसना मना था
देखना मना था
बोलना मना था

उस कविता के अनुवाद
कुछ भाषाओं में हुए भी तो
अनदेखे रह गए; जबकि
पृथ्वी की सारी भाषाओं में
होना चाहिए था उसका अनुवाद
भविष्य की तमाम कूट लिपियों में
दर्ज हो जाना चाहिए था उसे
वे सारे अंधेरे
जो फैले थे उसके संसार में
पढ़ना चाहिए था उन्हें बार-बार
होना चाहिए था
उस कविता का रोज़ इक अनुवाद।

३. उपसर्ग की तरह

उसने कहा
अपना ही घर है
नाम में क्या रखा है
नाम रहे न रहे
तुम तो हो ही

कह सकती हो
अभी इतनी भी देर नहीं
समायोजित हो जाओगी
कहीं न कहीं

व्याकरण की पोथियों से दूर
स्वर-व्यंजन की अनिवार्यता के बीच
लटकी है वह
किसी उपसर्ग की तरह। ●

प्रीत करे दुःख होय

अंजू शर्मा
मो० 8851751628

यूँ तो जीवन ही एक ऐसी यात्रा है जिसमें बहुत से पड़ाव आते रहते हैं पर कुछ लोग होते हैं जिनके लिये यात्रा जीवन बन जाती है। उन्हीं में से एक है महेसा जो हर रोज उस बस यात्रा पर निकलता है जो लोगों के लिये तीर्थयात्रा है पर उसके लिये पेट की भट्टी को शांत करने का एक जरिया क्योंकि सबसे बड़ी व्याधि है आदमी की भूख। धर्म और ज्ञान का स्थान उसके बाद आता है। तो जहाँ लोग पुण्य कमाने, पाप काटने या फिर मनौतियों को पूरा करने निकलते है वह भी निकलता है कि दो वक्त हाथ से मुँह के सफ़र को तय करने का जुगाड़ कर सके।

आगरा से गोवर्धन और गोवर्धन से आगरा, इसी रूट पर चलती एक बस में कंडक्टर की ड्यूटी करता है महेसा। वैसे उसमें और इस बस में ज्यादा फ़र्क नहीं है, दोनों ही इस यात्रा पर रोज निकलते हैं और लौट आते हैं। न बस के पास कोई मनौती है न महेसा के पास। दोनों हर रोज के मूक सहयात्री हैं लेकिन जाने किस जन्म के पाप रहे होंगे कि कटते ही नहीं।

तेजी से दौड़ रही है बस अपने पीछे घर, पेड़, खेत, बिजली के खम्बे पीछे छोड़ती हुई आगे बढ़ रही है। मथुरा के बस स्टैंड के आते ही ड्राइवर समयसिंह ने गति थोड़ी धीमी की। आदतन महेसा ने सिर बाहर निकाला और टेर लगाने लगा।

"आओ जी परकम्मा वाले .....परकम्मा वाले। गोवर्धन परकम्मा वाले। गिर्राज जी परकम्मा वाले।"

जैसे ही बस रुकी, उसने बाहर खड़े यात्रियों पर एक उचाट सी दृष्टि डाली और उसकी उड़ती नज़र में जाने क्या कौंधा कि बिजली की गति से उछलकर वह पड़ली सीट से गेट पर आ गया।

आज भीड़ बहुत है। मेले का खास दिन है न। धक्कामुक्की और रेल पेल ने घेर लिया है आगे के गेट को। महेसा की निगाहें बेचैनी से अगले गेट चढ़ रही महिला सवारियों के बीच उसे ढूंढ रही हैं।

'परकम्मा। गिर्राज जी परकम्मा!' वाला स्वर कहीं बिला गया है। जुबान को जैसे लकवा मार गया है या बोल जैसे विस्मृत हो गए हैं। ड्राइवर समयसिंह मुड़कर इशारा करता है।

महेसा की जैसे बेहोशी टूटती है पर साथ ही टूट गया है उसका सत भी। अभ्यासी स्वर फिर फूटते हैं, उसकी हांक गूंजने लगती है पर शब्द मानो दिशाहीन होकर बिखर रहे हैं।

हॉर्न की आवाज़ उसकी तंद्रा को भंग कर देती है।

"परकम्मा वाले। परकम्मा। परकम्मा वाले!!"

इस बार ऐसे सब यंत्रचालित सा चल रहा है। उसके स्वर में, उसकी पुकार में वह ताब नहीं जो चलती सवारी के पैर मोड़ देती है। भीड़ बस में भर रही है। बस की खाली जगह भीड़ के रेले से पट चुकी हैं। पर इस चढ़ती भीड़ में वह चेहरा नहीं जिसकी तलाश महेसा के अंतर्मन में हलचल मचाए हुए है। उस कौंध ने जैसे उसके मन को ठिठका दिया है।

वह दौड़कर गेट से नीचे कूद गया पर वहाँ कोई नहीं जो उसकी इस बेचैनी से वाबस्ता हो। कोई चेहरा नहीं जिससे उसकी बेचैन आत्मा को सुकून का एक पल नसीब हो। कुछ सवारियाँ बस की भीड़ देखकर पीछे हट चुकी हैं। उनमें भी वह चेहरा नहीं।

अन्य दिनों सा कोई और दिन होता तो वह इन पीछे हट चुकी सवारियों को आकर्षित करके बस में भरने के लिये जी जान लगा देता। भले ही समयसिंह हॉर्न पर हॉर्न बजाता रहता पर सवारियों को लिये बिना महेसा बस में चढ़ने का नाम न लेता। कभी हँसते हुए तो कभी झुंझलाकर मोटी सी गाली फेंकते हुए, जो अक्सर उसकी बड़ी मूंछों में अटककर रह जाती, समयसिंह गाड़ी चला देता और महेसा दौड़कर बस के अगले गेट के पायदान पर लटककर चिल्लाता, "ऐ भाईसाहब। मुझे तो ले लो"

फिर दोनों जोर से खिलखिलाकर हँस पड़ते। देर होने से ऊब रही सवारियों के चेहरों पर भी मुस्कान थिरक जाती। एकाध पुरुष कोई जुमला फेंकता, कोई स्त्री कनखियों से अनदेखा करते हुए सब देखती, कोई सवारी हाथ में बंधी घड़ी देखते हुए बड़बड़ाती, कोई अपना बालक संभालता तो कोई सामान और इसी सबके साथ बस आगे बढ़ती चली जाती।

आमतौर पर गेट बन्द कर महेसा चढ़ चुकी सवारियों पर नज़र डालते हुए बस की किसी पिछली सीट की ओर बढ़ जाता था। इस बीच सवारियाँ खाली सीटों पर व्यवस्थित हो गई होतीं। बस के बीच मे, दोनों ओर की सीटों के बीच की जगह पर वह किसी सीट पर टेक लगाकर खड़ा होता और "टिकट ...टिकट जी।" की आवाज़ लगाने लगता। तब तक बस तेज़ गति पकड़ चुकी होती।

महेसा अपने कान पर टँगी कलम उतारकर टिकट बनाना शुरू करता। कुछ टिकटें बनाकर वह बस में आगे की ओर बढ़ते हुए देखता कहीं कोई सवारी छूट तो नहीं गई है।

पर आज वैसा कुछ न हुआ। उस एक कौंध ने उसके एक युग पुरानी धीरज की थेगली लगी चादर को मानो यूँ चीर दिया कि जैसे वह फिर कभी नहीं जुड़ेगी।

"कैसे निर्दयी हो गोवर्धन महाराज। मेरे दुःख का कोई तो मरम रहने दो। ज़िंदा रहना जरूरी ना है तो भी जीता रहा। जल बिन मीन सा तड़पकर भी तुम्हारे दिये जीवन की मरजाद रक्खी मैंने। उसे देखकर ज़िंदा रहना और जीते रहना मेरे सामर्थ के बाहर की बात है महाराज। दया करो..." मन का हाहाकार जीने नहीं देता। तड़प उठा है महेसा। समय का अंतराल पीड़ा की माटी से पट गया है।

उसके मन की शांत झील में याद का कोई कंकड़ यूँ गिरा कि छोटा सा भँवर उठा और धीमे-धीमे पूरी सतह पर फैल गया। उसने एक बार फिर खिड़की के बाहर झांका, बाहर पीछे तक देख लिया पर उसकी बेकरारी को थाह नहीं मिल रही।

कहाँ गई वह?लग तो वही रही थी। कहीं उसके मन का वहम तो नहीं?वह हो ही न।

या ये भी तो हो सकता है, कोई और हो। उस जैसी।

उस जैसी कोई और। उसका अपना ही ये खयाल उसके दिल में शूल की तरह गड़ गया। दिल से हूक सी उठी। उस जैसी कोई और कैसे हो सकती है?होती तो उसका मन आज भी बियाबान में राह भूले प्राणी सा भटक न रहा होता।

यही आगरा से गोवर्धन परिक्रमा तक के चक्कर और फिर आगरा की ओर वापसी में जीवन का चक्र घूम रहा है। सुबह से शाम होती है इन्ही चक्करों में, इन्ही सवारियों को पुकारती आवाज़ों के बीच दिन भर खोया रहता है महेसा, जीवित रहने के भ्रम को पालते पोसते हुए जैसे अपने भीतर की दुनिया से आँख फेरे रहता है। ऐसे ही सूरज जी एक चक्कर पूरा करते हुए अपनी पाली की ड्यूटी चंद्रमा को सौंपते हैं। जैसे वह अपनी ड्यूटी से फारिग हो लौट आता है अपने बसेरे में। ऐसा बसेरा जहाँ कब्रिस्तान की सी खामोशी में उसे रात काटने की सज़ा मिली है।

अनसुनी करता रहता है वह उस पुकार को जो रात के अंधेरे में जब उठती है तो कलेजा चीरकर दोफाड़ कर देती है। उस अंधेरी कोठरी में निर्जीव पड़ी देह से छिटककर रोआराट मचाता है, वही जिसे मन कहा जाता है।

कहते हैं न मन को जितना दबाओ उतना ही ज्यादा मनमानी पर उतरता है। महेसा मन की लगाम को कसे पहाड़ सा जीवन काट रहा है जैसे कोई वनवास काट रहा हो। इसके अतिरिक्त जीवन में अब है ही क्या।

उसे अपनी देह पर कोड़े बरसाने वाला चिनप्पा याद आ रहा है। दाऊजी के मेले में एक घाघरेनुमा वस्त्र पहने हुए देवीभक्त चिनप्पा अपने चेहरे और नग्न देह पर हल्दी कुमकुम के मिश्रण जैसा कोई लेप लगाए हुए रहता। सड़क पर देवी मरियम्मा का आराधक चिनप्पा उनकी भक्ति के नाम पर अपनी देह पर कोड़े बरसाता और उसकी माँ एक ढोलक को एक

डंडी से बजा रही होती।

जैसे-जैसे भक्ति की तरंग गहरी होती जाती, ढोलक की फटकार भी तेज होती जाती और चिनप्पा भी मानो किसी सम्मोहन में पूरी तरह डूब जाता। इसी के साथ कोड़े की फटकार और उसका वार तेज और तेज होता जाता। ढोलक की ढम ढम, कोड़े की फटकार और उसकी कमर से बंधी घंटियों की माला से निकला स्वर, ये तमाम आवाज़ें मिलकर एक विचित्र से वातावरण की रचना करतीं।

यह कैसी उपासना है, कैसा सम्मोहन है कि चिनप्पा अपनी ही देह को उधेड़ देता है। यह ईश्वर की भक्ति का सम्मोहन है या भूखे पेट को भरने की विवशतापूर्ण जुगत है, तय नहीं कर पाता था महेसा पर चिनप्पा के हर वार पर महेसा के दिल पर एक चोट लगती। महेसा चिनप्पा को याद करता है तो मन की देह पर उभर आते हैं उस जैसे कई घाव। आखिर अलग क्या है?प्रेम भी तो ऐसी ही साधना, ऐसा ही मन्त्रबिंधा सम्मोहन कि आदमी सर्वस्व लुटाकर भी उस नशे से आजन्म नहीं उबर पाता है। इस नशे में डूबे रहना ही उसका इलाज है और वही दवा भी। महेसा भी इस नशे में डूबा तो डूबता चला गया।

यह जानते हुए कि कुसुमा उसके लिए काँटों की बाड़ से घिरा वह जवाकुसुम है जिसे वह कभी छू नहीं पाएगा, वह प्रेम के इस कण्टकवन में उतरकर लहूलुहान हो गया। ये जो बित्तेभर का मन है देह में वो कहाँ किसी भेद को मानता है, प्रेम कब किसी निषेध की पालना करता है। प्रेम है तो विछोह है, विछोह है तो स्मृति है, स्मृति है तो कसक है, कसक है तो पीड़ा है, कभी न ख़त्म होने वाली पीड़ा और बारहों महीने टभकता-कसकता मन का घाव जो हर रात हरिया जाता है। जिसका हरा रहना ही उसकी साँसों की आवन जावन का सहारा है।

अब तो उसे इस पीड़ा की भी आदत हो गई। इसके बिना जीवन में क्या बचेगा?महेसा को प्रेम ही नहीं प्रेम के नाम पर मिली पीड़ा से भी उतना ही मोह है, तभी तो उसे मरी बंदरिया के बालक सा छाती से लगाए हुए है। तभी तो हर रात स्मृति के कोड़े से वह अपने अंतर्मन को लहूलुहान कर बैठता है। पर आज तो दिन के उजीते में भी वह पीड़ा ऐसे रड़क उठी है जैसे वर्षों पुराने घाव पर कोई नमक छिड़क दे।

बस के दोनों गेट बंद हो चुके हैं। गाड़ी ने गति पकड़ ली है। उसका ठंडा हो चुका उत्साह रंग बदलकर अब भरम का चोला पहनना चाहता है पर नाकाम रहता है। उम्मीद का पाखी उड़कर कहीं दूर किसी नाउम्मीदी के वृक्ष की फुनगी पर जा बैठा है। मायूसी और उदासी को उसने ऐसे लपेट लिया जैसे सामने की सवारी ने खिड़की की हवा से उड़ती अपनी चादर को कस लिया है।

पर मन भला कैसे माने, फिर अतीत का एक छोर उसे बीते समय की छूटी हुई पगडंडियों की ओर खींच रहा है। लग रहा है जीवन का सत तो कहीं पीछे ही छूट गया। एक बार फिर वही ख़याल उसकी रूह में सुराख बनाता हुआ घुस आया है। लग तो वही रही थी। हूबहू वही। उसे पहचानने में भला वह गलती कर सकता है?एक ही झलक देख पाया था वह। एक क्षण के जाने कौन से हिस्से में महज कौंध भर पर मन के सारे तार झंकृत हो गए थे।

यौवन की दहलीज बस एक कदम दूर थी पर मन था कि इसे एक ही छलाँग में पार कर पहुँच जाना चाहता था प्रियतम की बाँहों में। उन दोनों को इस पड़ाव का एहसास तब हुआ जब एक के नाम से दूसरे की धड़कन बेकाबू होने लगी। जब एक के बिना जीवन रेगिस्तान सा सूना और नीरस महसूस होने लगा।

अनमने मन से अब वह बस के पीछे की ओर बढ़ रहा है।

"हाँ जी.. कोई छूट तो ना गया जी।" रोज आदतन दोहराए जाने वाले ये शब्द आज कितनी थकान के साथ उतरे हैं उसकी वाणी में। आज एक-एक हरफ़ की सच्चाई की कसम उठा सकता है वह। उसकी देह घिसट रही है और मन पीछे छूट गया है।

सवारियाँ मन ही मन विनत होकर झूम रही हैं, बस में पंचम स्वर में गूंज रहा है,

"श्री गोवर्धन महाराज, ओ महाराज,
तेरे माथे मुकुट विराज रह्यो।"

भीड़ अब थोड़ी छंट गई है। सीटें भर गई है। कुछ सवारियाँ अभी भी खड़ी हुई हैं। या तो उन्हें सीट नहीं मिली या फिर वे सामान को व्यवस्थित कर रही हैं। अभी दूसरी सीट तक पहुँचा था कि एकाएक उसकी सरसराती नज़र को जैसे ब्रेक लग गया।

बस के पिछले हिस्से में एक सवारी जरा झुकी तो उसके पीछे जो दिखा उसने महेसा की बेचैनी को अपने चरम पर पहुँचा दिया। ये वही थी। सोलह आना वही।

वही चित्ताकर्षक चेहरा, वही बड़ी बड़ी आँखें किंतु चेहरे की लुनाई कहीं लोप हो गई थी और आँखों में चपलता की जगह विचित्र से खालीपन ने ले ली थी। जाने समय की मार थी किन्ही दुःखों की कि उसकी देह शिथिल और उदासीनता की शिकार मालूम होती थी।

इस दफ़ा महेसा के कलेजे से एक हूक उठी जो जाने कैसे कुसुमा तक पहुँचकर एक दस्तक में बदल गई। अब उसकी नज़रें गेट के पास जमे महेसा पर जा टिकी थीं। नज़रें मिलीं तो कुसुमा की दृष्टि में सौ जुगनुओं की चमक जगी और अगले ही क्षण लुप्त हो गई, जैसे भभककर दीवार पर लगा बिजली का लट्टू बुझ जाए है। दोनों के दिलों में एक अनचीन्ही सी खुशी का ज्वार एक लम्हे को उठा और अपनी सतह पर बैठ गया। वह नीचे झुक गई। उसके हाथ सीट पर बैठे पुरुष के कंधे से गिरी चादर को सहेज रहे थे।

जरूर वह पीछे के गेट से चढ़ी होगी और हाथ का बैग जमीन पर टिकाकर अब बैठ चुकी थी। बस लगभग पूरी भर चुकी थी। महेसा के कदम जैसे जम से गए थे। उसके एक दीदार से बीते समय का कोई क्षण, स्मृति पटल पर कौंधा और समय जैसे उसी मोड़ पर आकर ठहर गया।

हवा में घुल रहा प्रेम का वासंती रंग, महक उठी है किशोरावस्था को लांघती दो कच्ची देहों की कच्चांध, गूंज रही है दस दिशाओं में उन दोनों की उन्मुक्त हँसी, साइकिल के आगे की ओर बैठी एक किशोरी और पैडल मारता हुआ एक किशोर।

लड़की अपने सीने पर पड़े दुपट्टे को संभालना सीखने लगी थी और किशोर की मसें भीगने लगी थीं।

एक ही गाँव के रहवासी, तुतलाने और गुढ़लियाँ चलने की उम्र के साथी, साथ-साथ झुंड में जामुन और कैरियाँ बटोरते, वे दोनों कब एक दूसरे के मनमीत बन गए, न वे जान पाए न तेज़ी से सरकता समय का पहिया। साइकिल अब केवल साइकिल नहीं रह गई थी। उस पर बैठने से कुल की मर्यादा के नष्ट भ्रष्ट होने का भय जुड़ गया था। झुंड अब पीछे छूट गया था। यह अनबोले ही घटित हुआ कि उनका साथ अब एकांत के साथ पर्देदारी का मुँह ताकने लगा था।

यौवन की दहलीज बस एक कदम दूर थी पर मन था कि इसे एक ही छलाँग में पार कर पहुँच जाना चाहता था प्रियतम की बाँहों में। उन दोनों को इस पड़ाव का एहसास तब हुआ जब एक के नाम से दूसरे की धड़कन बेकाबू होने लगी। जब एक के बिना जीवन रेगिस्तान सा सूना और नीरस महसूस होने लगा। जब मन की सुमिरनी में आठों पहर बस एक ही नाम जपा जाने लगा। सात स्वर्ग अपवर्ग सुख जब सिमटकर एक चेहरे में आन बसे। रातें आँखों में कटने लगीं और दिन मिलन की बेचैन प्रतीक्षा में।

उस रोज अमराई जाने किसकी देह के ताप से धधक रही थी। कुसुमा की कनपटियाँ सुर्ख हो गई थीं। पूरे बदन में कैसी मीठी सी सनसनाहट हो रही थी जब महेसा ने कसकर उसका हाथ थाम लिया। उसकी शिराओं का समस्त लहू बहकर जैसे चेहरे पर इकट्ठा हो गया। वह रक्ताभ चेहरा महेसा के मन में बस गया।

कंधे पर पड़ा बस्ता संभालते हुए वह हाथ जरूर छुड़ा रही थी पर मन था कि महेसा के सीने से जा लिपटा था। देह थी कि किसी वशीकरण में घिरी आकर्षण और बंधनों से जूझ रही थी। सही और गलत के बीच छिड़ी जंग में सही हाथ से फिसल रहा था। दिमाग की चेतावनियों का स्वर मंद पड़ने लगा था। संस्कारों की डोर को थामने की कोशिश करते हुए उसने शिकायत करनी चाही।

"ये क्या कर रहा है महेसा! छोड़ न! काऊ ने देख लिया तो फ़ज़ीहत है जाएगी।" हाथ छुड़ाते हुए लरज गया था उस रोज कुसुमा का मीठा स्वर।

"होन दे फ़ज़ीहत। तू मेरी है तो हर फ़ज़ीहत झेल सकता हूँ मैं।" उसे खींचकर गले से लगाते हुए उसने

कहा तो जाने कैसे दस हाथियों का बल और हौसला उसकी फड़कती बाजुओं में समा गया था।

"इत्ता प्रेम करे है तू?"

"हाँ इत्ता।" उसे बाजुओं में कसते हुए उसके कानों को छूते अधरों ने प्रेम की शिनाख़्त की।

"कित्ता?"

"मेरे दिल की धड़कन सुन कुसुमा। जान जाएगी कि कित्ता प्रेम करता हूँ। तू कहे तो दुनिया तेरे कदमों में डाल दूँ बस तू मेरी रहना।"

"तो कह दे अपने अधीरे प्रेम से कि बाट देखना सीख ले, कुसुमा हाथ न आने की।" विहंसती उस मानिनी ने कहा जरूर पर प्रिय के दिल की धड़कनें गिनने से खुद को रोक न पायी और उसके एक ही झटके से जा लगी उसके सीने से।

सुनी थी उसने उसके सीने पर सिर रखकर दिल की सरगम पर महेसा के दिल का हाल केवल कुसुमा ने ही नहीं उसके पूरे गाँव ने जान लिया था और जो जान लिया वह किवदंती सा दसों दिशाओं में ऐसे फैला जैसे डाल पके अमरूद की सुगन्धि फैलती है।

उसके कंधे पर सिर टिकाए बैठी कुसुमा की देह की मदमाती सुगन्धि में अभी उसके मन का हरिण पूरा बौराया भी नहीं था कि वे चारों आन पहुँचे थे, गाँव के दबंगों के लड़के, जैसे स्कूल से ही उनका पीछा कर रहे हों। कुसुमा के साथ क्या हुआ वह कभी नहीं जान पाया पर उसके महीनों खाट पर कटे थे जब उसे मरा जान उसे रुई की तरह धुनने वाले वे गाँव के बाहर फेंक गए थे।

विधवा माँ उस अवशेष को समेटकर मामा के यहाँ आगरा चली आयी। जी गया था वह। माँ की कातर पुकार पर जाने विधाता का मन डोल गया था या फिर उसके जीवन में रौरव नरक का अग्नि ताप जीवन भर झेलना अभी बाकी था, ऐसा ताप जिसमें जीवनभर उसे झुलसने की सज़ा उसे भुगतनी थी। गाँव की छोरी से प्रेम करने की जुर्रत की सज़ा। देह की पीड़ा या ज़ख्मों की कहाँ सुध थी उसे, उसका तो तनमन विछोह की अग्नि में सुलग रहा था।

"टिकट।" बैठी हुई सवारी ने टोका तो जैसे वह एक युग पुरानी नींद से लौट आया जिसकी पीड़ा अब भी उसके चेहरे पर थी। कुसुमा के साथ बैठा, निस्तेज पीले पड़े चेहरे और कमजोर देह का स्वामी यह व्यक्ति उसका कौन था यह अनुमान लगाने में अधिक देर नहीं लगी महेसा को।

मन की गाड़ी को ब्रेक लग गया जैसे। वह टिकट बनाने वहीं जा खड़ा हुआ। उसके हावभाव और सहयात्रियों के साथ की इक्का दुक्का बातचीत से अंदाज लगाया कि तीर्थयात्रियों के एक जत्थे के साथ बीमार पति को धोक दिलाने लाई है। पता नहीं उस व्यक्ति की आयु अधिक है या बीमारी के चलते वह कृशकाय व्यक्ति समय से पहले ही बुढ़ा गया है। उसके चेहरे की सलवटों में घुलते देखा उसने कुसुमा के यौवन को और ग्लानि से भर उठा। जिसके लिये दुनिया से लड़ जाने का ऐलान करता था वह, उसके लिये कुछ न कर सका।

मन फिर अतीत की गलियों में जा पहुँचा समय के उस हिस्से में जब उसकी बर्बादी की दास्तान लिखी जा रही थी। कई महीने बाद जिस दिन उसके पैरों में देह को साथ लेने की ताक़त लौटी थी, जीवन की साध उसके हाथ से छूट चुकी थी। उसी के दिन-रात के सत्याग्रह पर किसी तरह वे लोग लौटकर गाँव आए तो पाया उसका छोटा सा घर खाक में बदल चुका था। जीव-जिनावर जाने कहाँ डिगर गए थे। गाँव में किसी को न जाने से कोई फर्क पड़ा था, न लौटने से। बाकी सब कुछ वैसा ही था, खेत, खलिहान, बगिया, पोखर, पगडंडियाँ, सब वही, बस वही नहीं थी जिसके बिना जीवन काँटे में बिंधा फूल हो गया था।

उसके निस्तेज चेहरे और बिरान जिंदगानी में जीवन के चिन्ह खोजती माँ भी एक दिन चली गई। भरी दुनिया में वह बिलकुल अकेला हो गया तो गाँव से फिर यहाँ आगरा चला आया। अकेला नहीं आया। उसके अभिशप्त जीवन में अभी भी अधूरे प्रेम की स्मृतियों को ढोने की ताक़त बची हुई थी सो उन्हें सदा के लिये अपनी मृतसम देह के साथ ढोकर आगरा ले आया।

एक गति से चलती आ रही बस कई जगह रुकते हुए यहाँ पहुँची थी। सामने एक ढाबा था। सड़क किनारे बने इस ढाबे पर चाय, पानी, नाश्ते, खाना आदि की पूरी व्यवस्था थी।

"बस थोड़ी देर यहीं रुकेगी। किसी भाई को पानी, टॉयलेट के लिये उतरना हो तो जा सकते हो। आगे बस नहीं रुकेगी।" घोषणा करते हुए महेसा की नज़र पीछे की सीट पर ही लगी थी। अर्जुन की नज़र चिड़िया की आँख के सिवा भला और कहाँ हो सकती थी।

साथ बैठे आदमी की ओढ़ी हुई चादर को ठीक करते हुए कुसुमा भी बोतल लेकर अगले गेट की ओर बढ़ चली। वह साइड में खड़ा था। उतरते ही उसने लपककर बोतल उसके हाथ से ले ली। कुसुमा अन्य महिलाओं की दिशा में ढाबे के पीछे की ओर बने टॉयलेट की ओर चल दी। जब वह लौटी तो बीच रास्ते में उसकी उम्मीद के अनुसार, महेसा पानी की बोतल लेकर एक साइड में खड़ा अधीरता से उसकी प्रतीक्षा करता मिला। दोनों पीछे की ओर बने कच्चे हिस्से में खड़े पेड़ों के झुरमुट के बीच जा खड़े हुए।

"कई साल बाद मैं जान पायी कि तुम जिंदा हो।"

गुज़रते वक़्त में तू को तुम तक पहुँचते एक कसक के साथ महसूस किया महेसा ने। उसके सीने में जैसे गरम लावे का कोई गोला सा उठा जो तेज़ी से मुँह की राह बाहर निकलने को तत्पर हो उठा।

"अपने दुर्भाग्य की सब कथा जानता हूँ कुसुमा। कितना अभागा हूँ, मैं तो तुझसे ये भी नहीं कह सकता कि मेरी बाट क्यों न देखी।"

"बाट?"

कुसुमा के पास कहने को बहुत कुछ था पर गला था कि रुंध गया था, नज़र थी कि धुंधला गई थी। कुछ क्षण गुज़िश्ता साल उन दोनों की आँखों से बह रहे थे जिसके साथ उनकी पीड़ा, शिकायतें, गिले, शिकवे भी बह निकले। उसने धीमे से कुसुमा का कमजोर सा हाथ अपने हाथों में ले लिया।

फीकी सी हँसी हँसते हुए उसने हाथ छुड़ा लिया। पहले की भाँति। आज भी उसके चेहरे पर उसी स्त्रीसुलभ लज्जा को कौंधते देख महेसा का दिल भावनाओं का बांध तोड़ने पर आमादा होने लगा। लगा सदियों लंबा वह फासला जैसे उसके गालों की लाली में विलीन हो रहा है। उसका दिल किया कुसुमा को अपनी बाहों में जकड़ ले पर उसका बढ़ता हाथ ठिठककर रह गया जब उसकी दृष्टि उसकी मांग के सिंदूर पर पड़ी। लगा जैसे एक बार फिर जवाकुसुम काँटों की बाड़ में घिर गया है।

"क्या सब कुछ बदल गया कुसुमा?"

कुसुमा अपने मौन की कैद में, चुपचाप डबडबाई आँखों से उसे देखते हुए एक छोटे से पत्थर से पेड़ पर निशान बनाती रही।

"मैं वही महेसा हूँ कुसुमा। मैं तो वहीं छूट गया हूँ, उसी मोड़ पर खड़ा हूँ तेरे इंतज़ार में। मेरे दिन रात आज भी तेरी बाट में कटते हैं। लौट चल मेरे साथ।"

उसने हाथ बढ़ाया पर उसके एकाकी हाथ को न हाथ नसीब हुआ, न साथ।

कुछ देर मौन रहकर कुसुमा ने अपने आँसुओं को पोंछ दिया। उसके चेहरे से उमड़ता पीड़ा का सागर अब एक स्थायी दृढ़ता पर जाकर स्थिर हो गया था।

"मुझे जाने दे महेसा। तेरे लिये कुछ नहीं बचा मेरे पास। एक देह है जो हर रात उसी अमराई में पहुँच जाती है, जिस पर हर रात चार प्रेत सवारी करते है, मेरा लहू पीकर भी उनकी प्यास नहीं बुझती। मुझे अधमरा छोड़कर वे चले जाते हैं कि अगली रात फिर लौट सकें। और एक आत्मा है जो मेरे अम्मा बाबू ने सप्तपदी के रोज गिरवी रख दी थी उस बीमार आदमी के पास जिसके साथ फेरे लेने के छह महीने बाद मैं माँ बनी। देह का संबंध जिससे जुड़ा है उसके सुख दुःख की साथी होना ही है।"

"हाँ बस ये आधा-अधूरा, टूटा-चटका मन बचा है इसे बचाकर रखा सौ तूफ़ानों से। ये कभी किसी का न हो सका। इस जनम के कर्ज यहीं चुक जाने दे। सब देह धरे के दण्ड हैं। भुगत लेने दे इस देह को। ये देह तो ऐसे ही मिट्टी हो जाएगी पर उस पार तुझे मिलूँगी अपने नए नकोरे मन के साथ। वहाँ मेरी बाट देखेगा न?" जमाने भर की पीड़ा और नेह एक साथ समेटती उन दो कजरारी आँखों ने उसकी आँखों में झाँककर कहा।

महेसा का समूचा अस्तित्व हाहाकार कर उठा। उसकी देह के पिंजरे में कैद उसकी आत्मा की चीत्कार कुसुमा ने अपनी रूह में जज़्ब की और बिना पीछे देखे बस की ओर बढ़ गई।

मेला अपने उठान पर है। चिनप्पा का कोड़ा आज फिर बरस रहा है। बरस रहा है, बरसे जा रहा है पर रुकता नहीं। चिनप्पा हतप्रभ सा उसे देख रहा है, सड़क पर भीड़ जमा है, मेले घूमने आए लोगों के लिये ये अचंभा ही सही किंतु लहूलुहान हो चुका है महेसा। रात के अँधेरे में नहीं, पर भरी सड़क पर वो भी सही-संझा। उघड़ रही है उसकी पूरी देह, कतरा कतरा बह रहा है लहू, बस प्राण ही नहीं निकलते। प्राण क्यों नहीं निकलते? ●

बाबुषा कोहली
मो. नं.: 9881197686,
ईमेलः baabusha@gmail.com

१. जीवन के शिल्प में

कविता,
अपने सौंदर्य के लिए
थोड़ा छद्म संभव कर लेती है-
बिना हिचकिचाहट.

एक सच्चे जीवन की उपमा,
एक सच्चा जीवन ही हो सकता है.

कविता आग का फूल है; जीवन फूल की आग.
कविता नदियों का कोरस है; जीवन पानी का
एकल आलाप.

सरल है कविता की कठिन बनावट को अर्जित करना
जीवन की सरल बनावट कठिन है

कोई आता है अब मेरे यहाँ कविता से मिलने
कहती हूँ-
बैठो। फूल की आँच चखो
पानी पियो

कविता के शिल्प की नहीं,
मुझसे जीवन के शिल्प की बात करो

२. पृथ्वी की दो करवटों के मध्य

एक प्रश्न में
रहती हैं दो जिज्ञासाएँ सदा
प्रकट और छिपी
तुम देख लेना

उत्तर मिलता है
भाषा की देह और अ-देह के
ऐन मध्य में धुँधला-सा

तुम
उत्तर का धुँधलका खुरच लेना
दृष्टि के कोमल पैने से

एकदम से नहीं उग पड़ता सूर्य
किसी मुर्गे की बाँग सुन
रात और दिन के मध्य में है
जाग वह
सुनहरी
पृथ्वी की दो करवटों के मध्य
पूर्व में है, पूर्व से है

उत्तर है एक
तुम जाँच लेना हर प्रश्न
अच्छी तरह झाड़-पोंछ लेना
वे दो हैं सदा

जैसे दो आँखें मिलकर देखती हैं
दृश्य एक

३. लौ

तुम दीया पकड़ सकते हो
लौ नहीं-
लौ पकड़ती है तुम्हें,
दीया नहीं !

४. उत्थान

ज्यों कोई ग्वाल ब्रज के लोगों को विपदा से बचाने
पहाड़ उठाता है
मालिन हौले-हौले उठाती है झरे हुए फूल
पंद्रह बरस की छोकरी उठाती है पलकों
पर अबोध स्वप्न

कोई मासूम बच्चा सिर पर आसमान उठाता है
पिता हथेली पर उठाते हैं नाज़
कुमार गंधर्व हाथ को उठा कर सुर उठाते हैं
वायु उठाती है अग्नि की लौ

गूँगे समय के सामने बाग़ी आवाज़ उठाता हैं
महाबाग़ी पर्वतों की चोटी तक
उठा लेता मौन

प्रेमी अपनी स्त्री के गर्भ पर हाथ रख
सौगंध उठाता है

उठो
तुम भी उठो
शहर की सबसे ऊँची मस्जिद की अज़ान पर उठो
प्रिय के नाम को कंठ पर उठाओ
नमाज़ हो जाओ

मध्यरात्रि
उठो सिद्धार्थ की तरह
तथागत की तरह गोपा को उठाओ

चैत की अमावस से जूझने
उठाती हूँ मैं तुम्हारा प्रेम
मशाल की तरह

तुम मुझे जीवन के सबसे बड़े
ज़ोख़िम की तरह उठाओ ●

अनुराधा सिंह

मो. नं.: 9930096966,
anuradhadei@yahoo.co.in

१. फ़ोटोग्राफर

(१)

याद रखना कि चित्र में उपस्थित लोगों से
अधिक प्रेम
कैमरे के पीछे खड़ा व्यक्ति करता है
तुमने प्यार में चाहा होगा कि
समय रुक जाये
वह कारोबार में भी यही चाहता है
उसे ही अधिक सालता है
एक सुंदर दृश्य के व्यतीत होने का खेद
वही रोक लेना चाहता है
दुनिया की बीतती आयु को
किसी अधेड़ अभिनेता की तरह

वही है जिसमें अहम नहीं अपनी उपस्थिति का
सहलाता हुआ महानताओं को सुझाता है
उन्हें और महान दिखने की भंगिमाएँ
वही एक बहुत छोटे व्यक्ति से भी कह सकता है
सौभाग्यवश
आपकी कुछ तस्वीरें मेरे पास है
अभी भेजता हूँ।

(२)

ईश्वर कैमरा के पीछे से निर्देश देता है
'मुस्कुराओ'
फिर हठ पर उतर आता है
मुँह लटकाए क्यों खड़े हो, हँस भी दो ज़रा!
तुम चमका देते हो बत्तीसी
पीठ पर टीसती रहती हैं खराशें

वह तो हमेशा से उंगलियाँ फिराता था
तुम्हारी भूखी अंतड़ियों पर
और तुम गुदगुदी से बेहाल हो जाते थे
उसने मदद की बजाय
यह मुहावरा दिया कि

ईश्वर जो करता है अच्छे के लिए करता है
ईश्वर एक फोटोग्राफर सा चुस्त प्रोफेशनल
दक्ष कारोबारी
तुम्हारे सुख दुःख से असम्पृक्त
उसे बस एक अदद मुस्कुराती फोटो चाहिए
तुम्हारी

२. अरक्षणीय

मैं वह रेखा
जो तुम्हारी ज्यामिति से बाहर निकल गयी है
तुम्हारी खगोल विद्या से बाहर का तारा हूँ
मैंने कमरे के भीतर आना चाहा था बस
तुम्हारी शाला की विद्यार्थी नहीं मैं

कैसे अटूँ तुम्हारे प्रमेय के किसी स्टेप में
जबकि मेरा भी एक हिसाब है
जो पराजयवश नहीं हल किया मैंने
यही दो और दो को पाँच कहने से मना करता है
गणित मेरा प्रिय विषय कभी नहीं रहा
मैं अपनी गढ़न में पृथ्वी की मूल निवासी
लगातार भी सिखाया जाये
कि क्या कहना कितना छिपा लेना है
सीख नहीं पाऊँगी
झूठ लिखते वक़्त भी
सच बोल सकने का साहस होना चाहिए
मिट्टी को उग कर, पानी को डूब कर देखना
अर्वाचीन है
कुछ ऊबड़ खाबड़ लोग ही
दुनिया को रहने लायक समतल बना रहे हैं.

कविता का स्टीरियोटाइप तय करने की
तुम्हारी क़वायद बेकार गयी
मेरा बसंत तो एक उजाड़ की बाहों में खिलता है

डरती हूँ उस आदमी से जो कहेगा
जाओ, एक औरत से क्या लड़ूँ
जान जाती हूँ, अब वह मुझसे पुरुष की तरह लड़ेगा

आखिरश, तुम्हारे गिलास की तली में बच रहा नशा नहीं
विक्टोरिया प्रपात से छिटक गयी बूँद हूँ
उग रही हूँ हरे रंग में जाम्बिया के जंगल में
नहीं डर रही पानी की विराट सत्ता से .

३. मुझ पर भरोसा मत करना

जैसे मोटे अनाज बस पेट भरते हैं
खुरदुरे सच भी जीना कुछ आसान नहीं करते
तो मैं अपने दुःख से झुलसे चेहरे को
ग़र्म मौसम की कारस्तानी बता देती हूँ
अचानक तुम याद आ जाओ तो कह देती हूँ
खाने में अधिक तीखा बर्दाश्त नहीं होता इन आँखों को

भरोसेमंद कहा जाना
उघड़ी देह को ढँक लेने जैसी आदिम इच्छा है
फिर भी मैं कहती मिलूँगी
मुझ पर भरोसा मत करना

मैं एक महामारी से लड़ने के लिए
धरती के अलग- अलग कोनों
में बैठे तीन दोस्तों से
एक ही तारीख पर मिलने का वायदा कर लेती हूँ
रास्ते सब बंद हैं जबकि अनंत काल तक
जीने का हठ मिलने में नहीं, मिलने की उस बात में है
ताबीज की तरह बँधी है जो हमारे निर्जन दिनों की बाँह पर
मैंने अपनी हर क़ैद इन्हीं दिवास्वप्नों की
पीठ से टिककर गुज़ारी है
तुमने मीर से कहना सीख लिया है
इश्क़ एक भारी पत्थर है
मुझे देखो कैसे उम्मीदों का बोझ
अब तक उठाए खड़ी हूँ
और उम्मीदें भी ग़ैरमुस्तक़िल
कि एक दिन बस चूमना चाहती थी तुम्हारा माथा
एक ही प्यार है मेरे पास
उसे भी नश्वरताओं को जिलाये रखने में
ख़र्च कर रही हूँ

मैं उन्हीं औरतों में शुमार हूँ
जो हर जंग में उतरने से पहले
खुद से एक नींद का वायदा करती हैं
और उसी वायदे के सहारे
तमाम रात से बेरौशन दिन और
दिन सी बेआराम रातें काट लेती हैं

मैंने खुद से यह वायदा किया है
एक दिन तुम्हारा फोन आयेगा
एक दिन तुम फिर कहोगे
कहाँ रहती हो फोन लगता ही नहीं तुम्हारा
कभी फोन लगता ही नहीं तुम्हारा
मुझ पर भरोसा मत करना, मैं
ऐसे कई जीवन
सिर्फ़ तुम्हारी आवाज़ सुनने के लिए
अपना नंबर नहीं बदलूँगी। ●

ज्योति शोभा

मो. नं.: 8420742372,
ईमेल: jyotimodi1977@gmail.com

१. अटका कर रखना पड़ता है

अटका कर रखना पड़ता है

बाहर चले जाते हैं सेवक समाज से
भगवान मंदिर से
कवि कविता से

और कुछ नहीं तो
अस्थियों के संकेत तक चले जाते हैं
हड़प्पा की शिलाओं से

ससम्मान अटका कर रखना पड़ता है
साँकल की भनक दिए बगैर

मेरी स्मृति चली गयी है बाहर
देह अपनी नहीं रही
नगर धर्मशाला सा लगता है
लाख कहा था अपनी गली के प्रहरी से
अटका कर रखना मुझे

बाहर चली जाती है भाषा और संस्कृति
कुटुंब छोड़ के
बाहर चली जाती है छाया
जैसे मेघ हो कलकत्ता में
बरसे हुए।

२. पत्तों के चेहरे लोगों के चेहरे हैं

बाहर कुछ नहीं बदला
हवा हरी हो कर चुपचाप डोलती है
गिरजाघरों के बंद अहाते में

पत्तों के चेहरे लोगों के चेहरे हैं
पीले पड़ते हैं गिरते हैं

बस बारिश वही रहती है
बेहद खूबसूरत
कि पता नहीं चलता
पहले वाले चेहरे में क्या था जो अब नहीं है।

३. अति आसक्ति की दशा में ही ऐसा होता होगा

अति आसक्ति की दशा में ही ऐसा होता होगा
कि जिस कवि के प्राण मर्दन का जी करे
पुनः उसी को चूम लेने को अधर उद्धत हो उठे

जितना संयम नहीं कमाया एकांतवास में
उतनी तो प्रीति कमा ली कवि
तुम्हारा क्या गया
तब भी अनेकानेक छंद रच कर तुम
निर्विघ्न तैर रहे थे मन्दाकिनी में

मेरे निकट इतना ताप न आया कि होम हो जाती
इतना जल न आया कि समाधी ले लेती

मैं अभागी तो अब भी चिट्ठी लिखती हूँ
अब भी मुख भर बिरखा में डूबी हूँ।

४. बीतने में जितना चमत्कार हो सकता है उतना हो चुका है

दोपहर हो गयी है
दिन आधा बीत गया है और अब तक
बाकी है जीवन
जिस पानी में कुछ समय पहले प्यास थी
वहाँ निरर्थक छाया है अभी

लाल पड़ चुके आम में जितना सौरभ नहीं
उतना देह की स्वच्छ माटी में है

हंसने की जगह पर गीत है
तकिये की जगह पर किताबें
पीड़ा की जगह पर दोहराव रह गया है

निकल कर जाने के लिए दवा की दुकानें हैं
देखने को सफेद नभ है
पहले दिन के सूर्य पर फिर सूर्य निकलता है जिसमें
ओढ़ने को अपनी ही बाहें हैं
खोजने को नौकाएँ हैं जिनकी पाल पर
उतर आयी है जेठ की उमसी साँझ
लौटने को खिड़कियाँ हैं
जिन पर रहस्य की तरह गिरती है बिरखा

बीतने में जितना चमत्कार हो सकता है
उतना हो चुका है
सोच रही हूँ
कोई इतना धीमा प्रेम कैसे करता है
कि मृत्यु हो जाये और पता भी न चले।

५. मिलने की जगह नींद में है

वहाँ जीवित भी आया जा सकता है
मरने के बाद भी
वहाँ माटी की देह है, साँझ की मद्धम
आभा है, उन्मुक्त हुगली का पुल है
जिसमें हवा भारी है
दृष्टि हलकी
जिसमें दिख सकता है तुम्हारा चेहरा और
उस पर पड़ी ओस की बूँद
विद्युत की तरह खींची शिराएं

मिलने की जगह शांत है
वहाँ न सड़क बन रही है न कमरे
उँगलियाँ जागती हैं, मन सोता है
उदासी खड़ी रहती है गरजते बादलों के नीचे
मैं सुनती जाती हूँ
तुम चुप के रास्ते आने वाली बरसात से भीगते हो

कभी इतनी गहरी नहीं होती नींद
कि तुम्हारे थैले की तलाशी ले
वहाँ तैर कर भी आया जा सकता है
बह कर भी
बचा कर लाया जा सकता है धर्म, भाषा, सम्मोहन
उदार संवाद के बीच सबकी भूमिका होती है

चलचित्र की तरह मिलने की जगह
अंधकारमय होती जाती है
सहस्रों गलियों की तरह सूनी
मसानों की तरह गंधमय
मंडियों की तरह बेली और आमों से लदी
दर्पणों की दुकानों की तरह धूल से अटी
मैं फिर भी देखती जाती हूँ
तुम निदाघ तक पहुंचे हो
क्वार दूर है जिसमें तुम्हारी श्वास से मेरे हाथ तापने की सरलता होती है। ●

श्रुति कुशवाहा
मो. नं.: 98933401727,
shrutyindia@gmail.com

१. अनभिज्ञता

मुझे नहीं पता चींटियों की प्यास के बारे में
नहीं जानती तितलियों की उड़ान की गति
मुझे कोई अंदाज़ा नहीं
नदियों का धर्म क्या है
क्या है पहाड़ों का वर्ण
मेरी जानकारी सीमित है
अनभिज्ञता अपार
लेकिन मैंने जानी
भूख और पीड़ा की भाषा
इस भाषा ने मुझे निर्मल बनाया
संवेदना दी

इसी भाषा में मैंने
चींटी, तितली, नदी और पहाड़ों से बात की है

२. मर्ज़ी

मैं अपनी मर्ज़ी से तन्हां हुई
वो अपनी मर्ज़ी से बेवफ़ा
एक ने अपनी मर्ज़ी से उठाया पत्थर
दूसरे ने मर्ज़ी से लहराई बंदूक
इन दिनों मर्ज़ियों का शासन है
मेरा भोजन, मेरे कपड़े
मेरी आस्था पर भारी है उनकी मर्ज़ी
वो अपनी मर्ज़ी से कभी भी
मुझे घुसपैठियाँ साबित कर सकते हैं
मैं अपनी मर्ज़ी से केवल
उनका समर्थन कर सकती हूँ
यूँ मज़े-मज़े में चल रहा है मर्ज़ी का खेल
सारे नियम उनके सारी चालें उनकी
हम अपनी मर्ज़ी से प्यादे बने हुए हैं
हमने अपनी मर्ज़ी से मुँह सिल रखा है
यक़ीन मानिये
यहाँ कोई ज़ोर ज़बरदस्ती नहीं
सब अपनी मर्ज़ी के मालिक हैं
एक दिन हम अपनी मर्ज़ी से उनके हाथों मारे जाएंगे

३. भाषा

इन दिनों रास्ता भटक रही है भाषा
अब विरोध कहने पर विद्रोह सुनाई देता है
असहमति कहने पर अराजक
लोकतंत्र कहते ही होने लगती जोड़-तोड़
धर्म कहो सुनाई देता भय
अब तो सफ़ेद भी सफ़ेद नहीं रहा

और लाल भी हो गया नीला
यहां तक कि अंधेरे समय को बताया जा रहा है सुनहरा
ऐसे भ्रमित समय में
मैं शब्दों को उनके सही अर्थ में पिरोकर देखना चाहती हूँ
सोचती हूँ शहद हर्फ़ उठाकर उड़ेल दूँ शहद की बोतल में
तुम्हारे नमकीन चेहरे पर मल दूँ नमक का नाम
आँसू को चखा दूँ खारा समंदर
रोशनी को रख दूँ मोमबत्ती की लौ पर
मैं इंसाफ बाँट आना चाहती हूँ गली के आखिरी छोर तक
और बचपन लिखने की बजाय
बिखेर देना चाहती हूँ अखबार बेचते बच्चों के बीच
सपने टूटने से पहले
सजा देना चाहती हूँ आँखों में
और प्यार को इश्तिहारों से उठा
मन में महफ़ूज़ रखना चाहती हूँ
मैं भटकी हुई भाषा को उसके घर पहुँचाना चाहती हूँ...

४. प्रेम से बाहर

प्रेम से बाहर
जब मिलेंगे हम
एक खुला आसमान होगा
खूब ताज़ा हवा
रंग-बिरंगे फूल
और सारे ही बेअसर
तब कोई रंग नहीं होगा मन पर
कोई खुशबू नहीं महकेगी हमारे बीच
प्रेम से बाहर जब मिलेंगे हम
पहली मुलाक़ात से भी ज़्यादा अजनबी
कैसे हैं क्या चल रहा है
रस्मन सवालों के साथ
सारे विगत पर धूल उड़ाते

आँखों में भर जाएगी गर्द
जहाँ खामोशी भी बातें करती थी
वहाँ फिज़ूल झड़ेंगे लफ़्ज़
सारी उदासियों की तौहीन करते
बेमतलब ही मुस्कुराएँगे
प्रेम से बाहर
जब मिलेंगे हम
क्या स्मृतियों से भी बाहर होंगे...●

सपना भट्ट

मो. नं.: 8006559588,
ईमेल: cbhatt7@gmail.com

१. मनुष्य की संज्ञा

हम पृथ्वी की मादा संतानें
अपने अस्तित्व की चेतना का उजाला पहने
एक दिन आधी आबादी के समूचे दुःख
लिखेंगी
लिखेंगी कि
ऊसर कामनाओं वाली इस देह में
हमें केवल कोख भर नहीं मिली
कि आने वाली नस्लें बची रहें,
बना रहे नामलेवा कोई मृत्यु उपरांत भी
कोख के साथ
हमें मिली असंख्य पीड़ाएँ
घनघोर निराशा और आधी उम्र को खा जाने
वाले स्नायु तंत्र के रोग भी
हम कह देंगी एक दिन
पुजारियों और धर्म के व्याख्याताओं से
कि हमारे लिए ममतामयी और त्याग की मूर्ति
वाले
पदों और उपमाओं के प्रयोग बन्द करें
कि इन घोर मान्यताओं का प्रहसन
अब हममें प्रसन्नता नहीं बल्कि खीज पैदा
करता है
एक दिन हम सब औरतें
महानता के इन खोखले अध्यायों से कूच कर
जाएंगी
हम स्त्रियों ने मनभावन कलाएँ सीखी
लोक व्यवहार के सलीक़े
और विपरीत परिस्थितियों में भी निर्वाह के
तरीके सीखे
चादरें काढ़ी रंगीले फूलों वाली
घर सजाया, कोने-कोने को चमकाया
फिर भी अपने लिए खुद का एक कोना कहाँ
बना पाई
हम विदाई के वक़्त माँ की दी हुई
स्त्री सुबोधिनी के दीन आचार-व्यवहार
और कठिन कर्तव्यों को धता बता कर
अपने संकल्पों से अपने अधिकारों का छप्पर
खुद छाएंगी
हम अपनी चेतना के काष्ठ से
झूठी लोक लाज और मर्यादा के भय की
लाठी नहीं
सुंदर पढ़ने की मेजें ढालेंगी
हाड़ मांस से बनी यह काया
किसी इस्पाती धातु में ढालकर हम एक दिन
असमानता और अन्याय के विरुद्ध एक साथ
उठ खड़ी होंगी
क्या यह माँग बहुत बड़ी है कि
हमारी देह और जीवन पर
हमारी इच्छाओं के हस्ताक्षर हों?
देखना!
हम सब औरतें एक दिन
देवालयों में देवियों की उपाधि को ठुकराकर
युगों से पथराई प्रतिमाओं से बाहर निकल
आएंगी
हम देवत्व की नहीं मनुष्य की संज्ञा के लिए
लड़ेंगी।

२. चाल-चलन

उन्हें मेरे तने कँधे
और सीधी रीढ़ के पीछे के संघर्ष नहीं दिखते
मेरा स्वावलंबी होकर जीना
और अपने श्रम और सामर्थ्य से
कमा कर खाना नहीं दिखता
मेरे पैरों से बंधे
मर्यादाओं, नैतिकताओं के मन-मन भर के
पत्थर नहीं दिखते
ग़ैर बराबरी के
नित नए अवरोध नहीं दिखते
किसी विवश नटनी की तरह
समझौतों की कमज़ोर रस्सी पर मेरा संतुलन
नहीं दिखता
भीतर बाहर की
स्वतंत्रता और अधिकारों में
असंख्य विघ्न बाधाएँ नहीं दिखती
पृथ्वी पर बराबरी के हक़ के लिए
लड़ती औरत का साहस नहीं दिखता
हज़ार कठिनाइयों के बावजूद
स्वाभिमान से ज़िंदा रहने का मेरा हठ नहीं
दिखता
उन्हें बस अन्याय का विरोध करती
और अपने हक़ के लिए आवाज़ उठाती
एक औरत का चाल-चलन दिखता है
वह भी 'ख़राब' विशेषण के साथ

३. बंदिनी

प्रार्थना सभाओं,
सामाजिक सभागारों और
न्याय पीठिकाओं में अलग-अलग ईश्वर
तैनात थे
हम सबके सम्मुख बारी-बारी
आँख मूँद कर दोहराती थीं एक ही प्रार्थना
'इतनी शक्ति हमें देना दाता'
और प्रार्थना खत्म होते ही अशक्त होकर ढह
जाती थीं
हम हल्की फब्तियों और
सस्ते जुमलों के बीच निबाह करना सीख रही
थीं
कम खाकर अधिक सहना सीख रही थीं
हम कविताओं की डायरी में
हिसाब लिखना सीख रही थीं
साड़ी और दुप्पट्टे संभालते दौड़ती थीं
घर से दफ़्तर, दफ़्तर से घर
घड़ी हमारे हाथ पर नहीं धमनियों में धड़कती
थी
कभी गर्भ में भ्रूण तो कभी
भरी छातियों में दुधमूहों की भूख सहेजे
हम बसों ट्रेनों में और पैदल भाग रही थीं
हम काम पर वक़्त से पहले पहुँचती थीं
घर के अवैतनिक काम के लिए
ज़रा देर से छूटती थीं
'हमारा काम पर जाना ज़रूरत नहीं
शौक़ हैं'
जैसी झूठी उक्तियाँ पीछा नहीं छोड़ती थीं
भीतर बाहर की जिम्मेदारियों के
अलग अलग खाँचे थे
हमारी भूमिका में हमारी प्राथमिकताएँ
फिल्म के सेन्सर्ड और
मिसफिट हिस्से की तरह काट दी जाती थी
हमारे दमन का प्राचीन और अमोघ अस्त्र
हमारी ही माँएँ और सासें जानती थीं
हमारे अन्तस् को बेधने का अर्वाचीन उपाय
हमारी प्रजाति ही अगली पीढ़ी के वर्चस्व को
सौंपती थीं
हम ही समाज को अपनी पराजय के मंत्र
देती थीं
हम अपनी ही झूठी अस्मिता
और मर्यादा की परछाई में बंदिनी स्त्रियाँ थीं
हमारी मुक्ति की चाबी
दूर खड़ी उस पौरुषयुक्त शक्ति के पास थी
जिसने हमारी परछाई को अपने खोखले
पुंसत्व और
ग़ैरबराबरी के दोमुंहे खंडित संस्कारों से बाँध
रखा था। ●

अनुपम सिंह
मो. नं.: 9718427689,
anupamdu131@gmail.com

१. स्वप्न चुम्बन

इस तरह क्यों फिरते हो मन के भीतर
क्या मेरी देह से गहन परिचय है तुम्हारा
या जानती हूँ मैं तुम्हारी आत्मा के जल को
क्या स्मृति की उस पहाड़ी नदी से तैरकर
आये हो
तलहटी में जिसकी चाँदी की आभा वाली
मछलियाँ
कुलबुलाती हैं

हो कौन तुम!
ओट में निकल
मन के जोहड़ में
मतवाले हाथी-सा दौड़ लगाते
पेड़ हलसातेटहनियाँ, पत्ते
पुण्य के लिए संचित फूल-फल उचारते
वन का सारा जल मैला करते
मैं नही स्थित-प्रज्ञ
दुहराती हूँ वही प्रश्न
आखिर! हो कौन तुम

क्या मेरी ही अतृप्त कामना के बालक हो
जैसा कहते हैं विश्लेषक
या बँधन की आस में गृहस्थ आगंतुक हो
या फिर मुक्ति की खोज में भटकते मेरे
सहयात्री
उड़ाते संन्यासी नियमों की सब धज्जियाँ
तोड़ते सभी आईने
एक नहीं, अनेक हो चूमते होंठ मेरे

एक दिन अपने इस खेल से निकल
सामने आओ मेरी सर्पीली कामना
गृहस्थ, वानप्रस्थी या संन्यासी
जो भी कहते हो स्वयं को तुम
मुझे भी तुम्हें चूमने का
वही सजल विश्वास चाहिए
फिर चाहे वह तृप्ति हो
बंधन हो
या फिर मुक्ति हो।

२. घाटी की चुप्पी

मैं नींद की लालसा में घूम रही हूँ
नींद तितली हो गई है।
भूरे पंख के बीच
नीले चाँद की दो आँखें!
तितली हुई नींद के पीछे भागते
अचानक स्तंभित हुई घाटी के किनारे।
मैं अपना ही अँधेरा देखने उतरी थी
घाटी में।

हवाएँ और पत्तियाँ
साँसे और धड़कने
सब हो गयी थी अवाक।
जैसे ही टूटा वह अवाकपन
आहट से जाग पड़ीं
अपनी ही कामना से दूर छिटकी औरतें।
मुझे देख फूट पड़ीं रुलाइयाँ
उनके रोने की चुप आवाजें
घाटी के बाहर तक सुनाई पड़ रही हैं।
अपना अँधेरा देखने के साथ ही
भंग किया घाटी की चुप्पी मैंने।

३. अव्यक्त ईश्वर-सी मुसीबतें

इतनी अनिश्चिताओं के बाद भी
रेलों का समय तय है
अकाल के बाद भी
तय है बारिश का आना
लंबे अकेलेपन के बाद भी
है साथ का एक अँकुरित पल
थककर सूरज सोने जाता है
तब पहरा देता है चाँद
तमाम विरुद्धों के बाद भी
इतना तो सामंजस्य है ही
पर मुसीबतों का
ना कोई मुफीद समय है
ना कोई सामंजस्य

घर में रोज के राशन के साथ आतीं हैं
एक-एक निवाले में अटकतीं हैं
चिपकी रहतीं हैं एक-एक सिक्कों से

वे आती हैं और खेतों का ओद झन्न हो
जाता है
निराई के समय में विवाई-सी फूटतीं हैं
पाँव में
नाखूनों में जगह बना लेती हैं मिट्टी की तरह
जब ढोना होता है बोझा
पिता के दमे की तरह आती हैं
उखड़ जाता रहा-सहा दम भी

वे उस समय आती हैं
जब चुकाना होता है कर्ज़
पड़ोसी की टोका-टाकी से
कभी भी शर्मिंदा नहीं होती वें
इसलिए उधार चुकता करने के वक्त ही
आती हैं
वे आँधी की तरह आती हैं
उड़ा ले जाती हैं घर का टीन-टप्पर
आखिरी थूनी गिराकर ही दम लेती हैं

जब है पूरे शहर में कर्फ्यू
पुलिस की आँख से बच कर आयी हैं
आकर ठहर गयी हैं अनचाहे गर्भ की तरह
कण-कण में व्याप्त
अव्यक्त ईश्वर-सी हैं ये मुसीबतें

४. तुम्हारी साड़ी अम्मा!

तुम्हारी साड़ी ऐसे पहनना चाहती हूँ
कि दिखे मेरी अति साधारणता
अपने जानवरों का
सानी-पानी करते हुए दिखती थीं तुम जैसे
नल के पास उग आयी घास-सी नगण्य

गिलहरियाँ खड़ी होतीं पंजों पर
कुतरतीं घास को
अनहोनी भाँप
छुप जातीं घास की हरियाली में

तुम्हारी साड़ी पहन अम्मा
पढ़ना चाहती हूँ एक अ-साधारण कविता
जिसमें दिखे तुम्हारा जिद्दीपन
हमारे जीवन की मिट्टी
अग्नि तत्व जैसे

कितने दिन छुपी रहीं नदी की तली में!
कितने दिन पेड़ की छाया में पड़ी रहीं
चुपचाप!

कितने दिन का उपवास था
कितने दिन का निर्वासित
साड़ी में ऐसे दिखना चाहती हूँ
जैसे तुम्हारा लगाया आम का पेड़ अम्मा
उसकी साँवलाई पत्तियाँ जैसे। ●

रूपम मिश्र

मो. नं.: 7459843811,
rupammishra123@gmail.com

१. मेरे वे अपने

उस दिन कितने लोगों से मिली
कितनी बातें, कितनी बहसें
कितना कहा, कितना सुना
पर याद आते रहे थे बस वो पल जितनी देर के लिए तुमसे मिली
विदा की बेला में हथेली पे धरे गये ओठ देह में लहर की तरह उठते रहे
कदम बस तुम्हारी तरफ उठना चाहते थे
और मैं उन्हें धकेलती उस दिन जाने
कहाँ-कहाँ भटकती रही
वे सारी जगहें मेरी नहीं थीं
मेरी जगह मुझसे छूट गयी थी
तो बचे हुए रेह से जीवन में क्या रंग भरती
हवा में जैसे राख ही राख उड़ रही थी
जिसकी गर्द से मेरी सांसे भरती जा रही थीं
वहाँ वे भी थे जिनसे मैं अपना दुःख कह सकती थी
लेकिन संकोच हुआ साथी वहाँ अपना दुख कहते
जहाँ जीवन का चयन ही दुःख था
और वे हँसते-गाते उन्हें गले लगाते चले जा रहे थे
जहाँ सुख के कितने दरवाजे अपने ही हाथों से बंद किये गए थे
जहाँ इस साल जानदारी में कितने उत्सव, ब्याह पड़ेंगे का हिसाब नहीं
कितने अन्याय हुए
कितने बेघर हुए
और कितने निर्दोष जेल गये के दंश को आत्मा में सहेजा जा रहा था फिर भी वियोग की मारी मेरी आत्मा कुछ न कुछ उनसे कह ही लेती
पर वे मेरे अपने बंजर नहीं थे कि मैं दुःख के बीज फेंकती वहाँ और कोई डाभ न उपजती
पर कहाँ उगाते वो मेरे इस गुलाबी दुःख को
जहाँ की धरती पर शहतूती सपने बोये जाते हैं
और फ़सल काटने का इंतजार वहाँ नहीं होता
बस पीढ़ियों के हवाले दुःखों की सूची करके अपनी राह चलते जाना होता है।

२. बार-बार मरने की लत

तुम आये भी न थे
और मैं एकदिन तुम्हारे जाने का शोक मनाने लगी
पीड़ा जाने कहाँ से उठी थी आवेग इतना कि फफक कर रो पड़ी
जैसे विदा का पहर हो
और तुम अभी-अभी उठ कर चले गये
मैं हाथ थामकर तुम्हें रोक न पायी
जबकि यथार्थ में तुम कभी इस तरफ आये ही नहीं हो
तब से मैं सोच रही हूँ क्या तुम आये थे
या मैंने कभी मन के सारे सहन झरोखों को खोलकर नहीं देखा
हो सकता है किसी महकी-बहकी शाम में
तुम आ गये थे यहाँ
और मैं उस साँझ भी कोई दिया ढूँढ रही थी
छूट जाने की उस खला में निढाल पड़ी रही
दिन चढ़े तक
दुःख की ऐसी नींद कि जैसे जान ही न हो देह में
तभी एक अकतीत सा सवाल चित में उठा
तुम आये ही कब थे
जो मैं तुम्हारे जाने का शोक मना रही हूँ
कोई बाकी रह गयी अहक थी वो जो आत्मा में
एक दिन सीझ गयी थी
वो जीवन में एक बार का मरना क्या कम था
जो बार-बार मरने की लत लग गयी है।

३. जब हम मिले

कितनी भीड़ और कितना जीवन था वहाँ
चलता -भागता और हम दोनो थे वहाँ
एकदूसरे को देख लेने को बेचैन
जैसे शहर ने साजिशन मनुष्य और वाहन मिलाकर भीड़ का अरण्य खड़ा करना चाहा हो
और हम गालिबन उसे पर्वोत्सव मान रहे हों
चीखते वाहन छोटे-बड़े और बहुत बड़े
मनुष्यों का कद लगभग था और उनके कदम वाहन पहन लेना चाहते थे
जैसे सड़क पर तुम्हारे सिवा कोई पैदल चलता ही नहीं
हर आदमी हलकान सा कहीं चला जा रहा है
जाने क्या सोच रहे हैं वो ,जाने कहाँ जाना चाहते हैं
एक काठपन हर चेहरे पर बैठा है

जैसे शहर में तुम्हारे और अमलतास के सिवा कोई हँसता ही नहीं
उस दिन शहर की नदी पर स्नान पर्व था
मेले की भीड़ में मनुष्य, उनकी दुकानें व उनके देवताओं का अधिपत्य था
जैसे धरती एकदिन दोनों से पट जायेगी
पर मेरे मन में तो माघ में ही बसंत उतरा था तो मुझे हर ओर हँसते हुए तुम्हीं दिख रहे थे
जैसे मुझपर हँसने के सिवा तुम्हें कोई काम नहीं

सई के ऊबड़-खाबड़ कछार पर हेराई मेरी मेरी हँसी को तब मिल गया था अपना सहिया
जब भीड़ में अहटो से उतरते ही तुम्हें चारों तरफ टुकुर-टुकुर देखती खोज रही थी
तभी संसार की क्रूरताओं से बची रह गयी शहद सी गाढ़ी तुम्हारी हँसी होंठो पर ढरकी
और तुम एकदम सामने दिखे
उसी पल शर्म से पलकें झपकी तो वो सारी हँसी मेरी आँखों में भर गयी है
और अब जब तुमसे दूर रहते-रहते उदासी से भरती जा रही हूँ तो वही हँसी याद करके हँस पड़ती हूँ
जैसे मुस्कराहटों का जखीरा थी उस पल की तुम्हारी हँसी
तुम्हारी हँसी से लजायी उस भीड़ में चेहरा छुपाने के लिए मुझे बस तुम्हारा कंधा दिखा पर वो मुझसे ऊँचा था सो मैंने सीने पर ही माथा टिका लिया
भीड़ के सारे चेहरे अपनी सारी जल्दबाजी छोड़ हमारी ओर देखने लगे जैसे इससे हैरतअंगेज कोई चीज उन्हें पहले कभी न दिखी हो

भीड़ की आँखें उस पल भर के दृश्य पर ऐसे अचकी जैसे तानाशाह राज्य में अचानक दो गुलामों ने आजादी का परचम लहरा दिया हो उन्हें यकीन नहीं हो रहा इस दृश्य पर कि इतने हॉर्न इतना शोर इतने तरह के भय, भीड़ और इतनी धूप में धूल भरी सड़क के एक किनारे एक औसत सी स्त्री एक धुमिलाये चाँद से पुरुष के हृदय पर अपना माथा टिकाए प्रशांत खड़ी है। ●

प्रिय वर्मा
मो. नं.: 9453388383,
itspriyaverma@gmail.com

१. खुली चाँदनी में पड़ी सूखती है उनकी ग्रीवा

घोषित रूप से एक पवित्र नदी तक नहीं है यहाँ
उनका दुःख का साझा है
कि जीवन उपरान्त जो उन्हें मिल जाता
छँटाक भर पावस
तिल और कुश भर तर्पयामि का अँकुरण
तो प्रस्फुटित हो जाते उनके मुख
ममत्व से भरे
और भी सुंदर हो जाती सृष्टि
घोर अमावस में मुँह छुपाए मोह से कोई रो देता जो
उनकी अनुपस्थिति पर
उनके नाम पर क्षमा की स्थिति में गिनता
मिट चुकी क्रूरताएँ
किन्तु ज्यों-ज्यों उठता गया प्रेम से उनका विश्वास
झरते चले गए कच्चे नाखून आस्था के
वे मौन में उतरती चली गईं
अब वे अर्धरात्रि में नहीं, भोर में सीढ़ी खोज लाती हैं
स्वप्न में उतरती हैं
पानी पानी पानी
बस पानी माँगती हैं
तुम इतने विवश हो
कि तृप्ति तो दूर
आश्वासन तक नहीं दे सकते उन्हें
पवित्रता का

२. अब चूंकि

अब चूंकि वह कविता पाठ्यक्रम में थी
तो किताब के पन्नों के साथ जेहन में भी उतरती गई
अब चूंकि वह पाठ्यक्रम में थी तो हम और हमसे पीछे और आगे के उन सब ने उसमें खोजी विलक्षणता
प्राप्तांकों के लिए जबकि वह नीरस भी नहीं फिजूल लगती
अब चूंकि वह कवि पाठ्यक्रम में था तो
उसका जीवन परिचय रटना ही पड़ा
जबकि हमें नहीं था पता
कि उसने क्या क्या तिकड़में बिठाकर अपनी लकीर लंबी करने के बजाय
और समकालीनों की लकीरों को धुंधला किया था।
किस तरह उसने खुद को बड़ा बरगद बनाने को अपने समकाल को बौना किया था!

३. बोलपुर में नहीं है मेरा घर

पर बोलती बहुत हूँ
नाम के असर जाने कहाँ से आते हैं
प्रेम-प्रेम रटती पृथ्वी का प्रेमी दागी है
और धब्बों की तरह नहीं गन्ध की तरह
रहता है काव्य में चन्द्र
बोलने के आधिक्य में असल बोल छूट रहे हैं
बन रहे हैं बेईमान
छोड़ रहे हैं अर्थों से उनकी मैत्री
बिना मतलब के कोलाहल में एक कान नहीं है इतना सक्षम
कि सुन सके
सुन ली गई एक भी प्रार्थना के पास एकमुख नहीं है
रुद्राक्षों के नाम पर रचे गए हैं प्रपंच
पण्डालों में दहशत है एक पूरी जाति के भीतर
और भय से कातर होता मन सनसनाता फिरता है
अनन्तिम घाव हैं परदे पर
सब तथ्य है, मिथ्या कहीं नहीं है।

४. अभी कुछ पाँच-सात मिनट पहले का विचार

कह रहा था कि
क्यों न तुमसे पूछ लूँ
कि तुम्हारे लिए क्या लाऊँ?
प्रेम के अतिरिक्त
या आत्मा के या देह के या दृष्टि के ही
क्या अँगुली पर
कुदरत के छापे हुए निशानों को ले आना
प्रेमोपहार स्वीकारा जा सकता है!
किसे पूछूँ?
कौन कहेगा! क्या यही भय साथ लेती आऊँ!
इस भाँति कि
तुम्हारी डायरी सुनने न पाए
थरथर करती इस मांसल आवाज़ को,
ठीक है कि यह बात
रद्दी कागज़ पर लिखे किसी फुटकर नोट की तरह है।
फिर भी इसका महत्व
कम से कम इस सदी में तो रहेगा
कि फूल या कि श्रीफल या कि कलम या किताब
या स्वयं एक शरीर--- सर्वांग
जो कि चला आए उड़ता हुआ सा स्फूर्त
तनिक लजाता हुआ- सा कि इस टेक में
कहाँ मिलता है
अवकाश भी गृहस्थी से
स्त्री हो कि पुरुष
अब पौरुष शब्द को लगभग निरस्त कर रही हूँ
और स्त्री के लिहाफ की नहीं आ रही लाज
और याद कर रही हूँ वस्तुओं और भावों
और यादों और दृश्यों में तमाम
कि तुम्हारे लिए
मैं क्या लाऊँ?
कि खुद चली आऊँ
या कि खुद को किसी भित्ति में समेट कर घर पर ही छोड़ आऊँ
इस बार के नहीं
अगली बार के मिलने के लिए।
इस बार देह है, चेहरा है, शब्द हैं, वाक्यों में भरे संशयों की भरमार है।
क्या जाने अगली बार शायद एकांत हो!
और अब विचार चुप हो गया है। तुमसे पूछे और तुम्हारे कहे बग़ैर
मुझे उत्तर मिल गया है। प्रश्न सो गया है अगली बार के लिए

५. उसे प्यार करना

बर्फ की- सी सख़्त दोपहर में
अपनी जेब में हाथ डालने जैसा है
कि आत्मा के कपड़ों की आंच
आत्मा के जिस्म से ही पैदा होती है
कि जब
उसके साथ मैं होती हूँ
जाने कौन किसकी जेबों में हाथ डाले रखता है
इतना ज़रूर है
कि तब
हम दोनों में से
किसी को भी
ठिठुरन नहीं लगती।●

उपासना झा

मो. नं.: 7493945961,
upasana999@gmail.com

१. स्मृति

दुःख-सुख की कई अवस्थाओं में से
समय ने जो छाँट लिया था
वह बच गया था मेरा अभीष्ट
वह बन गयी थी स्मृति
तुम्हें उतना बचा रखा था
जितना जिए जाने में बाधक नहीं था
जितना ला सकता था
एक छोटी मुस्कान कभी भी
तुम्हें उतना भुला दिया गया था
जितना उठा सकता था अमर्ष
जो जगा सकता था कोई
सुप्त असह्य पीड़ा
चुन लिया था समय ने
स्वर्ग- सब सुन्दर याद रखकर
भोर के स्वप्नों में बहुधा
नर्क झाँक जाता था
क्या और हो सकता था
ने उतना ही ठगा है भीरुता को
जितना 'हम ने क्यों नहीं समझा'
ने कातरता को
अवचेतन में सिमटी रही
और जो एकाएक सामने आकर
कर गयी थी क्लांत
वह थी तुम्हारी गंध
स्पर्श आता था नहीं
स्मृति की ज्यामिति में
वह मिटता है सबसे पहले
रहता है सुरक्षित व्याप्ति में
स्मृति बन जाती है पगडंडी
जिसपर चलकर कभी भी
जाया जा सकता है
पुल के उस पार, अनामंत्रित
स्मृति इतिहास नहीं है
अतीत का पुनर्पाठ भी नहीं
स्मृति नहीं है वरदान
स्मृति है- केवल भंग आवृत्ति

२. स्पर्श

छू लेना
इतना जरूरी नहीं
जब दिल बोलते हों एक ही भाषा
छू लेना
तब है बेहद जरूरी
जब बिगड़ जाता है व्याकरण
उलझ जाता है तर्जुमा

३. आवाज़

आवाज़ देकर तुम
कभी भी बुला सकते हो मुझे
मेरी देह के हज़ारों कान हैं
जो सुन लेते हैं
तुम्हारा अनकहा भी ●

अनीता भारती

मो. नं.: 9899700767,
anita.bharti@gmail.com

१.

भगाणा की बेटियों
तुम्हारी हिम्मत की
जितनी तारीफ की जाये
उतनी ही कम है
इतिहास के पन्नों में
तुम्हारा नाम दर्ज हो चुका है
तुम हमेशा जीवित रहोगी
कि तुम गाँव घर छोड़कर
शहर आ गई थी
अन्याय के खिलाफ़ लड़ने
एक दूसरे के कँधे से कंधा मिलाएँ
चिलचिलाती धूप, भयंकर बारिश भी
तुम्हें अपने रास्ते से डिगा नहीं पाई
तुम्हारा खुरदरी ज़मीन पर बैठकर
अपनी अस्मिता के हत्यारों के
खिलाफ़ लड़ना
इस ब्राह्मणवादी पितृसत्ता
के मुँह पर करारा तमाचा था
तुम्हें निर्वस्त्र देखने
की चाह में वे सब
निर्वस्त्र हो रहे थे
जो नेता थे, मंत्री थे और संतरी थे
वे जो आयोगों के अध्यक्ष बने बैठे थे
वे जो पत्रकार थे संपादक थे
तुम्हारी कहानियाँ चटखारे लेकर
सुन रहे थे
वे जो अपनी संस्थाओं का
बैनर उठाए तुम्हारे नाम से
बँदरबाट में लगे थे
वे जो दलितों के पिता कहलाने का
शौक रखते थे
सबने तुम्हें अनदेखा किया
मज़ाक उड़ाया, शोर मचाया
और वे भी
जिन्होंने तुम्हें न्याय दिलाने के लिए
तरह- तरह से बदला
लेने की कसमें खायीं
और अन्यायी और राह के साथियों को
समाज के अहसान- फरामोश कहकर
जी भर कर घृणा से थूका
वो जो तुम्हारे आँसुओं को
मिटिंगों में दर्ज करते रहे
वो जो तुम्हारे गुस्से को भुनाते रहे
वो जो तुम्हारे दुख को
चाँदनी की चादर की तरह ओढ़ते रहे
और वे जो सबसे ज्यादा
जो दंभ भरते रहे तुम्हारे भरोसे के
साथ खड़े होने का
वे किसी दीमक की तरह उसे
अंदर ही अंदर चाटते रहे
भगाणा की लड़कियों
इतने बुरे ख्यालों के बीच
भी तुम तन कर खडी हो
क्या अब भी तुम
किसी पहचान की मोहताज हो ?

२.

आ अब लौट चले,
उस तरह जिस तरह
परिंदे दिन भर भटकने के बाद
जाछुपते है अपने घोंसलो में
भाई बहन और रिश्ते
और सबसे आखिर में तुम
जिसके मजबूत हाथ खडे थे
मेरे पीछे खंबे की तरह
वह हाथ जब अचानक हटते है

तो दर्द एक बडे पेड के ढहने के दर्द की
तरह होता है
अम्बेडकर गांधी मार्क्स
या फिर रोजा, सावित्री, सीमोन
की धारा से लैस,
करते है वादे,
और चढ जाते है समानता की नाव पर
चेतना के खुले आसमान पर
विस्तार देते हुए पाते है
सिद्धांतहीन जीवन के विरुद्ध
लडने की ताकत
एक अदद दिए की लौ,विश्वास की लौ
में जूझ पडते है तमाम झंझावातों में
पर जीवन की कडवी सच्चाई का
सामना होते ही रह जाते है
तुम यानि पुरुष
मैं यानि औरत
समता समानता से ऊपर
एक रिश्ता जो इन शब्दों
की परिधि से बाहर है
चाहे लाख जुगत लगाओ
यह रिश्ता इन खांचो में फिट ही नही होता
और लंगडाता है बिना किसी पैर के शरीर
की तरह
झूलता है किसी नट की तरह
तब दिल में बहते खून का रंग लाल नही रह
जाता
और ना ही नीला
हो जाता तब वह सफेद रंग के
उस पक्षी की तरह
जो रात में रास्ता भटक जाने के बाद अपने
उसकी सजा पाए की
वह रात भर किसी अनजान बियाबान पेड
पर
रात भर ऊँघता रहे

३.

प्यार को मैं जीती हूँ रोजमर्रा की तरह
ठीक उसी तरह जैसे रोज थक हार
कर चुस्कियाँ लेते हुए चाय पी जाए
उतरती थकन सा प्रेम
या फिर सब्जी छोंकते समय
आदतवश हल्दी लाल मिर्च नमक
सही-सही कम ज्यादा हुए
अपने आप पड जाए
और खाने खाते-खाते मन सतुंष्ट हो जाए
कपडे धोते फटकारते फैलाते तेज धूप
में सूखे कपडों में आई कडक
शरीर में उत्साह भर दे
इसी तरह प्यार को जीती हूँ मैं ●

पार्वती तिर्की
मो. नं.: 9262235165,
ptirkey333@gmail.com

१. बुधुवा

बुधुवा शहर की दिशा में
बढ़ रहा था और
शहर की दिशा से विपरीत
उसके घर का रास्ता था।

२. सिलयारी

खेत की मेढ़ पर
सिलयारी के फूल खिले थे
खुद-ब-खुद खिल आने वाले
जंगली फूल! (संदर्भ : एक फूल का नाम)

३. शहर

'जोड़ी!
मत जाना परदेस'
कू कहते हुए
कोई 'रेघा' रहा था!
(रेघाना - लम्बे राग में कुछ बोलना)

४. कुड़ुखर

'हम कुड़ुखर कहाँ जाएँगे?'
कारुष' देश से जब
कुड़ुखों को भगाया गया,
तब इस गीत को गाते हुए
नदी तराई होते हुए वे
कुर्राग' पहाड़ के पास पहुँचे।
उस पहाड़ को भसकाया जा रहा था,
इसे देख वे फिर
उस गीत को दोहरा रहे थे-
"जंगल सो गया,
हमारा राज्य फिर से खो रहा,
नदी को बाँधा जा रहा
पहाडों को समतल किया जा रहा
खेतों को भी सुला दिया गया,
ऐसे में हम कुड़ुखर कहाँ जाएँगे?"

संदर्भ : पुरखों की मिथक कथाओं में कुड़ुख आदिवासियों के कारुष देश का ज़िक्र मिलता है, वे लोग स्वयं को कुड़ुखर कहते हैं। कुर्राग एक पहाड़ का नाम है जो झारखंड राज्य में स्थित है। ●

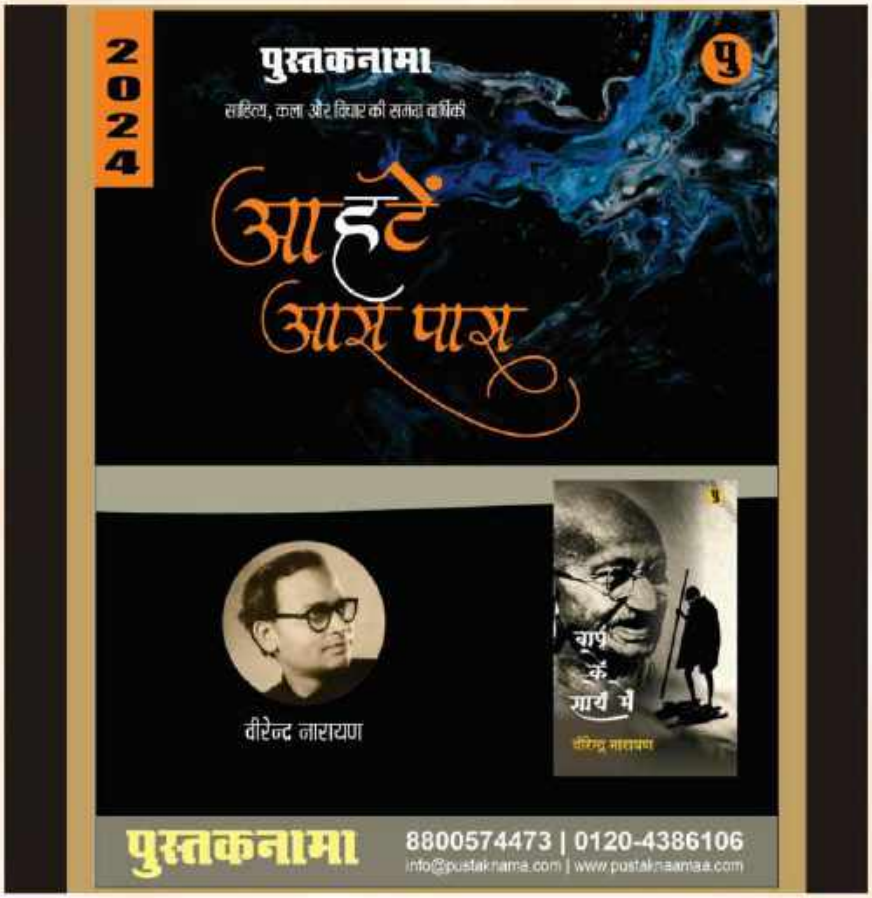

श्यामानंद बाबू

शर्मिला जालान

बालीगंज सर्कुलर रोड के बाद जो इलाक़ा आता है उसे रिची रोड कहते हैं। रिची रोड के मध्य एक बहुत बड़ा पार्क है। मेडॉक्स स्क्वायर। इस पार्क के चार कोनों में से एक कोने से शरत बोस रोड की तरफ जाया जा सकता है, तो दूसरे कोने से हाज़रा रोड की तरफ़ निकला जा सकता है।

यह इलाका पुराने बंगाली वकीलों का इलाका है। जिनके अट्टालिकानुमा मकानों में अब सिर्फ़ वृद्ध माता-पिता ही रह गए हैं। बच्चे अमेरिका, लंदन, दिल्ली, मुंबई और बैंगलोर चले गए हैं। पहले नौकरी करने फिर वहीं बसने। इनके आलावा यहाँ मारवाड़ी, गुजराती रहते हैं तो बिहारी, पंजाबी भी इक्का-दुक्का परिवार दिख जाते हैं।

यहाँ मध्यमवर्गीय और उच्च मध्यवर्गीय जीवन के समानांतर साधारण लोगों का जीवट से भरा जीवन चलता रहता है। जो सतत सक्रिय रहते हैं किसी योद्धा की तरह सुबह से शाम तक फ्लैटों में आने वाले लोगों की फ़हरिस्त बनाई जाए तो उसमें डाकिया, कूरियर सर्विसवाला, ग्वाला, अख़बारवाला, माली, धोबी, योग और मसाज़वाला, आजकल स्विग्गी ज़ोमैटो आदि का जमाना है, तो डेलिवरी बॉय भी आते रहते हैं। एक दुनिया ड्राइवर, माली, घरेलू नौकरों की, जो आसपास की बस्ती में रहते हैं और मकानों के सामने तैनात सिक्योरिटी गार्ड जो दूर बस्ती-झोपड़पट्टियों से आते हैं, की भी है। शाम के समय मकानों के बाहर इनका अपनी तरह का अड्डा जमता है। अदम्य चाहत और जीने-बचे रहने के लिए अक्सर ड्राइवर और नौकर फ्लैटों में काम करनेवाली नौकरानियों से हुए प्रेम की कहानी सुनते-सुनाते हैं। इनके उल्लास और इनके अंदर की ख़ुशी की दमक कल्पना और यथार्थ से मिली-जुली इन कथाओं में दिखाई पड़ती है।

यहाँ इसी इलाके में एक टैक्सी ड्राइवर गोपी रहा करता था। वर्षों पीली टैक्सी चलाने के बाद भी वह अपने रहने और खाने का कोई स्थाई बंदोबस्त नहीं कर पाया स इसी इलाके में पच्चीस वर्ष पहले एक मकान की नींव डाली गई थी। जब मकान खड़ा हो रहा था, मकान मालिक श्यामानंद बाबू ने उस जगह की देखभाल के लिए रात-दिन के एक दरबान धनेसर को नियुक्त किया था। धनेसर बाबू से छुपाकर निर्माणाधीन मकान में कभी किसी ईखवाले की गाड़ी तो कभी किसी की साइकिल, स्कूटर, बाइक आदि खड़ी करवा देता था। गोपी, उसके कुछ मित्र, परिचित रिश्तेदार भी वहाँ रहने लगे थे। वे वहाँ सोते, नहाते-धोते और सुबह चले जाते। धनेसर उनसे पैसे बनाता था और रात में उनके साथ खैरात में पीता साथ ही मजाक, चुटकुले और गालियों का मजा लेता। दारू पीने के बाद उन पर गरियाता। जब मकान बनकर तैयार हो गया और बाबू वहाँ रहने आ गए, तब उन्होंने अन्य लोगों को वहाँ से विदा किया पर गोपी नहीं गया। उसके प्रति उनके मन में अनुराग था।

कुछ वर्षों के बाद बाबू ने धनेसर की अचानक मौत के बाद गोपी को अपने यहाँ दरबानी का काम करने और साथ ही ड्राइवर बनने का प्रस्ताव दिया। रात में दरबानी का सरल काम था। गेट खोलना और बंद करना और दिन में गाड़ी चलाना। यह प्रस्ताव उसे पसंद आया। सालों टैक्सी चलाने के बाद वह बाबू के यहाँ रात-दिन का ड्राइवर नियुक्त हो गया। वह साँवला कम बालोंवाला नाटा सा व्यक्ति था जो बोलते हुए हकलाता था। टैक्सी चलाने के दौरान उसने कोलकाता के चप्पे-चप्पे को छान मारा था। बाबू को वह किसी भी पते पर ठीक से पहुँचा देता था। उसे इस बात की भी खुशी थी कि 'ओला' और 'ऊबर' कैब्स चलने के कारण धंधे पर जो चोट पड़ी थी उससे भी राहत मिलेगी और साल के अंत में बोनस मिलेगा। बाबू के काम कम था। सुबह बच्चों को विद्यालय और बाबू को ऑफिस छोड़ना और लाना। उसके अलावा पूरे दिन गाड़ी खड़ी रहती थी। महीने में दो-तीन बार ही पांच-सात घंटे के लिए गाड़ी लगातार निकलती थी। गोपी के लिए यह मजे का काम था। रात में दरबानी करने में भी उलझन नहीं थी। पूरे मकान में दो परिवार रहते थे और उनकी गाड़ी उतनी ज़्यादा निकलती और आती-जाती नहीं थी कि पूरे दिन दरवाज़ा खोलना बंद करना पड़े।

बाबू गाड़ी में सामने बगल वाली सीट पर बैठते और धीरे-धीरे उससे बहुत बातें करते थे। कॉलेज के दिनों में श्यामानंद बाबू ने समाजवादी मित्र जयराज मेहता की संगति की थी। वे लोग देश को समाजवाद द्वारा बदलने का सपना देखते थे। बाबू गोपी के माध्यम से उसके गाँव की स्थिति को समझने की कोशिश कर रहे थे। उसे देखकर लगता था कि वह उनका कोई पुराना सेवक है और वर्षों से उस घर से जुड़ा हुआ है। बाबू के बर्ताव में सहज आत्मीयता थी। वे अपनी पत्नी और बच्चे के साथ बाहर निकलते तो गोपी से ही बात करते। उसे चाय-पानी के लिए अलग से पैसे देते। गोपी कभी कोई हिमाकत करता तो उसे धीरे से समझाते। उनकी पत्नी रमा डाँट लगाती तो उन्हें बरजते। उनका गोपी के प्रति लगाव अप्रत्याशित था। धीरे-धीरे कुछ सालों में गोपी भाभी की अवहेलना करने लगा।

यहाँ मध्यमवर्गीय और उच्च मध्यवर्गीय जीवन के समानांतर साधारण लोगों का जीवट से भरा जीवन चलता रहता है। जो सतत सक्रिय रहते हैं किसी योद्धा की तरह सुबह से शाम तक फ्लैटों में आने वाले लोगों की फ़हरिस्त बनाई जाए तो उसमें डाकिया, कूरियर सर्विसवाला, ग्वाला, अख़बारवाला, माली, धोबी, योग और मसाज़वाला, आजकल स्विग्गी ज़ोमैटो आदि का जमाना है, तो डेलिवरी बॉय भी आते रहते हैं। एक दुनिया ड्राइवर, माली, घरेलू नौकरों की, जो आसपास की बस्ती में रहते हैं और मकानों के सामने तैनात सिक्योरिटी गार्ड जो दूर बस्ती-झोपड़पट्टियों से आते हैं, की भी है।

भाभी अपने पति से इस बात के लिए बहस करती कि वे क्यों एक ड्राइवर के सामने उसका अपमान करते हैं। गोपी उनका इतना अपना हो गया कि वे ही उसे बरजेंगे और कोई कुछ बोले तो उसे रोक देंगे। पर बाबू अपनी पत्नी की शिकायत को अनसुना कर देते और कहते तुम क्या जानो उनके जीवन को। वे अंदर से बदल गए थे। भाभी इस बात से क्षुब्ध थी।

श्यामानंद बाबू की आर्थिक स्थिति ठीक थी। इन सालों में गोपी का आत्मविश्वास बढ़ गया था। उसे ऐसा लगने लगा था कि कम वेतन मिल रहा है। आसपास के ड्राइवर मित्रों से तनख़ाह की बात पूछता रहता और बाबू पर एडवांस देने और बोनस बढ़ाने का दबाव बनाने लगा। अक्सर महीना शुरू होने के पहले ही पैसे ले लिया करता। कभी कहता गाँव में मकान टूट रहा है। कभी-कभी उसकी पत्नी फ़ोन कर देती कि बच्चा बीमार है उसे इतना पैसा दे दीजिए।

बाबू को उसका व्यवहार भद्दा और अराजक लगने लगा। एडवांस का दबाव महसूस करने लगे। फिर भी गोपी उनके यहाँ पड़ा था।

इस बीच कोरोना वायरस ने कहर ढाया। बाबू का आना-जाना कम हो गया। हर काम घर से होने लगे। गोपी दिन भर सोता। वह धीरे-धीरे मोटा होने लगा। दरबानी का काम भी ज्यादा नहीं था। कोई आता-जाता ही नही था तो दरवाज़ा किसके लिए खोलता! गाँव से बार-बार बुलावा आ रहा था। एक दिन गोपी गाँव चला गया। गाँव जाने के बाद कभी खुद, तो कभी अपनी पत्नी से ऑनलाइन पैसे भेजने के लिए बाबू को फ़ोन करवाता रहता। बाबू ने उसके फ़ोन उठाने बंद कर दिए। एक दिन वह वापस आ गया। बाबू ने उससे बात नहीं की। रविवार की सुबह बाबू ने कहा- "गोपी तुम देख ही रहे हो काम कितना कम हो गया है। ऐसा करो गाँव चले जाओ और क्वार्टर खाली कर दो।" उसे यक़ीन नहीं हुआ कि बाबू उसे जाने को कह रहे हैं। वह दोनों हाथ जोड़े खड़ा हो गया कि कोई भूल हो गई हो तो माफ़ करें। वह उस पल अपनी स्थिति समझने में असमर्थ था। मन ही मन अपने को कोसा कि न जाने क्या गलती हुई है। भाभी और बच्चे सभी इस निर्णय से चौंके कि गोपी जो इन पाँच सालों में उनके घर के आदमी जैसा हो गया था, बाहर से कोई मेहमान आते तो उसके हाथ में बख्शीश रखते, उसके लिए उपहार लाते, उससे ऐसे बात करते जैसे वह घर का सदस्य हो, उसे नौकरी से बर्खास्त कर दिया गया है। इन दिनों आस-पास हुई मौतों ने, व्यापार पर पड़ी चोट ने बाबू के अंदर के कोमल तत्त्व को नष्ट कर दिया था। वे बदल गए थे।

गोपी तरह-तरह से बाबू को मनाता रहा। उसने एक-दो बार भाभी से कहा- "हमें रख लीजिए।" भाभी गोपी के गुणों को पहचानती थी कि वह अच्छी गाड़ी चलाता है और सभी रास्ते-घाट जानता है। वे उसे रखना चाहती थी पर न तो वे पहले बाबू का गोपी के प्रति लगाव रोक सकी और न ही अब उसके जाने को रोक पाई। वे जानती थी कि उनके पति का किसी पर मन आ गया तो उसे बगल में बैठा लेंगे और उससे मन उतर गया तो उसे घर ही नहीं जिन्दगी से ही बाहर कर देंगे।

कुछ दिनों बाद श्यामानंद बाबू और रमा भाभी गोपी को अगल-बगल के मकानों में अस्थाई काम करते हुए देखने लगे। कभी-कभी आंखें मिल जाती, तो अजीब सा महसूस करते। साल भर के अंदर में ही गोपी के सिर के बाल जो पहले ही बहुत कम थे झड़ गए और चेहरा सूख गया। वह काफी दुबला हो गया। भाभी सोचती-यहाँ कैसा मोटा-ताज़ा था! चेहरे पर कान्ति थी और अब कैसा उड़ा-उड़ा लगता है। हताश और उदास गोपी को देखकर उनके मन में ममता जागती थी। वे सोचती जीवन में अनुराग और विराग कितना अस्थाई और अप्रत्याशित है। एक दिन में राग, विराग में बदल जाता है। उन्होंने बाबू की तरफ देखा जो इन छह महीनों में नए ड्राइवर को रख और छोड़ उकता गए थे। एक भी उन्हें नही जँचा था।

एक दिन रात का भोजन करते हुए बाबू भाभी से बोले- "जिस दिन मैंने गोपी को काम से निकाला, उसके एक दिन पहले तुम्हें याद होगा मैं ऑफिस गया था और महेश मेरे ऑफिस में आया था।" भाभी बोली- "अच्छा।" बाबू बोले- "आजकल उसके बड़े बेटे-बहू लंदन में हैं। वैसे भी तुम जानती ही हो उसकी अपने उस बेटे से पटरी कभी नहीं बैठी।" भाभी बोली- "आपने बताया था कि कॉलेज के दिनों में जयराज मेहता के विचारों का घोर विरोधी था।"

बाबू बोले- "हाँ। आज भी है। उस दिन महेश पहले तो अपने सबसे छोटे बेटे के एम.बी.ए. इंस्टिट्यूट में आई एक लेखिका जो व्यवसायी पत्रिका में लिखती हैं- मोनिका हालन की पुस्तक 'लेट्स टॉक मनी' की बात करने लगा। वह उस पुस्तक से प्रभावित है, बोला- 'उनका प्रमुख उद्देश्य ऐसी व्यवस्था के बारे में बताना है जिससे जीवन-भर की कमाई के बारे में हम निर्णय ले सकें और पूरे साल चिंता से मुक्त रहें।' फिर इधर-उधर की कहते हुए कहा- 'गोपी को हटा दो और अपनी इस गाड़ी को बेचकर नई गाड़ी ले लो।' कब तक पुरानी गाड़ी खिंचोगे! आजकल कौन स्थाई ड्राइवर रखता है! जब जरूरत हो लोग सेंटर से बुला लेते हैं। क्यों इसे पाल रहे हो! वह मुर्गा, गोश्त और चिकन बाहर खाता ही होगा। मुझे तुम्हारा गोपी एकदम नहीं भाता। पचहत्तर साल से ज्यादा हो गए हमारे देश को आजाद हुए तुम क्या सोचते हो, शहर में रहने का इन्हें शऊर आ गया! ये तसले के ईंट गारा ही बने रहेंगे। यही सच है ये थके खाते हुए काम खोजते हैं और मिल जाने पर आंखें दिखाते हैं।" भाभी सब कुछ समझ गई। महेश भाईसाहब की उनके घर में पहले दखलअंदाजी थी जो बाद के सालों में बंद हो गई थी। भाभी ने कहा- "भाई साहब ने कहा और आपने मान लिया?कैसे उनकी बातों में आ गए! आपने सोचा कि आपका जीवन पारम्परिक और दकियानूसी है और गोपी को हटाने से क्रांति होगी!" बाबू चुप थे, संजीदा लग रहा था, कुछ सोच रहे हैं।

कुछ दिनों बाद एक दोपहर कॉलेज से बच्चों को गाड़ी लाने गई। जब ड्राइवर उन्हें लेकर आ गया श्यामानंद बाबू ड्राइवर की तरफ इशारा कर अपनी पत्नी से बोले- "जरा इसे चाय-पान के पैसे तो दो। देखो तो सही, पान खाए बिना इसका चेहरा कैसा सूख गया है।" रमा भाभी ने घूम कर नए ड्राइवर को देखा, वह चौंकी, दरवाजे पर गोपी था। पहले जैसा ही निश्छल और विनम्र।●

रीता दास राम
मो. नं.: 9619209272,
reeta.r.ram@gmail.com

१. झँकार

जहाँ हो वहीं हूँ
हाथों की कठपुतली नहीं हूँ

बूँद-बूँद छलकता हो चाहे दर्द
टपकने और सीलने सा अवसाद
नहीं हूँ

सरहद नहीं हूँ, सीमित नहीं हूँ,
नहीं हूँ जल आकाश
तृप्ति नहीं हूँ, नहीं हूँ सुगंध, नहीं
हूँ स्वाद, ना उन्माद

छू लो रच बस जाओ चाहे गंध
बन
अतृप्ति ही रहूँगी आकंठ नजरों
की राह जहाँ तक

जिद्द नही, संगीत नही, न ही
आवाज मधुर
शांति के सान्निध्य में बसी नश्वर
पैगाम भेजती हूँ पुकार

सुन सकते हो तो सुनो, बिना
धुन की झँकार।

२. वेश्याएँ

स्त्री पुरुष किन्नर
कोई भी हो सकता है वेश्या
किसी भी जाति या धर्म का

मजबूरी शब्द से जुडने के
बावजूद
वेश्या की परिभाषा नहीं बदलती

समाज या मानव समुह की
जरूरतें बताती है
वेश्यावृत्ति जंगल में नहीं पनपती

तिरस्कार ज़िल्लत अश्लीलता
बोती वेश्यावृत्ति
इच्छा आकांक्षा और दैहिक
जरूरत के जरुरतमंदों से
फलती-फूलती पहचान है

देह की रोटी खाना
अपराध नहीं नीचता का स्केल है

हो न हो, वेश्याओं से व्यवहार
के लिए व्यवहारिकता के नियम
होने चाहिए
मानवता अनिवार्य होनी चाहिए
वरना दंडनीय होना संभावित नहीं
बल्कि निश्चित हो, इंसानियत
होगी

वेश्या मनुष्यों में एक बदनाम
पहचान है
जिनके मान सम्मान का एक
अलग रूतबा जरूर होता है।

३. टूट

'टूट' दुखी करता शब्द है

नहीं टूटते
दूर हो
विलुप्त हो जाते है

समयकी पंखुड़ियाँ
बाँधे रखती है

स्मृति कोश में जिसे।

४. साफ़ मन की लकीर

रख लीजिए
किसी का भरोसा

कर दीजिए पूरी
उम्मीद किसी की

साथ दे दीजिए किसी का
रास्ते के मोड़ तक

निभा लीजिए किसी से
कुछ पल यूँ ही

हर बार फायदा नुकसान देखना
साफ़ मन की लकीर पर अच्छा
नहीं लगता
के निपटाए काम
बदले में निपटा दिया जाएगा कुछ

बरकरार है अब भी निकृष्टता
अब भी नैतिकता निश्चल
पारदर्शी नहीं

नहीं है साहित्य में साफ़ आकाश
नहीं है समाज़ में कलकल साफ़
बहता पानी।

५. आस्था

धड़कता हुआ
दर्द
गुजरता नहीं

जीवन की
रद्दोबदल
कोशिशें
खुदा बन जाती है

क्षितिज पर
रास्ता देखती है
इच्छाएँ
अधूरे सूरज का पूरा होना भीतर

तमाम उम्र जी कर
कुछ आस्थाएँ
पानी-पानी हो जाती है।●

अलका प्रकाश
मो. नं.: 9565059141,
dr.alkamishra@prsuniv.ac.in

१. लौटना

हम लौटना चाहते रहे
चाहते ही रहे
न सके लौट
लौट गयीं स्मृतियाँ
लौटे सुंदर विचार

लौट गये जिन्हें कहा गया आत्मीय
सम्बन्ध
लौटी कहावतें और मुहावरे
उस आदिम भाषा में
जिनकी अब नहीं कोई जानकारी
लौट गयी मनुष्यता देखते-देखते
संसार की
इस न लौटने में सिर्फ हम रहे
शामिल
कितना मुश्किल है अर्थहीन होकर
जीना
मुश्किल कितना बसर
रीत चुके संसार में
कहते जिसको जीवन
हो अगर स्मृति वंचित
होना जैसे निविड़ निर्जन में
चीत्कार करते
लौटने को आकुल उस बिंदु पर
जहाँ से शुरू हुई थी सभ्यता।

२. कस्बाई लड़की

सोचती रही
सपने बुनती रही
काम करती रही
अनवरत चलती रही
कस्बाई लड़की
मेहनत कर के भी
पोछ नहीं पायी
तस्वीर पर जमी धूल

दूसरों के दिमाग के
धुन निकालते-निकालते
फँसती गयी खुद मकड़जाल में
बाजार और समाज के
स्वच्छन्द-स्वतन्त्र दिखती रही
पर भीतर वही जंजीरें
चाहे बदल दे सब कुछ
पर नहीं बदल सकती
पुरुष केन्द्रित देहवादी सोच को।

३. अंधेरे के खिलाफ़

मैं नहीं हूँ किसी दृश्य में

हर परिदृश्य से कर दी गई बाहर
प्रत्येक समूह से बहिष्कृत
अकेले कमरे का एकांत
जिसमें हवा बहुत कम
साँस नहीं ली जाती
दरवाजा बाहर से बंद

कमरे के बाहर भी बहुत शोर
इतना कोलाहल आपाधापी
जाने कैसी आवाज़ें
तेजी से गूँजते अट्टाहास
सामने होती व्यंग्य मिश्रित मुस्कुराहटें
जब धीरे से कुछ कहती हूँ
तेज कड़कती हैं आवाज़ें
और गुम हो जाते मेरे शब्द
इसी तरह होती जाती अनसुनी रोज़
बरोज़ अक्सर मैं

बाहर के शोर से होती आक्रांत
लौटती जब घर
एक अनचाहा तूफान करता रहता
पीछा आए दिन
ऐसे में घर और बाहर की
चक्की के दोनों पाटों पर
पिसी जाती बेतरह
हो जाती हताश और श्लथ
फिर उठने की करती कोशिश
जीने का एक बार
और करती प्रयत्न
ज़िन्दगी बेरहम है या बेरहम है संसार
जब तक समझती
बीते जाने कितने अनगिन साल
अब जबकि मैं हूँ दृढ़
भीतर से रीते घड़े की तरह
हृदय बजता जाता है अक्सर
बाहर को महसूस कर कितना

जी उठूँ या कि अंदर के तूफान से
लड़ूँ कितना
दृश्य को बदलने का माद्दा है
रोने के लिए ही नहीं बनीं आँखें
संभालती खुद को
एक बार फिर करती हूँ कोशिश
उस अंधेरे के ख़िलाफ़
जो छाता जा रहा अस्तित्व पर
नहीं आ पाती रोशनी
जिसमें देख सकूँ अपना अक्स भी..

४. अब कुछ नहीं

आह! प्रियतम
तुमसे प्रेम किया
उन्मादिनी पगली की तरह

घर छोड़ा
पराधीन हुई
बनी घरेलू दासी

सांस्कृतिक मज़दूरी का
हुआ बहुत यशगान

जब चाही आज़ादी
सब कुछ छूटा
कोई जगह नहीं मेरी

जब पुकारा
जवाब दो!
तुम निरुत्तर
चले गये

इस तरह जाना
जितना गहरा चाहना
उतना गहरा टूटना।

५. पितृसत्ता की संवाहिकाएँ

(एक)
क्यों रुक जाते हैं उसके पाँव
पुरानी दहलीज को लाँघते
क्यों वह अब भी रहती है
पुत्र-कामना के व्रत
डाला छठ व जीवित पुत्रिका
क्यों वह करवाती है गर्भपात
कन्या भ्रूण का
(दो)
अरे भई
पुरुष केन्द्रित संसार में
जब भाग्य और सम्मान
सब उसी से
जुड़ा है तो

किसकी बेटी हो बोलो
किसकी पत्नी हो
ओह उस अधिकारी की
सहूलियत, सहूलियत, सहूलियत
आराम,आराम,आराम
चाहिये जब तुम्हें
तो ऐसा करोगी ही। ●

अनुराधा ओस
मो. नं.: 9451185136,
Anumoon08@gmail.com

१. मैं झरनों का संगीत होना चाहती हूँ

मैं झरनों का संगीत होना चाहती हूँ
पारदर्शी पानी की धार में
नुकीले पत्थरों के ऊपर
से बहना चाहती हूँ

पानी की तरह बिना किसी मिलावट के
जीना चाहती हूँ
अपनी साड़ी को रँगना चाहती हूँ
पानी और पेड़ के रंग में

फूल बनकर खिलना चाहती हूँ
पहाड़ की तलहटी में
जिसमें भरें हो रंग कई

मैं पानी की आवाज
बनना चाहती हूँ जिंदगी में।।

२. मुट्ठी और रंग

जिस रोज मुझे लगने लगेगा
मेरी हथेलियों में दबा बीज उग आया हैं
कनेर का पेड़ बन
उस दिन एक इंच और बढ़ जाएगी
मुस्कान धरती की

जिस रोज मुझे लगने लगेगा
मेरी मुट्ठी में पानी का रँग कुछ ज्यादा फिरोजी है
उस दिन नदी के दर्रे भर देगा
आँखों का पानी

'जिस दिन मुझे लगेगा मेरी हथेलियाँ
किसी सोख्ते में बदल चुकी हैं
उस दिन सदी के घाव को भर देंगे
स्वप्नों के रंग से'
जिस दिन बुलबुल ने अपना घोंसला
बनाया तुलसी के पेड़ पर
उस दिन प्रकृति महसूस करती है
धरती पर सबके लिए बची है छाँव
कहीं।।

३. बातचीत

किताबों से बातचीत
यादों के फूल करतें हैं
अक्षरों के कँधे पर सिर
रखकर बतियाते हैं

सदियों का दुःख
हल्का करतें हैं
स्याही की नोंक से निकल कर

रक्त सने हुए हाथों
को पकड़ा देतें हैं
उजाले की स्याही

दुःख की छाया को
छोटी करती हैं
प्रेम कविताएँ।।

४. विदा होती कामनाओं का दुःख

टहनी से अलग होने के बाद
तुम्हारा हूँ मैं
जो जिस रूप में पाना चाहे

काँपकर औचक ही
जुड़ते हैं
फिर अलग हो जाती हैं

उदास सी कोई पत्ती
अश्रु बहाती है
उस साथ की मोहकता पर

विदा होती कोई साँझ
सुखकर होती है
क्या?

विदा होना कभी-कभी
उतना सरल
नहीं होता

तुम्हारे साथ की तरह
बनी रहना चाहती हैं
साथ की कामनाएँ।। ●

सुधा तिवारी
मो. नं.: 8750350953,
sudha21tiwari@gmail.com

१. आना

आना जब पानी
बरसा हो धारासार
सौ कपाट खोलकर
औंधी पड़ी हो
आकाश की मटकी

आना जब बिछली
हो गलियां
टूटे पत्तों और मोंजरों
के कच्चे गंध में

चले आना प्रतीक्षा में
बिछी उन सीढ़ियों पर
धरे पांव
जो पटी हों
गुलमोहर के लाल फूलों से
चले आना भींगेतलुवे लिए
सराबोर गुलमोहर की पिचकी
पंखुड़ियों के रंग में

तज कर अपना राग रंग
लेकर वर्षावनों की बिछलीगंध
तुम आना !

२. वैशंपायन

मैं वैशंपायन हूं मैं सब देख रहा हूं
वह जो घटित हो रहा है मेरे सम्मुख
वह जो उस घटित को नियंत्रित किए हुए है
और वह जो इस घटित के रथ पर सवार हो
प्रतीक्षा में है
इस चांडाल बस्ती में हर पल मरता हर पल जीता मैं
कच्चे चमड़े की तेज गंध छल छद्म
व्यभिचार हिंसा के बीच हर पल जूझता
रूप का उत्कट प्रेमी मैं
बंद हूं इस स्वर्ण पिंजरे में।

उत्तर दिशा में मुंह किए ध्यान करता हूं
मेरी प्रतीक्षा में बैठी उस तपस्विनी का
आह! महाश्वेता कितने जन्मों तक
और चलेगी यह मुसलसल आंख मिचौली
यह विरहप्रांत स्थाई हो उग आया है
हमारी प्रेमिल आत्माओं के बीच!

पर इतना जानता हूं मैं
कि रूप कभी पाप नहीं कर सकता!
एक सुकुमारी के स्नेह में आबद्ध मैं
जीता हूं तुम्हारी अनंत प्रतीक्षा में
यह मानव हृदय इतना व्यग्र क्यों है
इस सृजनशीलता के भार से दबा मन
क्या अभिशप्त है स्वयं के सर्वनाश को
इस दुर्बल देह में बंधा मेरा बेकल मन
तोते की जुबान से फिसलती
वैदिक ऋचाएं, ऐसा कौतुक हैं कि
बार बार बांधा गया हूं मैं
हर बार कुछ दूर ही तुमसे!

शायद एक पाखंड है मेरा यह जीवन
अपनी विद्वता के गर्व में चूर
तुच्छ समझा मैंने आदमी को
कम आंका इस जीविका को
इस बस्ती का जीवन
साक्षात्कार है मेरा असल जीवन से
इस साधना से पहुंच जाऊं
शायद मैं तुम्हारे करीब
सहजीवन का अदम्य सुख
शायद मेरी आत्मा का मुक्ति द्वार है प्रिये!

३. स्त्रियां

मेरा बचपन
आबाद था एक सुघड़ स्त्री के
आंचल में
मेरा सोना जागना खेलना इतराना
सब उसके चितवन के
इशारे पे रखे थे

छोटी नानी के घर
गिर जाती थी मेरी चीज़ें
बार बार बेसबब
उनकी आंगन में खुलती
छत पे टंगी रहती थी
मेरी जान
एक प्यारी सी दीदी
इठलाती होती थी
उस आंगन में
उसके काजल की धार
चौराहे की बत्तियां थीं।

जमीन से हजारों फीट की ऊंचाई पे
मेरे सामने मुस्कुराती खड़ी है एक स्त्री
नपे तुले कपड़ों में
देती है प्यार से गरम चाय की प्याली
एक सफेदपोश स्त्री
लिए जा रही है मुझे उड़ाते हुए
जमीन के स्वर्ग की तरफ़
मेरा ये जीवन किस क़दर घिरा हुआ है स्त्रियों से
इस ऊंचाई पे जीवन
कितना छद्म लगता है और कितना
पुरसुकून वह प्यार
जो पाया मैंने
जिंदगी के छोटे छोटे प्यालों में.

४. नौकरी और स्त्री

उबर मोटो से उतरती हुई
वह स्त्री
जिसके कंधे पर धरा है
सहकर्मियों की फब्तियों
से भरा थुलथुल बैग

उसकी खाल से चिपकी है
निगाहों की एक्सरे

जाने क्यों
फूलती जा रही है
उसकी पेट
फैलती जा रही है
गोरी कमर
दिन ब दिन गोल होती जाती है।

अपने अवसाद को
ढंकती है वह
हरे, नीले, पीले
नेलपोलिशों में
गोरी उंगलियों पे
खिलते हैं
अलहदा रंग
कुछ देर को
स्याही मल आती है
उन चेहरों पे
उसकी अम्लान हँसी

पुरुष के लिए नौकरी
एक उपलब्धि है
उसके लिए ताना
को तब्दील होता है
आंखों के नीचे धारियोंमें! ●

श्रद्धा सुनील
मो. नं.: 7000053236,
shraddhanadeo1968@gmail.com

१. स्वप्न

देखती हूं स्वप्न

जब
स्त्री कलाकार प्रथम मिलन की रात्रि में
कहे पति से

कला मेरा रियाज़ तुम्हारा रक़ीब है
कला मेरा प्रथम प्रेम
दूसरे नंबर पर तुम

तब
पति मुस्कुरा कर कहे
तुम्हारी कला का ता उम्र दीवाना रहूँगा
रियाज़ के वक्त को बंदगी कहूँगा
तुम्हारी स्वतंत्र सत्ता से
प्रेम करूँगा

जिस दिन

पुरुष इस तरह झंकृत होगा
वह समय सारिंदा सा खूबसूरत होगा

उस दिन
पृथ्वी पहनेगी घुँघरू,
खनक उठेंगी समुद्री जलतरंगों की रागिनियाँ
सूर्य के सरोद की संगत पर ताल देगी मनुष्यता

२. बे मुरव्वत

तुम्हारी मृत्यु
मेरे लिए न दुख न सुख है
मैंने पहली बार अनुभव किया
समत्व क्या होता है

तुम्हारी कुचेष्टाएँ तुम्हारा पतित होना
और तुम्हारा संग करना
मैंने पहली बार जाना
बुध्द होना क्या होता है

तुम्हारा मुझमें आसक्त होना
मैंने शिला हो महसूस किया
स्वयं पर
कोई लेख, चित्रकारी का खुदवाना कैसा होता है

तुम्हारे साथ जीना
मैंने पहली बार देखा
कबूतर का,किसी बेमुरव्वत
मिट्टू में परिवर्तित होना कैसे होता है

३. क़ब्रगाह

उसने पूछा, कहाँ रहती हो ?
वह बोली मुर्दाघर में

उसने विस्मय से देखा!!
वह बोली,हाँ
मैं मुर्दा घर में रहती हूँ

चांडाल जब मुझे निर्वस्त्र करता है
मेरी खोपड़ी पर प्रहार करता है
मेरी अस्मिता को अग्नि दाह देता है
मैं अर्थी से उछलकर कूद पड़ती हूँ
चीखती हूँ,जीवित हूँ
देखती हूँ
अपना आस-पास
दिखाई देते हैं स्त्री-पुरुष
लेकिन मेरी दारूण पुकार से
बे खबर वह लाश की तरह
संवेदना शून्य है

कभी-कभी जब दफ़नाया जाता है मुझे
बहुत गहरे जमीन के भीतर
तब उस कब्र से उठती हूँ
हटाती हूँ अपने ऊपर से मिट्टी
वहाँ दिखाई देते हैं गुलाब
जो मेरे प्रियजनों ने रखे हैं
मैं चीखती हूँ, मत रखो मुझ पर गुलाब
मैं अभी जीवित हूँ
सिर्फ़ स्वीकार करो
मेरा जीवित होना

चांडाल को बताओ
यह स्त्री जीवित है

इसे दर्द होता है
और वस्त्र हीन किए जाने पर शर्म आती है
किन्तु देखती हूँ मेंरी कब्र पर
फूल चढ़ा रहे लोगों को मैं दिखाई नहीं देती
मेरी आवाज़ उन्हें सुनाई नहीं देती
सोचती हूँ क्या अदृश्य हो गई हूँ
ओह
मैं मृत हूँ इन सब के लिए
या
यह मृत हैं मेरे लिए
मेरी आवाज़ घुट रही है
अब मुझे यक़ीन हो चुका है
मैं मुर्दाघर में रहती हूँ
चकित हूँ,,,भयभीत हूँ
कहीं मैं भी चांडाल में तब्दील ना हो जाऊं ●

पारुल बंसल
मो. नं.: 8273588382,
bparul659@gmail.com

१. दृढ संकल्प

मुझे बनना है वेदों का हृदय
वो महामृत्युंजय मंत्र
जो गुनगुनाया जाएगा
मेरे मिट जाने के बाद भी
मुझे गढ़नी हैं प्रेम कविताएँ
आकाश रेखा पर
जिन्हें कोई पहनाएगा चुनरी प्रेम की
मेरे मिट जाने के बाद भी

मुझे ढलना है पाषाण में
प्रतिमा-सी
जिसे उकेरा और तराशा जाएगा
मेरे मिट जाने के बाद भी

मुझे बाँधनी है पट्टी पल्लू को चीरकर
आँखों में प्रेम का दर ढूँढते
प्रेयस के घावों पर
जो रहेगी औषधियुक्त
मेरे मिट जाने के बाद भी
मुझे गुनगुनाने हैं रफी के गीत
सुनना है रवींद्र संगीत
जिस की महक फिज़ा में रहेगी
मेरे मिट जाने के बाद भी

नहीं किया जाएगा याद
तो वो होगा
मेरा स्त्री होना....

२. प्रेमपत्रों का संग्रहालय

मैं उन सभी प्रेमियों के प्रेमपत्रों को
दीमक से बचा सुरक्षित रख लेना चाहती हूँ
जिन्हें वे चाहकर भी
अपने पास नहीं सहेज सकते
क्योंकि उनका सहेजा जाना
शायद
उनके भविष्य को दलदल में न धकेल दे

मैं उन पत्रों को नीम के पत्तों के साथ लपेटकर
ऑडोनिल लगाकर रखूँगी
एक ऐसे संग्रहालय में रखूँगी
जहाँ उनके पत्रों को उनके सिवाय
कोई और दूसरा कभी नहीं पढ़ पाएगा
वह मेरे पास अमानत बतौर रहेंगे

उनके इस प्रेम को सहेज पाना
मेरे लिए प्रकृति की सबसे
प्रिय ऋतु बसंत का जीवन भर

मेरे द्वार पर डेरा डाले रखना होगा
दूसरे शब्दों में कहूँ तो मैं
ऋतुराज की बाहें थामे सदा
उनके पहलू में रह सकूँगी

३. वार्तालाप

आज कुछ पुस्तकों को बतियाते देखा
वो मोटी वाली
जो सबसे ऊपर पड़ी थी
बोली पतली से...
मुझे तो नित्य ही धूप, हवा
और कोमल स्पर्श की
गर्माहट मिलती है .....
वह मुझ में रोज ही डूब जाती है
घंटों मेरे साथ बिताती है

पर तुम तो यहाँ कब से
ठंड से ठिठुर रही हो....
त्वचा पर खुश्क पपड़ी,
दरारें और रंगत
पीलिया की शिकायत करती है
जीर्ण-शीर्ण सी हालत है
कोई कसकती पीर झाँकती है
अंतस से तुम्हारे ....

शरीर के आंशिक चिथड़े की
कतरन
इंगित करती है
तिल-तिल मरते जाना
इंतजार मृत्यु का
दीमकों द्वारा
चाट लिया जाना ।

४. स्त्री के अमूल्य प्रहर

स्त्री चौके में सिर्फ रोटियाँ ही नहीं बेलती
वह बेलती है अपनी थकान
पचाती है दुःख
सेकती है सपने
और परोसती है मुट्ठी भर
आसमान
स्त्री चौके में .....

वह रात को बेलती है पति का बिस्तर
घोलती है उनकी थकान
भरती है श्वासों में उजास
ऊर्जान्वित करती है अल सुबह
गढ़ चुंबन सूरज को
स्त्री चौके में ....

वह बुहारती है आसमान
लीपती है धरती
सिलती है लंगोट आसमान का
और चोली धरती की
संवारती है केश नदी -सी नववधू के
स्त्री चौके में ....

५. सावधान

ऐ स्त्री!
तुम मत रख देना
पत्तल भर प्रेम
उसके हृदय की हथेली पर

बचा लेना एक दोने में थोड़ा-सा
जब वो हो जाएगा
फिर से अतृप्त और क्षुधा से व्याकुल

तब देना भेंट में उसे
सदियों से सँजोए हुए
प्रेम के दोने को उसकी धरोहर समझ

जिसे तुरंत लपक....
चटकारे लेगा उंगलियों के पोरों से
चाहे लगी हो
बेतुकी की फफूँदी उसमें....●

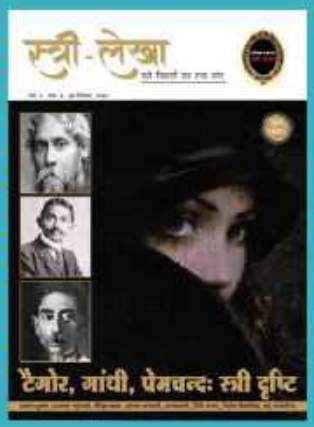

आगामी अंक

फरवरी–मई, 2024

स्त्री रचनाकारों की चर्चित पुस्तकों पर केंद्रित

अग्रिम प्रति बुक कराएं

मेधा बुक्स, मो० नं० 9868425382

ठहरे पानी के गहरे भंवर

डॉ. निधि अग्रवाल

मो० 6386202712

ख़बरों की तासीर वही थी। बस अब उनसे दूरी समाप्त हो चुकी थी। चाइना, इंग्लैंड, अमेरिका जैसी महाशक्तियों को पछाड़ कर, देश में और फिर महानगरों से होते हुए छोटे शहरों को भी नोवेल कोरोनावायरस ने अपनी चपेट में ले लिया था। अदृश्य दुश्मन अधिक घातक होता है। पहली लहर में न रोग के लक्षण ज्ञात थे न उसका निदान। सरकार, डॉक्टर, जनता सब भ्रमित। दूसरी लहर में 'लाइन ऑफ ट्रीटमेंट' निर्धारित हो चुका था लेकिन दुश्मन भी सजग था। उसने नई चाल चली। अब अशक्त और बुज़ुर्ग ही नहीं युवाओं को भी जकड़ लिया। वह पहले से अधिक घातक, अधिक ताक़तवर होकर लौटा। बड़े-बुज़ुर्ग सही कहते हैं दुश्मन को कभी कमज़ोर नहीं समझना चाहिए पर उनकी सुनता कौन है? जब तक हम जीवन जीने का अनुभव और ज्ञान जुटा पाते हैं तब तक हम हाशिए पर धकेल दिए जाते हैं; उपेक्षित, उदासीन, एकांत के सहभागी! सम्भवतः किसी उपेक्षित बुज़ुर्ग का शाप ही वायरस के रूप में फलीभूत हुआ। सबसे दर्दनाक यह आइसोलेशन साबित हो रहा है मरीज़ों के लिए। साँय- साँय करते एकांत में सकारात्मकता बनाए रखना सम्भवतः सबसे बड़ी संजीवनी है। कुछ ऐसे ही विचारों के साथ डॉक्टर तृषा ने कोविड आई. सी. यू. में प्रवेश किया। सबसे अधिक चिंता बेड नंबर-2 के मरीज़ की थी। दो दिन पहले बहुत समझाने पर भी वे भर्ती नहीं हुए थे। कल रात बुरी हालत में लौटे थे। कोविड ने केवल पॉज़िटिव शब्द को नकारात्मकता नहीं दी है बल्कि हैप्पी को भी सेड से जोड़ दिया है। मरीज़ को ऑक्सीजन सेचुरेशन कम होने पर भी कोई बेचैनी नहीं होती। वह स्वयं को सहज महसूस करता है और इसी 'हैप्पी ह्यपोक्सिया' के कारण चिकित्सक तक पहुँचने में देर कर देता है। वे आराम से सोए दिखाई दिए तो तसल्ली हुई। उसने पुकारा, "मिस्टर दीक्षित!" मरीज़ ने करवट ली। आई.सी.यू. इंचार्ज डॉक्टर विपुल ने धीरे से कहा, "ही एक्सपायर्ड लास्ट नाइट। न्यू एडमिशन मिस्टर शर्मा। एज 44, सी.टी. स्कोर 12, ऑक्सीजन सेचुरेशन"

बेड नंबर-10 पर आशा के विपरीत मरीज़ को हेडफ़ोन लगाए, लैपटॉप लिए बैठा देख, मास्क के भीतर एक बड़ी मुस्कान तैर गई। कल देर रात शालिनी नाम की स्कूल अध्यापिका को एक इंजेक्शन के सुपुर्द कर, आवश्यक निर्देश ड्यूटी डॉक्टर व नर्स को देकर घर गई थी। घर कब गई थी?अस्पताल का एक कमरा इन दिनों उसका घर हुआ है। भला हो यह वायरस इस युग में आया है। वीडियो कॉल पर बच्चों की शक्ल दिख जाती है।

"गुड मॉर्निंग डॉक्टर!" शालिनी ने वेव किया।

"बैक टू वर्क?" उसने ऑक्सीजन सैचुरेशन चेक करते हुए कहा।

"बच्चों की पढ़ाई का बहुत नुकसान हुआ न डॉक्टर! देखिए, कितने सारे बच्चों ने गेट वेल सून कार्ड भेजे हैं मुझे।" उसने लैपटॉप स्क्रीन की ओर इशारा करते हुए पुलक के साथ कहा। एक गोला तृषा के गले में फँसा। हाथ से नाइस का इशारा करते हुए वह अन्य मरीज़ों की ओर बढ़ गई। बेड नंबर-4 पर लेटे डॉ. आर. के. उपाध्याय जटिल मरीज़ साबित हो रहे हैं। 70 प्रतिशत फेफड़े संक्रमित होने के पश्चात भी न ऑक्सिजन मास्क लगाते, न उल्टा लेट ब्रीथिंग एक्सरसाइज़ करते। वह डाँटकर मास्क लगवाती और वे उसके जाते ही नोंच फेंकते।

"जब आपको इलाज नहीं कराना तो बेहतर होगा आप घर चले जाए सर। आप स्वयं डॉक्टर हैं, जानते हैं कि इस समय कितने मरीज़ इस पलंग और ऑक्सीजन की प्रतीक्षा में दम तोड़ रहे हैं।" उसने सख़्त लहजे में कहा। "डॉक्टर, कुछ इलाज मौत से अधिक तकलीफ़दायक होते हैं। मेरे जीवन का अब क्या मोल है! परिवार वालों की ज़िद के कारण यहाँ रुकना पड़ रहा है।" पितातुल्य डॉ. उपाध्याय ने नम आँखों से कहा।

उसे अपने शुष्क लहजे पर अफ़सोस हुआ, "उन्हीं की ख़ातिर इलाज में सहयोग कीजिए सर। कल रात तीन घंटे सिर्फ इस मास्क के लिए तीस फ़ोन किए हैं हमने।" स्वर को यथासम्भव नर्म करते हुए कहा पर अंत तक स्वर भीग गया। ऑक्सीजन फ्लो हाई से लो पर सेट करके मास्क लगाते हुए आगे कहा, "हिम्मत रखिए आप ठीक हो जाएँगे।" वह जानती है कैसा गला सूखता है इस नॉन इनवेसिव वेंटिलेशन से। सब टूट रहे हैं। वह स्वयं भी। पर यह क्रूर समय है... इतना क्रूर की शोक में डुबाकर भी अवसाद में डूबने की सहूलियत नहीं दे रहा। जाने वालों को अलविदा कहते ही आपको उन लोगों के लिए मुस्कराना पड़ता है... जो सामने हैं। जीवन जंगल के नियम से चल रहा है। जिसमें बचने की अधिक संभावना है, हम उसका चयन कर ले रहे हैं। जिनके साथ हमारे बचने की अधिक संभावना है हम उनका चयन कर ले रहे हैं। जिन दुखों के उपाय हमारे पास हैं हम केवल उन पर बात कर रहे हैं, जिनके उत्तरों की कोई कुंजी नियति ने नहीं छापी, वे प्रश्नपत्र हमनें दराज़ों में पीछे छुपा दिए हैं। दुखों से अछूता कोई नहीं है लेकिन दुखों से आँखें मूँद लेना जीने की अनिवार्यता बन गई है। सुख की स्मृतियाँ क्षणिक होती हैं। दुख भीतर तक बेधता है। वह गीले आँचल को पकड़ दुबका हुआ साथ बना रहता है। हम आकंठ डूबे हैं। हाथ-पैर बँधे है। डूबने से बचने का एकमात्र उपाय झील में छद्म उमंग का नमक घोल देना है। इस नमक का बोझ हमारी आत्मा पर जन्मों रहने वाला है। आसमान से गिरते फूल, रसोई में बनते व्यंजन, कोविड वॉरियर की ट्रॉफी इस दफ़ा सब बेमानी हुए। मन को ऊर्जा देने कोई नया प्रपंच तलाशना होगा।

इसी समय उसे तलाशता वार्ड बाय चला आया था, "बड़े साहब की टीम आपके चेंबर में बैठी है।" पीपीई किट के अंदर, पसीने से तरबतर तन पर कुछ बूँदों का और इज़ाफ़ा हुआ। वह मरीज़ों का राउंड जूनियर डॉक्टर के सुपुर्द कर चेंबर की ओर बढ़ गई। अभिवादन कर, उनके आदेश की प्रतीक्षा करने लगी। "आप लोग क्या कर रहे हैं?न मीटिंग में आते हैं न आदेश देखते हैं।" उन्होंने सीधे आक्रामक तेवर अपनाए, "आपके पास कितने बेड हैं आईसीयू में?"

"आठ थे आपके आदेशानुसार बारह कर दिए हैं।"

"बारह में कैसे हो पाएगा? समाचार नहीं देखती क्या आप? बीस कीजिए पलंग आईसीयू में।"

"सर!" बेचारगी से कहते हुए उसने उम्मीद भरी नज़रों से साथ आए, प्राइवेट डॉक्टर मेडिकल एसोसिएशन के अध्यक्ष डॉक्टर माथुर की ओर देखा। वे नज़रें चुराकर मेज़ पर रखा पेपर वेट घुमाने लगे।

"सर, ख़ाली बेड से कैसे होगा उतना ही ट्रेंड स्टाफ भी चाहिए। वेंटिलेटर चाहिए। सब चाहिए।"

"क्या..?" उन्होंने चश्मा उतारते हुए तीखे स्वर में कहा। "सर, रोज़ स्टाफ संक्रमित हो रहा है। स्टाफ आधा बचा है मेरे पास और मरीज़ दुगने हैं। मरीज़ मैनेज कैसे होगा?"

"पांडे जी मैडम कह रही हैं नहीं हो पाएगा।" उन्होंने साथ खड़े अधिकारी की ओर मुखातिब होते हुए कहा।

"अस्पताल के बेसमेंट में अल्ट्रासाउंड है?" पांडे जी ने काग़ज़ मेज़ पर बिखेरते हुए पूछा। उसने कहना चाहा इसी कारण रू० 20,000 हर महीने आपके अधिकारी लेकर जाते हैं पर मौन रहना उचित समझा। "बेसमेंट में एलाओ नहीं है। सील करना पड़ेगा मैडम।"

"जी मेरा नहीं है। अन्य डॉक्टर का है। किराए पर है पूरी बिल्डिंग।" उसने महसूस किया कि उसने लैंडमाइन पर पैर रख दिया है। वह साँस रोक, धमाके की प्रतीक्षा करने लगी।

"हम्म!" साहब ने गहरी साँस छोड़ी। मास्क,

रिफ्लेक्स में उनके मुँह से जा चिपका।

"आप पलंग की व्यवस्था करेंगी या हम आपको पीसीपीएनडीटी एक्ट में अंदर करने की व्यवस्था करें।" उनकी आग उगलती आँखें उसके चेहरे पर टिकी थी, "अल्ट्रासाउंड तो भेजती हैं ग्राउंड फ्लोर पर कि नहीं?"

"बिल्डिंग रेजिडेंशियल एरिया में है। सील की जा सकती है।" पांडे ने धूर्त मुस्कान के साथ कहा। वह आग्नेय नेत्रों से पांडे को घूर रही थी जब डॉ. विपुल का स्वर सुनाई दिया।

"जैसा आप चाहेंगे हो जाएगा सर। मैडम रात भर जागी हैं, थकी हुई हैं। हम सब आपके साथ हैं।"

"बेहतर है।" उन्होंने उठते हुए कहा, "शाम तक अरेंज करके आई.सी.यू का वीडियो व्हाट्सएप कीजिए।" "सर, चाय ठंडा कुछ?" डॉक्टर विपुल ने हकलाते हुए निवेदन किया।

"समय है हमारे पास?" उन्होंने आँखे तरेरते हुए प्रतिप्रश्न किया, "हम भी दो महीने से सोए नहीं हैं। आपकी मैडम एक रात में थक गईं।" वे एक उचटती दृष्टि तृषा पर डालते हुए बोले, "दोनों बार कोरोना ने दबोचा है मैडम। तब भी मैदान नहीं छोड़ा हूँ।" टीम चली गई। अपमान से काँपती वह कुर्सी पर बैठ गई।

"आई.सी.यू. है या शादी का शामियाना?जिसे जहाँ जगह मिले पाँव मोड़ कर सो जाएगा।" उसने सारा गुस्सा विपुल पर उतार दिया।

"आपको लगता है कि आपके पास न कहने का विकल्प है?" विपुल ने कहा। वह सही था जानती थी। सिर पर हाथ रख, कुछ देर मौन बैठी रही।

"डीलर से बात करो। करो व्यवस्था। बीस पलंग के साथ सोशल डिस्टेंसिंग कैसे होगी?" वह झुंझलाई, "देखो तुम्हीं।" कहते हुए राउंड पूरा करने निकल गई। जनरल वार्ड की सूरत रेलवे प्लेटफार्म- सी थी, रिसेप्शन की शक्ल रेलवे की टिकट विंडो जैसी। पूरे-पूरे परिवार साथ भर्ती हो रहे हैं जैसे अस्पताल फैमिली वेकेशन डेस्टिनेशन हो। जो संक्रमित नहीं वह अपने परिजनों तक दवाई, खाना पहुँचाने में संक्रमित हो जाते। आप सेवा नहीं कर रहे अपने मरीज़ को मिलने वाली सुविधा बाँट रहे हैं। वह समझाना शुरू करती फिर बीच में ही चुप हो जाती। उसका मन कितने शहरों में बँटा है इन दिनों। बेटा बेंगलुरु में अकेला है खाना बनाना जानता है पर दक्ष तो नहीं है। पति दूसरे शहर सरकारी अस्पताल में कोविड यूनिट हेड। फ़ोन पर दोनों एक दूसरे से नज़र चुराते कह देते हैं 'सब ठीक है'। बेटी विदेश में हॉस्टल में है। पिछले 2 दिन से बुखार है। कहती है, "सरकारी अस्पताल में दिखाया है। वे कहते हैं कि टेस्ट नेगेटिव है। भर्ती नहीं कर सकते।"

"सी.टी. कराया? एक्स रे उतना सही नहीं बता पाता।"

"नहीं बिना डॉक्टर के लिखे नहीं होगा यहाँ।"

"कल ही प्राइवेट में दिखाओ।"

"प्राइवेट में तो बहुत पैसा लगेगा। I can't afford."

"We can't afford to loose you stupid girl." वह चिल्ला पड़ी थी। उफ्फ! यह नेक्स्ट जनरेशन और इनकी आत्मनिर्भरता। पैसे ट्रांसफर करके सख़्त हिदायत दी, तुरन्त कंसल्ट करो। कितना बुलाया वापस। नहीं आती। डरती है कि वापस जाने में समय लगा तो थीसिस डिले हो जाएगी। उसके कई दोस्तों ने इस वर्ष अपने जीवन की सुनहरे अवसर खोए हैं। अवसर तो कल नए मिल जाएँगे। यह समय बस संभल कर साँस लेने का है।

पीपीई किट उतार कर महसूस हुआ जैसे दहकते हुए ज्वालामुखी से बाहर निकली हो। सूट पर महावरी के निशान बन चुके थे पर इन दिनों यह महत्वहीन थे। किसी जीवन को खो देने से बड़ी अन्य कोई लज्जा नहीं। नहाने के पश्चात डिनर करते हुए फ़ोन देखा। माँ की चार मिस्ड कॉल थीं। फ़ोन मिलाया।

"छोटी भाभी भर्ती हैं। उन्हें भी लूस मोशन हुए। बहुत मुश्किल से विधायक से सिफ़ारिश लगवा कर पलंग मिला है। पचास हज़ार एक दिन में लग गया। कैसे इतना महंगा इलाज कराएगी भाभी! तुझे बताया नहीं। पिछले हफ्ते भाई चले गए थे। कोविड मरीज़ों से अस्पताल भरे हैं। कुछ दिन से पेट दर्द था। पेट के डॉक्टर से अपॉइंटमेंट मिला था, अगले हफ़्ते का। पर उसी रात भयंकर लूज़मोशन से पस्त हो गए। कितने ही अस्पतालों के चक्कर लगाए कहीं एडमिशन नहीं मिला अस्पताल के बाहर व्हील चेयर पर बैठे हुए दम तोड़ दिया।" माँ अनवरत रो रही है, "कोविड आने से अन्य बीमारियाँ खत्म हो गईं क्या?उनका इलाज कौन करेगा?" माँ सुबकते हुए पूछ रही है। वह क्या जवाब दे? रिश्तेदारों, मित्रों, मरीज़ों सबको लगातार समझा समझाकर थक गई कि केवल बुखार और खाँसी ही कोविड के लक्षण नहीं हैं। बहुत से मरीज़ पेटदर्द और दस्त के साथ आते हैं और कुछ में एकमात्र लक्षण कमज़ोरी है। बेहतर हो कि किसी भी प्रकार की अस्वस्थता को कोविड ही माना जाए until proved otherwise! किसी भी प्रकार की अस्वस्थता महसूस होने पर सेल्फ आइसोलेशन कर लें ताकि परिवार के अन्य सदस्य बचे रहें। टेस्टिंग नेगेटिव आने पर भी लक्षणों की उपस्थिति में स्वयं को पॉज़िटिव ही मान डॉक्टर से सलाह कर उचित ट्रीटमेंट लें। भावुकता से बचें। मरीज़ के पास जाते हुए पूरी सावधानी बरतें। लेकिन इस समय उन्हें ज्ञान नहीं सांत्वना चाहिए। वह फ़ोन रख झटके से खड़ी हुई। गार्ड को आवाज दी।

"बाहर गेट लॉक तो नहीं किया?"

"कर दिया मैम।"

"खोल दो।"

वह असमंजस में खड़ा रहा।

"खोल दो।" उसने दोहराया।

"मरीज़ों की भीड़ है बाहर। रात को कौन देखेगा?" गार्ड भी बेकाबू होते हालातों को समझ रहा है।

जब ईश्वर ने ही आँखें मूँद ली है तो कौन देख सकता है। तृषा ने मन में सोचा। प्रकट में मायूसी से कहा, "ताला नहीं लगाओ। लोग बहुत उम्मीद लेकर आते हैं।"

गेट खुलते ही बदहवास स्थिति में एक परिवार भीतर आ गया। अट्ठारह साल की बच्ची, ऑक्सीजन सैचुरेशन 70 है। उसके पिता भी अस्वस्थ हैं। इन दिनों वह केवल इलाज नहीं कर रही मरीज़ों का भविष्य भी निर्धारित कर रही है। जाने-अनजाने व्यक्ति की समाज और परिवार में उपयोगिता के अनुरूप प्राथमिकता दे रही है। बच्ची प्रिशा को तुरंत आईसीयू में भर्ती होने की आवश्यकता है। पिता को वार्ड में भर्ती किया। तृषा ने दवाइयों का पर्चा बनाकर व्हील चेयर पर बैठी माँ की ओर बढ़ा दिया।

"अम्माजी, कोई और नहीं है साथ?" झिझक के साथ पूछा। दवाई पाना सरल कब रहा है। मरीज़ सुरसा के मुँह जैसे बढ़ते जा रहे हैं। स्टाफ और चिकित्सक शिद्दत से लगे थे किन्तु संसाधनों और दवाइयों की कमी अवसाद और हताशा का कारण बनती जा रही थी। सोशल मीडिया पर अनेक लोग इंजेक्शन, ऑक्सिजन सिलिंडर और प्लाज़्मा डोनर उपलब्ध कराने का काम कर रहे थे। इस छोटे शहर में रिश्तों में इतनी आत्मीयता बची थी कि प्लाज़्मा डोनर मिल रहा था किंतु प्लाज़्मा थेरपी एक 'प्लेसिबो' से अधिक कारगर साबित होता न दिखती थी। जो दवाइयाँ चाहिए थी उनकी कालाबाज़ारी शुरू हो गई थी। कोविड में दी जाने वाली दवाइयाँ कई गुना दामों पर खरीदने के लिए मरीज़ बाध्य हो रहे थे। किस शहर में कितना महँगा इंजेक्शन बिका, यह चर्चा का विषय बन गया था। ख़बरों की माने तो नकली दवाइयों से भी बाज़ार पटे हुए थे। आरोप-प्रत्यारोप का दौर शुरू हो गया। जनता, सरकार और अस्पतालों को कोसती। सरकार, चिकित्सकों की अक्षमता पर पर ठीकरा फोड़ती। गरीब, अमीर को कोसते दवाइयों के रेट बढ़वाने के लिए। अमीर, गरीब को दोष देते संक्रमण फैलाने के लिए। ज़रूरी दवाइयों की खरीद के लिए प्रशासन से मंजूरी आवश्यक हो गई लेकिन यह प्रयोग भी कालाबाज़ारी रोकने में नाकाफ़ी साबित हुआ। परिजनों के संघर्ष और उनका संक्रमित होने का ख़तरा दोनों बढ़ रहे हैं। ऑक्सीजन सिलेंडर, इंजेक्शन, दवाई आदि की तलाश में वे दिन-रात लगे हुए हैं। अव्यवस्था और जनता में व्याप्त भय के समक्ष सरकार द्वारा किए सारे प्रयास बौने साबित हो रहे थे। अपनी आँखों के आगे तड़पते अपने मरीज़ को बचाने के लिए लोग घर-ज़मीन गिरवी रखकर भी इलाज कराने के लिए तैयार। उन्हें लगता है कि एक इंजेक्शन मिराकल कर देगा। न भी करे तो कम से कम पीछे यह ग्लानि तो न होगी कि अपनों के लिए कुछ कर न सके। एक विकसित सदी में समुचित इलाज के अभाव में अपनों को खोना दुर्भाग्यपूर्ण है। एक वर्ग ऐसा है जिन्हें कोई ख़ौफ़ नहीं, कोई भय नहीं। व्यापारी सदा व्यापारी होता है चाहे वह प्याज़ का हो या दवा का। आपदा में अवसर यही उनका सिद्धान्त है। सही काम करने का एक निश्चित मार्ग होता है। गलत करने के लिए असंख्य पगडंडियाँ। आख़िरकार गेंद चिकित्सकों के पाले में ही रख दी गई। उन्हें कड़े निर्देशों के साथ लिस्ट थमा दी गई कि इन दवाइयों को लिखने पर सख़्त कार्यवाही होगी। डॉक्टर के हाथ इलाज करते हुए बँध गए जबकि मरीज़ के परिजन पूरी गूगल सर्च करके

पहुँचते। व्हाट्सएप ग्रुपस पर प्रतिदिन एक नई मिराकल ड्रग का मैसेज वायरल हो जाता। परिजन हर कीमत पर उन्हें अपने मरीज़ के लिए पाना चाहते। तृषा को लगता कुछ दिन इंटरनेट बंद कर दिया जाए तो संभवतः समस्याएँ और श्रम आधा हो जाए। संसाधन लिमिटेड थे। सोशल मीडिया ने उन्हें अपने संपर्क से वर्ग विशेष के पक्ष में डायवर्ट कर दिया था। लोग गुमराह भी हो रहे थे। दिए गए अधिकतर नम्बर बन्द आते। क्या बेहतर न हो कि कोई भी हेल्प लाइन नम्बर फारवर्ड करने से पहले उसकी सत्यता जाँच ली जाए और किसी को बेड, ऑक्सीजन दिलाते हुए भी यथासम्भव सुनिश्चित कर लें कि वह ज़रूरतमंद है। ऐसा न हो कि बड़े नामों की सिफारिश के कारण किसी ज़रूरतमंद के स्थान पर कम गम्भीर मरीज़ भर्ती हो जाए। अगर तीसरी लहर का आना निश्चित है तो बेहतर हो कि सोशल मीडिया पर भी, सुनियोजित ढंग से जानकारी और मदद पहुँचाने के लिए एक तंत्र विकसित हो जाए। उसके समक्ष डॉक्टर सक्सेना का चेहरा घूम जाता जो बेहतर इलाज की आस लिए दिल्ली के बड़े अस्पताल गए थे किंतु वहाँ पहुँच कर पता चला कि पलँग किसी अन्य मरीज़ को दे दिया गया है। अन्य कई अस्पतालों से निराशाजनक उत्तर पा, वापस आना एकमात्र विकल्प था किंतु वापसी के सफर में साँस साथ छोड़ चुकी थी।

समस्याएँ हर स्तर पर थी 'मेडिकल वेस्ट कलेक्शन' की गाड़ी नहीं आ रही थी। उनका कहना था कि उनके दोनों ड्राइवर संक्रमित हैं। तृषा के अस्पताल के आठ सफाईकर्मियों में से दो गाँव चले गए थे। दो के परिवारजन बीमार। कोई भी नई नियुक्ति इस समय सम्भव नहीं थी।

प्रिशा और उसके पिता दोनों की हालत लगातार बिगड़ रही है। पिछले दो दिन से वह आईसीयू में खड़े होकर अपनी निगरानी में प्रिशा को मैनेज करा रही है। युवाओं को यह बीमारी बुरी तरह ठग रही है। स्टेबल दिखता मरीज़ अचानक 'फॉल' कर जाता। अन्य मरीज़ों के परिजनों ने मुश्किल से जुटाए इंजेक्शन में से एक-एक प्रिशा के लिए दे दिया। यह वायरस इंसानियत के इस ज़ज्बे से ज़रूर मात खाएगा।

एक यंग लड़का दाखिल हुआ है। वह अपनी बीमार माँ की सेवा करने विदेश से आया था। माँ घर पर ही सम्भल गई किन्तु इस लड़के की हालत नाजुक है। डॉक्टर विपुल ने अपने पिता को वार्ड में शिफ्ट कर, उनका वेंटीलेटर इस नए मरीज़ को लगा दिया है। इन छोटी-छोटी घटनाओं को कहीं दर्ज नहीं किया जाएगा। मानव जाति का भयावह समय क्या केवल दवाइयों की कालाबाज़ारी के लिए याद किया जाएगा?

प्रिशा के पिता हाँफ रहे हैं। दर्द से चेहरा लाल हो जा रहा है। उसकी माँ रोते हुए कह रही है

"वेंटिलेटर पर ले लीजिए।"

"कोई ख़ाली नहीं। जहाँ मिले वहाँ ले जाइए।"

"कब तक ख़ाली होने की उम्मीद है?"

वेंटिलेटर का ख़ाली होना इन दिनों दुखद समाचार साथ लाता है। उन्हें रोता छोड़ वह आगे बढ़ गई। उसका मन विचलित है। सुबह डाक्टर सुनेत्रा का बिलखते हुए फ़ोन आया था- "तृषा मेरी सहेली मर रही है। पलंग दे दे। saturation 30% फॉल कर गया है। मेडिकल कॉलेज के बाहर एम्बुलेंस में पूरी रात निकल गई। अर्जेंट वेंटिलेटर चाहिए। सिंगल पैरेंट है यार। कुछ कर।" वह तबसे डी एम पोर्टल पर नज़र रखे हैं। पलंग ख़ाली दिखने पर उस अस्पताल के डॉक्टर को फ़ोन करती है तो एक ही जवाब मिलता है। पहले ही किसी बड़े अधिकारी का फ़ोन आ चुका है।

माँ के लगातार फ़ोन आ रहे हैं उनके आसपास से कितने ही दोस्त रिश्तेदार बीते दस दिन में चले गए। अपने भाई और भाभी को खोने के बाद एक अनिष्ट शंका उनके मन में घर कर गई है। वह अकेली नहीं है बहुत से लोग इस एंग्जायटी फेज़ से गुज़र रहे हैं। वे घबरा रही है कि कुछ हो गया तो कैसे इलाज मिलेगा?तृषा सोच रही है कि उन्हें बुलाने में संक्रमण का अधिक खतरा है या उन्हें वहाँ रखने में। उसे दो पलंग और वेंटिलेटर अपने करीबी लोगों के लिए रोकने चाहिए। यह बीमारी कब किसे कब्ज़े में ले ले, कोई भरोसा नहीं।

प्रिशा के निर्जीव शरीर के पास खड़े वह सिहर रही है। बेटी ने संदेश भेजा है कि कल से स्वाद और गंध नहीं आ रही। "पलँग का स्टेटस अभी अपडेट नहीं करना।" वह स्टाफ को सख़्त हिदायत देते हुए डॉक्टर सुनेत्रा को फ़ोन मिला रही है।

"मैम, भेज...।"

"नहीं बची। मेडिकल कॉलेज के बाहर पूरी रात एम्बुलेंस में पड़ी रही। अब दम...।"

उसने आगे सुने बिना फ़ोन रख दिया।

"प्रिशा के पापा को शिफ्ट करो।"

"फैमिली को तो इन्फॉर्म करना होगा मैम। बॉडी देनी होगी।"

"बॉडी देखकर वे जीवित बचना चाहेंगे क्या?बॉडी को दूसरे कमरे में रखो अभी। बेड सेनीटाइज़ करके शिफ्ट कराओ।"

बॉडी को शिफ्ट कराते तृषा ने देखा ओ.टी. में दो ऑक्सिजन पोर्ट हैं। इमरजेंसी में उन्हें इस्तेमाल किया जा सकता है। उसने राहत की साँस ली।

एक बुज़ुर्ग महिला ऑक्सीजन सैचुरेशन-50 सीटी स्कोर-16, डायबिटिक, बचने की कोई गुंजाइश नहीं दिखती। उनका बेटा शशिकांत आँसुओं से रो रहा है। बार-बार पैर पकड़ने के लिए आगे बढ़ रहा है। कहता है हर ओर से निराश होकर आपके पास आए हैं। डॉ विपुल लाचारी से कहते हैं, "अब कोई बेड नहीं बचा। हम और मरीज़ों को सम्भालने की स्थिति में नहीं हैं।"

"कुछ भी करिए। कहीं तो जगह दे दीजिए। मर जाएँगी।" वह हाथ जोड़ रहा है।

"आईसीयू के बराबर, ओ टी में दो ऑक्सीजन वेंट है। कुछ और व्यवस्था होने तक उसी पर ले लो।"

"हम्म! डॉक्टर विपुल ने ठिठक कर पल भर सोचा, "आप लोग कोशिश करते रहिए कहीं और जगह हो तो तुरन्त शिफ्ट करिएगा।" कहकर मरीज़ के इलाज़ में लग गए।

आई सी यू के बाहर प्रिशा की मम्मी मुँह में पल्ला दिए सिसक रही हैं। पलँग की कीमत बहुत भारी पड़ी है उनपर। दो नर्स उनके साथ बैठी हैं। तृषा का शब्दों से भरोसा उठ चुका है। वह कुछ नहीं कहती।

"परिवार में और कोई नहीं?" एक नर्स ने पूछा।

वे न में सिर हिलाती हैं।

"दाह संस्कार कौन करेगा?" वह भरसक मुलायमियत से पूछती है। वे मौन सिसकती रहती हैं।

"अंकल के पास हम हैं। आपके साथ स्टाफ को भेज दूँ? लड़के नम्बर लगवा देंगे वहाँ।"

वे साथ खड़ी नर्स का हाथ पकड़, रोती रहीं। दवाइयों से अधिक मानसिक संबल की ज़रूरत है इन दिनों। शब्दों से अधिक स्पर्श की। तृषा ने स्टाफ से एक लड़के को भेज दिया। मौत बिना नम्बर दिए आ रही थी और श्मशान में नम्बर लग रहे थे। इसी बीच कुछ एन जी ओ ऐसे परिवारों की मदद के लिए आगे आए हैं जिनके पास अपेक्षित भाग-दौड़ के लिए कोई नहीं।

शशिकांत गुस्से से भरा चैम्बर में आया है।

"मम्मी को सीने में दर्द हो रहा है। उन्हें कोई देख नहीं रहा। उनके साथ के पलँग पर डेडबॉडी है। आप ऐसा कैसे कर सकते हैं। लूट मची है। मनमानी हो रही है।"

ओ टी अटेंडेंट फ़ोन पर बताता है कि मरीज़ स्टेबल है। प्रिशा के पापा को शिफ्ट करते हुए कुछ समय के लिए उसका स्ट्रेचर ओ टी में रख दिया गया था। वह स्थिति स्पष्ट करते हुए माफ़ी माँगती है पर वह सुनने के लिए तैयार नहीं। समय रुका है पर समस्याएँ नहीं। ठहरे हुए पानी में गहरे भँवर हैं।

"आप जहाँ चाहें मरीज़ को ले जा सकते हैं। काउंटर पर डिस्चार्ज पेपर बन जाएंगे।" कहते हुए वह उठ खड़ी हुई।

प्रिशा की मम्मी को बुखार आ गया है। वह अपनी सोने की चेन और तीस हजार रुपए देते हुए कहती हैं, "हम दोनों को कुछ हो जाए तो अंतिम संस्कार करवा देना बेटी।"

"आप दोनों जल्द ठीक हो कर घर जाएँगे।" वह सामान लौटाते हुए कहती है।

"किस लिए? साथ रोने के लिए!" वे सुबक रही हैं।

साथ रोना भी एक सुख है सम्भवतः! तृषा मन में सोचती हुई आगे बढ़ गई।

रात बारह बजे इनफर्टिलिटी ट्रीटमेंट की आठ महीने की एक जच्चा लेबर पेन के साथ आई है। बच्चे का सिर नीचे आ चुका है। इस दुनिया में आने की ऐसी आतुरता किसलिए बच्चे! वह बुदबुदाती है।

किसी दूसरे अस्पताल में शशिकांत की मम्मी की मृत्यु हो गई है। वह और उसके साथी रिसेप्शन पर तोड़-फोड़ कर रहे हैं। गार्ड यथासम्भव उन्हें रोकने का प्रयास कर रहे हैं। पुलिस जाने कब आएगी! अभी तो दो नन्हे फ़रिश्तें आए हैं। उन्हें उनकी माँ के सुपुर्द करते हुए लेबर रूम मुस्करा उठा है। भले ही जीवन में प्रवाह नहीं है। खंडों में बंट गया है किन्तु कुछ खंड आलोक से भरे हैं। ●

घर गुम गया है

(कोरोना काल)

(कोरोना काल में पूरी दुनिया दहशत में थी। उस दहशत और बेचैनी को लोगों ने अपनी कला में अभिव्यक्त किया। हिंदी की वरिष्ठ कथाकार प्रत्यक्षा की डायरी के कुछ पन्ने हाज़िर हैं)

दुनिया बदलती जा रही है, हम भी। लौटना ही आगे बढ़ना है। लौटें हम सब अपने घरों में, अपने भीतर, बाहर का शोर मद्धम होता जा रहा है। Man is a social animal. फिर सोशल डिस्टेंसिंग का पूरा लूप।

यहाँ मैं और हर्षिल। वहाँ संतोष और पाखी। पाखी सेल्फ क्वारन टाईन में। कमरा बन्द। सिर्फ खाना देने के लिए दरवाज़ा खुलता है। हम सब वीडियो कॉल से जुड़े हैं। एक घर में रहते संतोष और पाखी भी।

सविता आसमां की छुट्टी है। इस्लाम जो व्हिस्की को घुमाता है, की छुट्टी है। माली मुझे फोन करता है, यहाँ जम्मू में, हैरत से कि उसे कॉलोनी में घुसने क्यों नही दिया जा रहा। उसे कहती हूँ, हिफाजत से रहिये, चिंता न करिये, कोई पैसे नहीं कटेंगे, कुछ और भी मिल जाएगा। पाखी फोन पर कहती है, आसमां दीदी और सविता दीदी की चिंता हो रही है माँ। बात कर लो, उसे समझाती हूँ, मैं भी उनको आश्वासन देती हूँ।

हम दफ्तर में वर्क फ्रॉम होम की तैयारी में जुटे थे। सैप, ई ऑफिस वगैरह। पिछले हफ्ते से काम में ये अरेंज करना भी एक काम रहा। दफ्तर के हाउस्कीपींग और सेक्यूरिटी स्टाफ की सुरक्षा, कॉलोनी में कैसे रोक थाम की जाय, जैसे युद्ध काल है। कल दफ्तर से लौटते गेट पर घुसते ही गार्ड ने हाथ धोने को कहा, साबुन पानी सैनीटाइजर।

सैनीटाइजर की महक भविष्य के दिनों में इस वाइरस काल की पहचान होगी मेरे स्मृति में

दिहाड़ी करने वाले लोग कैसे ज़िंदा रहेंगे? हम आप तो बचा लेंगे। उनका क्या होगा? मन जैसे सुन्न हुआ पड़ा है।

वरिष्ठ कथाकार प्रत्यक्षा, मो० 9910378169

दिन रात सिर्फ एक ही बात। दुनिया कोई डिसटोपियन फ़िल्म का घटिया संस्करण हो गई है।

क्या ये प्रकृति का बदला है?अपनी जगह को रिकलेम करने का नैचुरल लॉ?

मैं किसी और भूगोल में हूँ, जैसे सिर्फ एक द्रष्टा। न पढ़ पा रही न सोच पा रही। बाहर एक नई दुनिया से अपना राब्ता बनाने की कोशिश। सड़कें खाली हैं। सब सन्नाटा है।

28/02/2020
सुबह चार बजे

रोज़ एक ख़त लिखा जाए
रोज़ ज़रा संगीत
शायद थोड़ा रंग?
रोज़ नाच
रोज़ पकाना
रोज़ गप
रोज़ कुछ देर अपने भीतर बहुत
रोज़ कुछ दुनिया की फिकर
रोज़ सोचना
रोज़ गुनना
रोज़ कुछ समझना इस जीवन को
रोज़ इसी तरह निकलेंगे दिन
रोज़ कुछ आशा में
रोज़ ओह रोज़
कि अब भी रोज़ बचे रहें
कुछ रोज़

26 / 03 / 2020
रात दस बज कर पैंतीस मिनट

.....

सुबह घबड़ाहट में नींद खुलती है। कुछ बुरा हुआ है जैसा आभास मुँह में अनमने बेस्वाद सा उभरता है। बहुत बुखार के बाद की सुबह सा

एक महीने पहले घर था। अब दुनिया नहीं है। आसपास की हवा बदल गई है। उसकी बुनावट अलग है। मन टंगा है सर के ऊपर, हवा में गोल स्थिर, सब देखता बूझता फिर भी सब से अलग निसंग।

उस मजदूर औरत के संग हूँ जिसका घर बार उजड़ गया है। न यहाँ रहा न किसी देहात में बचा। क्या सोचते निकले होंगे जत्थे के जत्थे, पोटली गठरी में असबाब, कुछ चना चबैना। हज़ारो मील, धूप में, बरसात में, दुख में तकलीफ और आशंका में। बचेंगे कि मरेंगे। जैसे दुनिया रिवाइंड हो रही हो, धीमे-धीमे उल्टी घूमती हुई। बहुत आगे बढ़े अब लौटो लौटो, उलटे पाँव।

ये तस्वीरें उन तस्वीरों की याद दिलाती हैं उन्नीस सौ सैंतालीस के रिफ्यूज़ी जत्थों की, विश्व युद्ध के बाद नात्सी यातना शिविरों से बचे हुए यहूदियों के लौटने की, कार्तिये ब्रेसों की ल रितू के दृश्य, और पहले प्रागैतिहासिक काल में महा द्वीपों को पार करते नियंडरथल मानव, भैंसे, अन्य जानवर। जब दुनिया बन रही थी। अब बिगड़ रही है। किसका बलिदान मांग रही है धरती, वो फिर चालाकी से बच निकलेंगे, जिनके पास पैसा है, ताकत है। सर्वाइवल ऑफ द फिटेस्ट। इस धरती पर कमज़ोर के लिए कोई जगह नहीं। कोई इंसाफ नहीं।

मैं उन सी कमज़ोर नहीं। मैं उन सी ताकतवर नहीं। दुख और ग्लानि से मेरी छाती भरती है। कायर को भी जीने का क्या अधिकार और बहादुर तो हमेशा शहीद होते हैं।

ये भूत शहर, कोई दिखता नहीं। ये घर अब वो घर नहीं रहा। एक जम्हाई में उलट गया है। दिन हैं खूब लंबे। बीतते हैं कोई हबड़ तबड़ में। काम काम काम। शायद अगले हफ्ते काम कम हो तो सोचूँ इस गुम गए घर को खोजूँ। कल गीतांजलि ने वॉल्टेयर को याद करते कहा था, टेंडिंग यॉर गार्डेन। मुझे अपने बाग़ को सींचना है। मिट्टी को नम आत्मा को तर। पर पहले घर खोजना है, बाहर धूप है, आश्चर्य कि नीला आसमान है, सन्नाटा है। मेरे भीतर भी एक चुप है जो बोलना नहीं चाहता।

डायरी ख़त
29 / 03 / 20
सुबह छह बज के सात मिनट

.....

हमारे अंदर एक डर काम करता था, बेआवाज़ बेवजूद डर। खोजो तो जाने कहाँ छिप जाता। तब लगता कि कहाँ है?है क्या ये?उसके आउटलाईंस फ़ज़ी हो जाते और फिर विलीन। जब बेफिक्र रहो तो जाने किधर से आकर झपट्टा मार दबोच लेता। तब लगता कि इससे बड़ा और सच क्या?छाती को अपने मुट्ठी में भींच लेता, ऐसा कि कतरा कतरा चू जाता और हम सिर्फ एक खोल बच जाते। बीच में एक इतना बड़ा छेद जिससे सब आर पार हो सकता। न होता होगा पर ये डर बना रहता कि आर पार हो सकता है। ये हो सक जाने का तर्क मार डालता।

28 / 03 / 20
सात बजे शाम

.....

बेला तार की द ट्यूरीन हॉर्स में पहले दिन किसान और उसकी बेटी का गर्म भपाये आलूओं को छीलना और खाना, इतना गर्म कि हाथ फूँकना पड़े और इतनी भूख कि बावजूद मुँह में ऐसे हबड़ तबड़ डाला जाये फिर निस्पृह खिड़की से बाहर देखना जैसे इस भूख का वास्ता किसी और का था, कि उसके भीतर कोई और था जो भोगता दृष्टा था

लौट रहे हम भीतर भीतर। सालों सालों बाद जैसे ये पुरानी अनुभूति कि दिन बीतेंगे नहीं कभी। हमेशा धूप रहेगी, किताबों का तिलस्मी संसार रहेगा, कमरे में कहीं मां की हँसी होगी, पापा लेटे मुस्कुरायेंगे कहेंगे कोई किस्सा और हम किसी गुनगुनाहट में उस सुंदर पल को फिर फिर देखेंगे, जब चाहे उसका हिस्सा जब चाहे द्रष्टा।

बाहर बोगनविलिया खिल रहा है, बैंगनी नारंगी सफेद, झड़ रहा है नीचे फर्श पर। गिरे फूलों को एहतियातन उठा कर गमले के एक कोने धर देती हूँ, झाड़ू से पानी सीट देने का मासूम सुख। भीतर कोई चीज़ थिर है आज। देखती हूँ कोई दुबली लड़की पानी गिरा गिरा दुहरा कर हंस रही है।

खुद को देखना, समय के पार से देखना, द्रष्टा।

डायरी ख़त
30 / 03 / 2020
सुबह नौ चालीस

.....

एक पतंग उड़ाया आसमान में

गिन कर बीस कदम एक तरफ, हॉल पार हो जाता है। कमरे से हॉल से लॉबी, वापस, साथ कुछ देर रफी चले, पुकारता चला हूँ मैं, फिर ग़ालिब साथ हो लिए, दिल का क्या रंग करूँ, खूने ज़िगर होने तक

आज आसमां का हाल लिया सविता का। आसमां दो दिन पर फोन करती है, दीदी आपका चिंता हो रही है, मैं उसकी करती हूँ। सविता कहती है बोर हो रहे हैं, दिन भर काम के बाद की छुट्टी भली। इस्लाम को पूछते हैं बाबू पैसा कैसे लोगे, पेटीएम क्या, और क्या ज़रूरत बताओ, कहता है, मायूस, मैं आया था मुझे गेट से घुसने नहीं दिया। काम न कर पाने की ग्लानि उसकी आवाज़ में। पुचकार कर कहते हैं कोई बात नहीं। सब काम पर लौटना चाहते हैं। किसी का पैसा नहीं कटेगा फिर भी ऐसी छुट्टी नहीं चाहिए। पर कितने तो ऐसे होंगे जिनको बोर होने की लक्ज़री नहीं। उनके लिए घर बैठना मौत का साया है। कितने सपने मर गए, कितने लोग।

दफ्तर के फाइल्स में कॉन्ट्रैक्ट लेबर को सामान मुहैया कराने के प्रस्ताव को साढ़े छह बजे सुबह, चाय पीते, आगे बढ़ाती हूँ। कल सैलरी रुकी कि एक दिन की तनख्वाह रिलीफ केयर फंड में जा सके सबकी।

ये सब बूंद बूंद करना है। ये बहुत कम है। लोगों की मदद की कहानियाँ सुन रही हूँ। कल वीसी में एक सहकर्मी ने बताया कोई कनिष्ठ अधिकारी ने पूरा पीआर पी रिलीफ फंड में दिया। इस बात को उसने तीन दफा दुहराया।

हम सब छोटे तरीकों से, जितना जहाँ हो सके, किसी सामूहिक कर्म की तरह करें, मनुष्यता के नाते करें, करें कि इसी में त्राण है।

हम बचें, हम में मनुष्यता कितनी बचती है, ये दुनिया ये धरती बचती है, कितनी,

सुबह घर में जूते पहन, कोल्हू के बैल की तरह गोल गोल चक्कर मारते, मन मेडिटेशन में चला जाता है। कुछ देर बाद साँस रहती है, शरीर का लय रहता है, सुबह की ताज़ी हवा, कुछ चिड़ियों की चहचहाहट, बोगनविलिया के टूट कर खिलते फूल,

इस दुहराव में जीवन की गति है। दूर बैठे अपने दोस्तों संगियों से बिना बात किये भी एक सुर। जैसे सबसे बात कर रही हूँ बिना बोले। और ये ख़त भी तो उन्हीं को लिख रही हूँ, घर के भीतर के सन्नाटे से एक पतंग उड़ाया है आसमान में

डायरी ख़त
31 / 03 / 2020
सुबह आठ बज कर सैंतीस मिनट

.....

दस साल पुरानी तस्वीर, लेक लूसर्न। जब दुनिया नार्मल थी। जब हम घूमने जा सकते थे। अब निकलना घर से जब एकदम टाला न जा सके। इस तस्वीर को डालते भी एक किस्म की ग्लानि है फिर भी पुरानी सुंदर स्मृतियां। ये दुनिया वो दुनिया

डायरी ख़त
सुबह सात पचपन
04 / 04 / 2020

.....

कल ये साईनाथ का लेक्चर सुन रही थी शाम को। दिन में ख्याल उन विस्थापित मजदूरों का आता रहा। घर पहुँचे वो या मर खप गए। क्या हुआ उसकी कोई रिपोर्टिंग क्यों नहीं।

और इसी मनस्थिति में, इसी बात की चर्चा करते कल पाखी से जब उसने अपना कोई सबमिशन पढ़ाया जिसमें उसने दो बातें उद्धृत की थीं,

एक जूडिथ बटलर की

There is a life that will never have been lived, sustained by no regard, no testimony, and ungrieved when lost.

और

As if there was no life and there was no death.

तो लगा इस घटना की इससे सटीक और सही व्याख्या सिर्फ यही हो सकती है।

इसी सिलसिले में अरुंधती राय का लेख, द पैंडेमिक इज़ आ पोर्टल, जिसमें वो ज़िक्र करती हैं, कोई कहता है, उन्होंने हमारे बारे में सोचा ही नहीं। ये मज़दूरों के हज़ार किलोमीटर, लॉक डाउन स्थिति में, घर लौटने की विदारक मार्मिक त्रासदी के संदर्भ में है।

दूसरी, फिर साईनाथ की पुरानी एक बातचीत झारखंड के आदिवासी रामजीत बिरहोर से, जब वो उन्हें बताते हैं कि आज इंटरनेशनल इंडीजीनस पीपल्स डे है, जिस पर बिरहोर चुप हो जाते हैं कुछ देर फिर ठहर कर कहते हैं अच्छा ऐसा अगर ऐसा होता तो हम इस हाल में नहीं होते

डायरी/ख़त
04 / 04 / 2020
सुबह नौ बज कर पांच मिनट

.....

बाहर हवा है, सब पेड़ झूम रहे, सूखे पत्तों पर भी एक रौनक, गमले में जो अनाम पौधा है उसमें अरसे बाद एक फूल खिला है

दिन भर काम है, दफ्तर का घर का। इसी में मन रमने के उपाय हैं। काम के बीच देश दुनिया की खबर। रोज़ कोरोना न्यूज़ लाइव पर न्यू डेथ देखती हूँ। कल सत्तर हजार, आज चौहत्तर। लोग मर रहे हैं, रोज़। घर के भीतर हम किसी मुगालते में हैं कि हम बच जाएंगे, संगीत और शब्द हमें बचा ले जाएंगे, बचपन में पढ़ा बीसीजी का टीका बचा ले जाएगा। हम रच रच कर खाना पकाएंगे, कविता पढ़ेंगे, बच्चों को गले लगा उन सुनहरे दिनों की कहानियां सुनाएंगे जबकि बाहर कोई साइंस फिक्शन सिनेमा खेला जा रहा होगा और हम अपने जीवन के कारोबार में मगन होंगे, बचे होंगे

नौ बज चुके हैं और दफ्तर का काम शुरू करना चाहिए। जबकि सुबह उठकर एक घंटे काम कर लिया जा चुका है। मन के भीतर की दुनिया स्थिर जल की तरह शांत है, कैसी अचरज की बात है।

इस पुरानी तस्वीर में कितना ठहराव है। हर पल जो तब था, अब क्यों नहीं है

डायरी/ खत
07 / 04 / 2020
नौ बज कर सात मिनट

.....

साईकिल भीतर है मन भी, आसमान पौधे, कबूतर ने बोगनविलिया के गमले में एक अंडा दिया है। मैंने झरे फूल से ढक दिया है। बहुत तीखी धूप है। बहुत बचपन याद आता है, पापा माँ की हँसी, बहुत कहानियाँ कहती हूँ उनकी आजकल।

रसोई साफ करते, बर्तन धोते खाना पकाते, कढ़ाही में कलछुल चलाते, एक मौज है भीतर।

ये भी कोपिंग मेकेनिज़्म होगा। हर रोज़ के बढ़ते मौत के खौफ के बीच इतना स्थिर होना।

इस तस्वीर में कितना ठहराव है। बहुत साल बाद जब देखूंगी इसे सोचूँगी, उस खौफनाक समय की कैसी ठहरी हुई कहानी थी। या तो मेरी याद धोखा दे रही है या समय कैसा भ्रमजाल पैदा करता है। मन जब खेल ही हैं, माया ही है, जो पल तब था अब है फिर कोई दुनिया नहीं। सब कोई साइकेडेलिक प्रोजेक्शन भर।

हम सब लेटे हैं सतर स्थिर शांत और दुनिया घूम रही बदस्तूर। ये पल, इस तस्वीर का पल, हमेशा जड़ा रहेगा किसी कॉस्मिक व्हाइट बोर्ड पर, पुरानी फटी पीली पड़ी तस्वीरें जैसे अल्बम में

डायरी / ख़त
11 / 04 / 2020
समय आठ बज कर सत्रह मिनट

.....

चौथी तस्वीर

कुछ कुकुरमुत्ते हैं और ये हाथी। इसकी पीठ पर महीन कलाकारी और कान तो देखिए। पूंछ और सूंड गायब हैं पर उनकी भी अलग कहानी। एक दम नाजुक सुबुक पतली। इस भारी को कलात्मक कर्व देती।

ब्लैक एंड व्हाइट तस्वीरों का टेक्सचर कितना सघन होता है

अब चूंकि घर बंद हैं और तस्वीरें घर की रोज़मर्रा रहन की हैं, उन्हीं को अलग आंखों से देखने की कवायद है। भीतर की आंख ऐसे खुलती है। कई चीजों के बिना रहना अच्छा लग रहा है जैसे बेसिक का महत्त्व समझ आये फिर।

चीनी नहीं है, मिल भी जाएगा फिर न भी हो ठीक ही है बल्कि अच्छा भला तो है। कम कम कम बस मन और और ज़्यादा

डायरी/ख़त
14 / 04 / 2020
सुबह सात बत्तीस

.....

चौथी तस्वीर

कमरे का एक कोना, जहाँ खिड़की है, लैम्प है, सोफा है और ये छतरी जो आगरा से ली गई थी, बल्कि तोहफा था, तेज का, और कई दिन पड़ा रहा कि किया जाय इसका। फिर जैसे हर चीज़ हर बात की नियत जगह और तय शुदा वक्त होता है, ये छतरी चंदोबे की तरह तन गई।

तो जब यहां बैठ कर कोई किताब पढ़ी जा रही होती है, छतरी ऊपर तनी, नीले रंग की, आसमान बन जाती है। थोड़ा सा बाहर भीतर आ जाता है।

घर में बैठे कोई क्या करे। पढ़ा भी नहीं जाता। मन स्थिर नहीं। पर उम्मीद है ये कोना फिर आबाद होगा।

अभी इस दुनिया के दस्तूर पर मन खराब हो रहा। भूख से, बीमारी से, कोई मरता होगा जब हम कमरों में बंद कविता लिखते होंगे।

इससे बड़ा झूठ क्या हो सकता है अस्तित्व का।

डायरी / ख़त
15 / 04 / 2020
दोपहर ग्यारह पचपन

.....

कल से माइग्रेन। फिर दफ्तर का बहुत काम। रात तक काम चलता रहा। खुली ताज़ी हवा और बाहर सैर नियामत है अब, कल तक जिसे भाव न देते बल्कि कुछ कुड़बुड़ाते निकलते टहलने, अब किस लालसा से याद करते, छह आठ महीने ही तो हुए जब रात निकलते, गाना सुनते, सप्तपर्णी महकते, चांद की शीतलता में। गाना सुनते,

जमुना किनारे मोरा गांव

अब भीतर हैं। घर भीतर है, मन बाहर है। उस सब जगहों को याद करता जैसे किसी और वक्त की बात हो, किसी और शख़्स की बात हो।

18 / 04 / 2020
डायरी ख़त
सुबह आठ बज कर अठारह मिनट

.....

मेमोरी पॉप अप भी क्या मज़ेदार टर्म है। मंकी माइंड जैसा। इस पॉप अप तस्वीर ने एक दुनिया याद दिला दी।

बालकनी के रेलिंग के निचले हिस्से में जो अनगढ़ तार है, मैंने और संतोष ने बांधा था। पाखी कुछ आठ नौ महीने की थी और रेलिंग के फांक में दो बार उसने अपना सर फंसाया था।

कितना लाल चेहरा कर रोई थी। हर्षिल बच्चा कितना घबड़ाकर चीखा था। मेरे हाथ पांव दिमाग सब सुन्न। संतोष बाहर था। पता नहीं उस चीख पुकार, और नीचे पड़ोसियों के इकट्ठा के बीच किसी एंगल से सर फिर निकल आया था।

अब हँसते हैं, जब फंसाया था तो निकलना भी था ही। पर उस हरारत को याद करते लगता है कितना मासूम समय था। या फिर समय तकलीफ की स्मृति को धो पोंछ रगड़ घसड कर चिकना देता है। तकलीफ के रफ एजेस पुछ जाते हैं।

इस समय को भी बाद में देखने पर ऐसा ही लगेगा क्या?कहेंगे हम कितना मासूम समय था, उफ्फ जब कि लोग मर रहे हैं, उनकी स्मृतियाँ भी। सिर्फ ज़िंदा लोगों में स्मृति बाकी होती है। सिर्फ ज़िंदा लोग दुख पाते हैं। सिर्फ ज़िंदा लोग वक्त को दर्ज करते करते मर जाते हैं मार दिए जाते हैं। इतिहास के पन्नो पर फुटनोट बच जाता है।

डायरी / ख़त
04 / 05 / 2020
सुबह साढ़े सात

.....

एक निर्वात यमुना जल सा

कलासो पढ़ रही हूँ, 'का' का तेरहवाँ हिस्सा। इस समय का जैसे प्रतिबिंब हो। पढ़ते कई बार शरीर सिहर गया, आँख गीली हुई, मन भर आया। जैसे इस संसार का रहस्य बस अभी प्रगट होने चला है, ओझल लेकिन कहीं से ज़रा झलक दिखलाता हुआ।

अर्जुन कहते हैं, मैं शहर छोड़ आज यमुना तीर जाना चाहता हूँ, कृष्ण कहते हैं, मैं भी

सब एक रंग भरे बारात में निकलते हैं, द्रौपदी सुभद्रा, दासियाँ, सहेलियां, आभूषण से लदी राजसी स्त्रियां और प्रस्थान करते इस समूह के अंत में सिर्फ दो पुरुष, कृष्ण अर्जुन

धूप में चमकती यमुना की धारा और पीछे खांडव वन। हवा में बांसुरी की तान वीणा के सुर, ढोलक की थाप। संगीत नृत्य। इस सब राग रंग से विलग अर्जुन और कृष्ण। जहां से जंगल शुरू होता है उसके छोर पर बैठे पर कुछ ना बोलते सिर्फ एक दूसरे को देखते दोनों। कृष्ण मुड़कर देखते हैं दूर स्त्रियों को नृत्य करते, क्रीडा में रत। धूप है हवा में राग है यमुना की बहती धारा है। इतना सुंदर दृश्य कभी किसी ने ना देखा होगा और कृष्ण का जो बचा समय उसमें शायद ऐसा और कुछ देखने को बचा न होगा। अर्जुन को यह मालूम नहीं था, मालूम हो भी नहीं सकता था फिर भी कहीं भीतर एक एहसास करवट ले रहा था, आगत की आशंका। अर्जुन चुप बैठे बिना जाने फिर भी जानते कि कुछ विनाशकारी होने को है और उसी वक्त जंगल से कृशकाय पर सतर, लाल दाढ़ी और दहकते सोने से बदन को काले वस्त्र से ढके कोई ब्राह्मण अवतरित होता है।

कहता है मैं अग्नि और यह पूरा जंगल ही मुझे तृप्त करेगा, मेरे क्षुधा शांत करेगा। मैं कमजोर भूखा मुझ में शक्ति नहीं और इंद्र इस जंगल को अपना वरदहस्त देते हैं। कृष्ण ने ऊपर देखा घने काले बादल गहरा रहे थे। उनको अर्जुन के पिता इंद्र, देवों के देव इंद्र का मुकाबला करना होगा। अग्नि कहते हैं, बारह साल तक घी खा कर मैं थक गया अब मुझे पशु और वनस्पति चाहिए। मेरा स्वाद बिगड़ चुका है अब मुझे जंगली खाना चाहिए। सात बार मैंने इस वन को जलाने की कोशिश की और सात बार नागों ने इसे बुझा दिया लेकिन मैं तुम्हें हथियार देता हूं गांडीव और चक्र। बदले में मेरी मदद करो।

अग्नि लौटे जंगल में और धीमे से एक फुसफुसाहट, चिंगारी के भड़कने की चरचराहट। एक छोटी सी चिंगारी। धीरे-धीरे लपट बढ़ती गई सारे जानवर चीत्कारते हुए खुले में भागने लगे। हाथी हिरण बंदर भैंसे तितली बाघ दैत्य बकरी सांप गिलहरी पक्षी सब। उनकी आँखों में मृत्यु का भय था। अर्जुन ने एक-एक करके सब को तीर से मारा। सबसे छोटे, सबसे मासूम, सबसे बड़े, सबसे निर्दोष। हर बार जब तीर निकला अर्जुन के भीतर एक बोध काँपता, ये वध जितना उचित था उतना ही उसी क्षण अनुचित और अनैतिक। हर मृत्यु उसके हाथों उन्हीं पशुओं का वध था उस पल में स्थिर जहां मृत्यु का होना नियत था और सब के बीच एक मजबूत सूत्र था जो अर्जुन का कृष्ण से बंधन का था। कृष्ण, अंतरंग सखा, सहचर जो उनके भीतर बसते, उनके हृदय के गोपन केंद्र में और अब भी जैसे वह बाणवत से एक एक तीर निकालते हाथ तो उनका ही था पर गति और लय तो कृष्ण की ही थी। जो जंगली पशु आग में नहीं मरे वह अर्जुन के तीर और कृष्ण के चक्र से धराशाई हुए। सब तरफ मौत का दावानल था। अग्नि की भूख शांत हुई। जंगल छह दिन तक जलता रहा। मृत्यु की चीत्कार उठती रही। फिर यह रुदन शांत हुआ। तब लकड़ियों के सुलगाने की चरमराहट थी, तालों के पानी के भाप बनने की अजब ताप और आवाज़ थी, जले चमड़े की चिराइंध गंध थी, ठूंठ के ठूंठ जले, कुरूप विक्षत वृक्ष थे। सब भस्म हो गया था। इस संसार का अंत ही तो था।

इस सन्नाटे में ऊपर आसमान में कृष्ण अर्जुन और अग्नि ने देखा चार पक्षी आसमान में उड़ रहे थे। सिर्फ वही जो इस संहार से बचे थे। वह चार वेद थे। अर्जुन और कृष्ण ने पलट कर देखा भस्म हुआ जंगल जितनी दूर तक दिखाई दे और यमुना के तीर पर खड़ी स्त्रियाँ। सबके चेहरे पर राख की झीनी चादर। सारे तोरण और तंबू, सारे राग रंग विलुप्त हो गए थे। जीवन का उल्लास समाप्त हो गया था।

तो इस तरह कौरवों और पांडवों के बीच युद्ध की घोषणा हुई। कृष्ण और अर्जुन कुछ देर यमुना के बहते पानी को देखते रहे, कुछ देर। फिर दो थके यात्रियों की तरह लौटे, इंद्रप्रस्थ, बिना कुछ कहे। निर्वात का एक संसार उनके बीच यमुना के जल सा बहता रहा

6 / 05 / 2020
दोपहर बारह पच्चीस ●

.....

प्रसिद्ध बंगलादेशी कवि एवं चित्रकार निर्मलेंदु गुन

सुलोचना
9818202876

प्रसिद्ध बंगलादेशी कवि एवम चित्रकार निर्मलेंदु प्रकाश गुन चौधरी (जन्म 21 जून 1945), निर्मलेंदु गुन के नाम से जाने जाते हैं। उन्होंने कविता के अलावा, गद्य और यात्रा वृतांत भी लिखे हैं। उनकी कविताएँ मुख्य रूप से नारीवाद, वर्ग संघर्ष और तानाशाही के विरोध के बारे में हैं। 1970 में प्रकाशित कविता की पहली पुस्तक, प्रेमांशु रक्त चाई से उन्हें लोकप्रियता हासिल की। इस पुस्तक के ऐतिहासिक संदर्भ में लिखी गई "हुलिया" कविता व्यापक चर्चा में आई। उनके 45 कविता संग्रह और गद्य की बीस किताबें छप चुकी हैं। उन्होंने लेनिन टैगोर शेख मुजीबुर्रहमान और शक्ति चट्टोपाध्याय पर भी कविताएं लिखी हैं।

तनवीर मोकमेल ने उन पर एक प्रायोगिक फिल्म बनाई। उनकी कविता "स्वतंत्रता, शब्द हमारा कैसा है," बांग्लादेश की माध्यमिक स्तर की पाठ्यपुस्तकों में शामिल की गई। उन्हें बंगला अकादमी साहित्य पुरस्कार, एकुशे पदक और साहित्य स्वाधीनता पुरस्कार मिल चुका है।

हम सुपरिचित अनुवादक कवयित्री सुलोचना द्वारा उनकी कुछ अनुदित कविताएं दे रहे हैं।

2. युद्ध

युद्ध का अर्थ ही होता है शत्रु शत्रु खेलना,
युद्ध का अर्थ ही होता है
मेरे प्रति तुम्हारी अवहेलनाद्य

1. फूलदान

किसी भी बगीचे से मनपसन्द कोई भी फूल,
किसी भी समय मैं तोड़कर अगर कभी
तुम्हारे जूड़े में, अहा, अजगर से तुम्हारे जूड़े में
सजाने का अवसर पाता–; तो देख पाती लीला,
तुम्हारे शरीर को छूकर लावण्य के लोभी फूल
उद्वेलित हृदय से नित्य विपर्यस्त होते, ममता से होकर मत्त
कहते आश्चर्यपूर्वक, कहना ही पड़ता
'जूड़े जैसा कोई फूलदान नहीं है।'

3. आग्नेयास्त्र

पुलिस स्टेशन पर है भीड़, आग्नेयास्त्र कर रहे हैं जब्त शहर के
संदिग्ध सैनिक। सामरिक निर्देशों से हैं भयभीत मनुष्य शॉटगन, राइफल, पिस्तौल और कारतूस, मानो दरगाह की हैं
स्वीकृत मन्नतें; मेज पर फूल की तरह है गुंडे का हाथ।

मैं सिर्फ सामरिक आदेश की अवज्ञा कर हो गया हूँ
कोमल विद्रोही, सर्वसमक्ष लौट रहा हूँ घर
लेकिन मेरे साथ है हृदय की तरह घातक
एक आग्नेयास्त्र, मैंने जमा नहीं किया।

4. तुलनामुलक हाथ

तुम जहाँ भी स्पर्श करती हो वहीं है मेरा शरीर।
तुम्हारे बालों को धो चुका जल तुम जहाँ भी
जुड़े को खोल मिलाती हो मिट्टी में;
मैं आकर पसारता हूँ हाथ, जलभार से नत देह और
आँखों की सामग्री लेकर लौटता हूँ घर, या नहीं भी लौटता हूँ घर,
तुम्हारे चतुर्दिक शून्यता को भरकर रह जाता हूँ।

तुम जहाँ भी हाथ रखती हो, जहाँ भी कान से
उतारकर रखती हो झुमके, कंठ से उतारकर रखती हो हार,
वहीं शरीर मेरा हो उठता है रक्तजवा फूल।

तुम जहाँ भी रखती हो होंठ वहीं मेरा चुम्बन
तुम्हारे शरीर से प्रबल अयत्न से झड़ता है।
मैं कीड़ा बनकर नेत्रमल की तरह
तुम्हारी इन आँखों की छाया में प्रतिदिन खेलता रहता हूँ,
प्यार करते हुए खुद को रुलाता हूँ।

तुमने साड़ी के आँचल से मुझे भगा दिया

मैं रथ छोड़ पथ पर तुम्हारे ही द्वेरथ पर बैठा रहता हूँ
तुम्हारी आशा में। तुम जहाँ भी रखती हो हाथ
मेरा उद्ग्रीव चित्र रहता है वहीं द्य मैं जहाँ कहीं भी
पसारता हूँ हाथ वहीं होती है असीम शून्यता, तुम नहीं होती।

5. इसी बार प्रथम आये तुम

भूल जाओ कि तुम पहले भी थे
मान लो कि इस विश्व निखिल में
इसी बार प्रथम आये तुम

इससे पहले तुम कहीं भी नहीं थे
न थे आकाश में, नदी में, जल में, घास में
नहीं थे पत्थरों में झरना के बगल में
इसी बार प्रथम आये तुम

इससे पहले तुम किसी भी शय में नहीं थे
फूलों में भी नहीं थे, फलों में भी नहीं थे
नाक, मुँह, आँख, बालों में भी नहीं थे
इसी बार प्रथम आये तुम

इससे पहले तुम यहाँ नहीं थे
इससे पहले तुम वहाँ नहीं थे
इससे पहले तुम कहीं भी नहीं थे
इसी बार प्रथम आये तुम

रात के पुण्य लगन में नहीं थे
नील नवघन गगन में नहीं थे
इसी बार प्रथम आये तुम

इससे पहले तुम तुम भी नहीं थे
इसी बार प्रथम आये तुम

●

"महिला निर्देशकों ने रंगमंच की एक नई भाषा ईजाद की है"

सुप्रसिद्ध थिएटर निर्देशिका नीलम मानसिंह से योजना रावत की बातचीत

योजना रावत
मो० 9023746633

आप देश की जानी मानी रंगकर्मी हैं। आपने एक मुकाम हासिल किया है। आपका रंगमंच की ओर झुकाव कैसे हुआ? विशेषकर आपके घर-परिवार के वातावरण ने क्या आपको इस ओर प्रेरित किया?

मैं अमृतसर में पैदा हुई। मेरी स्कूली व कॉलेज की शिक्षा भी वहीं हुई। आसपास कोई माहौल नहीं था आर्ट व कल्चर का। मेरे पिताजी डॉक्टर थे। मां शिक्षक थीं लेकिन हाउसवाइफ थी। कलाकारी का माहौल तो नहीं मिला लेकिन एक माहौल मिला आजादी का। कि जो भी आप बनना चाहते हो, जीवन में करना चाहते हो, कर सकते हो। मेरे माता पिता ने हमें कभी कुछ करने से नहीं रोका। कभी स्कूल से कोई कंप्लेंट आ जाती तो वे यह कहकर इगनोर कर देते कि बच्चे तो ऐसा कर ही देते हैं। उस हिसाब से काफी खुला माहौल मिला। न तो किसी तरह का कोई दबाव था, और न कोई रोक-टोक। ऐसे में मनुष्य अपनी कल्पना के हिसाब से ग्रो कर सकता है। मेरा बचपन से ही कला के प्रति झुकाव था। मेरे पिताजी बहुत ही प्रोग्रेसिव विचारों के थे। पंजाब में सुधारवादी आंदोलन में उनके परिवार का विशेष योगदान था। जब राजा राममोहन राय सती प्रथा का विरोध कर रहे थे, उसी समय भारत में पहला विधवा विवाह हमारे परिवार में हुआ था। फलस्वरूप मेरे पिता जी को सामाजिक आदर्शों के प्रति रुझान और सुधारवादी प्रवृत्ति विरासत में मिली। इसलिए घर में मिले खुले माहौल के कारण मैं धीरे-धीरे हिस्ट्री, आर्ट और कल्चर की तरफ रुख करती चली गई। 1975 में मैंने ग्रेजुएशन की और फिर विवाह के बाद मुंबई चली गई। 1979 में मेरे पति का तबादला होने के कारण मैं भोपाल आ गई। भोपाल में भारत-भवन से जुड़ना मेरी थिएटर की दुनिया यात्रा का नया व महत्वपूर्ण पड़ाव था।

भारत-भवन' का अनुभव कैसा रहा?

भोपाल जाना महज एक संयोग था, लेकिन यह मेरे जीवन का एक महत्वपूर्ण पड़ाव साबित हुआ। 'भारत-भवन' की स्थापना हो रही थी। अशोक वाजपेयी उन दिनों सेक्रेटरी कल्चर थे। उन्होंने मुझसे कहा कि आप नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा से हैं। इसलिए आप हमारी संस्था से जुड़ कर काम कीजिए। मैं उस समय सताइस साल की थी। इतनी युवावस्था में एक इतना महत्वपूर्ण संस्था से जुड़ने का अवसर मिलना बहुत ही सौभाग्य की बात थी। 'भारत-भवन' से जुड़कर मैं बेहद उत्साहित थी। वहां मेरे विचार परिपक्व हुए, मैंने सीखा कि प्रोफेशनलिज्म क्या होता है और थिएटर के प्रति मेरा जुड़ाव गहराता ही चला गया। बहुत सी चीजें जो नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा में सीखी थी, पर उनका अनुभव अभी इंटर्नलाइज़ नहीं हुआ था, वह 'भारत-भवन' आने पर संभव हुआ।

नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा के वातावरण व वहां के अध्यापकों ने भी आपको प्रेरित किया होगा? क्या आप किसी व्यक्ति विशेष से प्रभावित हुईं?

जी बिलकुल। अब्राहम अल्काज़ी ने मुझे विशेष रूप से प्रभावित किया। वह न केवल एक बेहतरीन अध्यापक थे बल्कि एक विशिष्ट व्यक्तित्व के मालिक थे। वह एक 'रेनासांस मैन' थे। उन्होंने यह सिखाया कि थिएटर मात्र एक हॉबी क्लास नहीं है। बल्कि वैसे ही एक प्रोफेशनल ट्रेनिंग है जैसे कि डॉक्टर या वकील बनना, जिसमें आपको पूरी डेडीकेशन, पूरी कमिटमेंट और लेबर का अहसास हो। उनके जैसा अध्यापक मैंने आज तक नही देखा। ऐसे अध्यापक कम होते हैं जो कि कहीं न कहीं विद्यार्थी के प्रति पूरी तरह समर्पित हों। वह चाहते थे कि विद्यार्थी न केवल कला के बारे में समझें, बल्कि फिल्म्स के बारे में, कविता के बारे में, और रहन सहन के बारे में भी सीख ले। मुझे याद है कि जिन दिनों मैं एन.एस.डी में थी उन दिनों दिल्ली में एक ही फाइव स्टार होटल था। वह हमें वहां ले जाते थे कि हमें पता लगे वहां कैसे उठना बैठना है। खाना कैसे ऑर्डर करना है। ताकि कला के साथ-साथ हम सोशल प्रोटोकॉल की सीख भी ले सकें। बहुत से लोग बड़ी साधारण पृष्ठभूमि से आते थे, लेकिन वह किसी को उसकी किसी तरह की कमतरी का एहसास दिलाए जीवन की बहुत ही बारीक चीजें सिखाने में विश्वास रखते थे। इस तरह उन्होंने हमें बहुत कुछ सिखाया जो जीवन भर काम आया।

भोपाल आकर मैंने बी.वी. कारंत साहब के साथ काम किया जो कि थिएटर की दुनिया की बहुत बड़ी हस्ती थे। एक तरफ अब्राहम अलका जी का प्रभाव और दूसरी तरफ बी.वी. कारंत साहब जो खुद भी थिएटर कंपनी से आए थे। इन दोनों महान हस्तियों के जरिए मुझे जीवन और दुनिया को भिन्न-भिन्न नजरिए से देखने और समझने की एक महत्वपूर्ण ट्रेनिंग मिली। कारंत जी ने विशेषकर हमें फोक, वर्नाकुलिस्म के बारे में बताया जिससे हम लोकल एनर्जी, लोकल ट्रडीशन का समझने में मदद मिली। मैं सच में बहुत सौभाग्यशाली थी कि इंडियन थिएटर की दो महान हस्तियों के साथ मुझे लंबे अरसे तक काम करने का मौका मिला।

आपने अपनी थिएटर कंपनी स्थापित की और डायरेक्शन करना शुरू कर दिया जो कि बहुत ही चुनौती भरा काम था। क्या कारण था कि आप ने एक्टिंग की बजाय डायरेक्शन को चुना?

यूनिवर्सिटी के दिनों में मैंने बलवंत गार्गी के साथ दो नाटकों में अभिनय किया। उस समय पंजाब यूनिवर्सिटी, चंडीगढ़ में थिएटर डिपार्टमेंट नहीं था। बलवंत गार्गी कैंपस थिएटर करते थे, जहां मुझे दो महत्वपूर्ण नाटकों में काम करने का मौका मिला। तो वहां से कहीं न कहीं थिएटर के प्रति एक गहरी दिलचस्पी बनी। बचपन में सभी पेंटिंग भी करते हैं कविता भी लिखते हैं लेकिन एक कलाकार कैसे बनता है, कलाकार को किन-किन पड़ावों से गुजरना पड़ता है, ये सब सवाल मेरे ज़हन में नहीं थे। उन दिनों मेरी दो-तीन क्लासेज होती थी और सारा दिन खाली होता था तो थिएटर करना उस खाली समय को भरने और जीवन को कुछ रुचिकर बनाने एक प्रयास था। चंडीगढ़ में ही मुझे अब्राहम अलकाज़ी से मिलने का अवसर मिला। वह अंग्रेजी विभाग में लेक्चर देने आए थे। और एन.एस.डी. से दो नाटकों का मंचन भी चंडीगढ़ में हुआ था। इन नाटकों को देखने के

अनुभव ने मेरी जीवन दिशा बदल दी। मुझे लगा जैसे मैंने कोई चमत्कार देखा है। ऐसा प्रोफेशनलिज्म, ऐसी स्टेज सेटिंग, ऐसी लाइट्स सेटिंग कि मैं एकदम सम्मोहित हो गई और मुझे लगा कि थिएटर के माध्यम से स्टेज पर कितनी खूबसूरत दुनिया ईज्जाद की जा सकती है।

ज्यादातर युवा एन.एस.डी करने के बाद एक्टिंग की ओर जाते हैं। आपने एक्टिंग में कुछ विशेष रूचि नहीं ली। इसका क्या कारण है?

यह सच है कि मैंने नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा से एक्टिंग की ट्रेनिंग की थी और शुरू के सालों में मैंने थोड़ी बहुत एक्टिंग की भी। लेकिन उन दिनों थिएटर पूरी तरह हिंदी में होता था। मैं अपने परिवार के साथ स्कूल के दिनों में छह सात साल इंग्लैंड में रही जिसकी वजह से मेरी हिंदी प्रभावित हुई। स्टेज पर जाने के लिए तो जुबान की पूरी पकड़ होनी चाहिए, जो कि मेरे पास नहीं थी। लेकिन एन.एस.डी के दिनों में जो सेंसिबिलिटी बनी, जो पढ़ा लिखा, अब्जॉर्ब किया, सीखा और आत्मसात किया, वह बहुत काम आया। अल्काज़ी तथा अन्य महान कलाकारों को सुनना, वहां से कहीं न कहीं थिएटर के बारे में गहरा थॉट प्रोसेस विकसित हुआ, एक्सेसिबिलिटी बनी, एक एस्थेटिक्स डिवेलप हुआ। इस सब से काम करने का एक तरीका बना, एक विजुअल सेंस क्रिएट हुई। पर इस पूरे बनने की प्रक्रिया को मंच पर अभिव्यक्त करने में तो कई साल लग गए। इस तरह मैं धीरे-धीरे डायरेक्शन के क्षेत्र में आगे बढ़ती चली गई।

मैंने आपके द्वारा निर्देशित कई नाटक देखे हैं, इसमें 'यरमा', 'किचन कथा', 'शहर मेरे दी पागल औरत' इत्यादि। आपके नाटकों में स्त्रीगत सरोकार मुख्य रूप से उभर कर आए हैं। स्त्रीकेंद्रित नाटक निर्देशित करना आपका अपना चुनाव है या फिर महज एक संयोग?

मुझे लगता है कि एक स्त्री होने के नाते आप स्वाभाविक रूप से ऐसी कहानियों की ओर आकर्षित होते हो जो कहीं न कहीं आप की दुनिया से जुड़ी हैं। जिन्हें आप समझते हो महसूस कर सकते हो, जिन अनुभवों से कहीं न कहीं आप स्वयं गुजरते हो। व्यक्तिगत स्तर पर नहीं बल्कि राजनीतिक, सामाजिक और भावनात्मक स्तर पर। एक स्त्री, स्त्री की दुनिया से करीबी से रूबरू होती है। मैंने जानबूझ कर स्त्रीगत नाटक नहीं चुने, कि मुझे स्त्री जीवन की कहानी ही कहनी है लेकिन निश्चित तौर पर चीजों को करने के पीछे एक फेमिनन दृष्टि रही है।

कई स्त्री केंद्रित नाटकों में महत्वपूर्ण पुरुष पात्र भी हैं। मेरे द्वारा निर्देशित नाटक 'नागमंडला', 'फेदरा', 'सुपर मार्केट' कई ऐसे नाटक हैं जो स्त्री व पुरुष दोनों के सरोकारों से संबद्ध हैं।

स्त्री होने के नाते क्या आप ऐसा महसूस करती हैं कि आप स्त्रीगत नाटकों में स्त्री के सरोकारों से पुरुष निर्देशकों की तुलना में उन्हें बेहतर तरीके से प्रस्तुत कर पाती हैं।

मैं फीमेल डायरेक्टर और मेल डायरेक्टर को अलग-अलग कैटेगरी में बांटना पसंद नहीं करूंगी। मैं एक कलाकार या निर्देशक की तरह काम करती हूं। मैं नहीं चाहती हूं कि मेरे जेंडर की दृष्टि से मेरे काम का मूल्यांकन किया जाए। जैसे यदि आप लोर्का के नाटक पढ़ें तो आपको जेंडर वाली बात महसूस ही नहीं होती। उसके नाटकों में स्त्री का जीवन, उसकी पीड़ा दिल को छूने वाली है। सहादत हसन मंटो को देख लीजिए तो ऐसा नहीं लगता किसी जेंडर की दृष्टि से लिख गया है। कोई भी महान लेखक एक व्यापक फलक लेकर रचना लिखता है, अपनी बात कहता है, जहां रचना के केंद्र में केवल मनुष्य होता है न कि मात्र कोई जेंडर। ऐसा लेखन किसी राजनीतिक या व्यक्तिगत आकांक्षा से प्रेरित नहीं होता बल्कि सार्वभौमिक होता है, जहां जेंडर पीछे छूट जाता है क्यों कि रचना का उद्देश्य मानव जीवन होता है। कोई भी अच्छी रचना मुख्य रूप से मानवीय दृष्टि से प्रेरित होती है।

आपने बहुत से नाटक विदेशी भाषाओं से चुने हैं जिनका पंजाबी भाषा में रूपांतरण किया गया है। इन नाटकों में पंजाब की संस्कृति की झलक, पंजाब की मिट्टी की खुशबू और पंजाबी जीवन की रंगत मिलती है। कुछ नाटकों में जहां स्त्री पत्रों को देखकर लगता है जैसे पंजाब की स्त्री का जीवन झलक रहा हो। क्या आप नाटकों का रूपांतरण करते समय अनुवादक को निर्देशित करती हैं कि वह उसे पंजाबियत के रंग में ढाले?

आमतौर पर एक अच्छी रचना में यूनिवर्सल कंसर्न होता है। प्रेम घृणा, ईर्ष्या, सत्ता, भय, सेक्स इत्यादि सब मानव जीवन के फंडामेंटल इमोशंस है, जिनका जिक्र किसी भी रचना में होता है। जब हम किसी नाटक या रचना को एक भाषा से दूसरी भाषा में उतारते हैं तो भाषा स्वयं एक माध्यम बन जाती है। उसे एडाप्ट नहीं करना पड़ता

जैसे जब मैंने 'यरमा' नाटक किया जिसका आपने जिक्र किया, जो कि एक स्पेनिश नाटक है। 'यरमा' का अर्थ है जमीन। जब पंजाबी के मशहूर कवि सुरजीत पातर ने इसका अनुवाद करना शुरू किया और हम इसका शीर्षक ढूंढ रहे थे, तो हमने नाटक के मुख्य पात्र यरमा की जगह कोई और नाम सोचना शुरू किया। जैसे कि सोमा, कोई ऐसा नाम जिसके अंत 'मा' से हो और फिर सोचते-सोचते स्वयं 'यरमा' शब्द इतना पंजाबी लगने लगा। और लोर्का की जुबान भी ऐसी चिर परचित सी है क्योंकि वह भी कृषक समाज का जिक्र करता है, उसके कविता में जो बिम्ब विधान हैं ठीक ऐसे ही बिम्ब पंजाबी कविता में भी बखूबी मिलते हैं। इसलिए कोई जानबूझ कर

प्रयत्न नहीं किया गया कि मुझे स्पेनिश नाटक को पंजाबी में ढालना है या इसमें पंजाबी की मिट्टी की गंध महसूस होनी चाहिए। जब भी मैं किसी विदेशी नाटक को पंजाबी में रूपांतरित करवाती हूँ, स्वाभाविक रूप से उसमें पंजाब की गंध, पंजाब की संस्कृति का स्पर्श आ जाता है जो सहज ही विषय वस्तु का हिस्सा बन जाता है।

आजकल के अधिकतर युवा कलाकार सिनेमा या टेलीविजन की दुनिया में अपना कैरियर बनाना चाहते हैं। वैसे भी थिएटर की यात्रा लंबी और कठिन है। क्या आपको अपने नाटकों के लिए अपनी पसंद के अनुरूप कलाकार आसानी से मिल जाते हैं?

मुझे इसमें कोई दिक्कत नहीं होती मैंने हाल ही में 'हयबदन' नाटक का निर्देशन किया है जिसे बिड़ला ग्रुप ऑफ़ इंडस्ट्रीज़ ने सपोर्ट किया है। इस नाटक में पैंतीस कलाकार काम कर रहे हैं। यह सभी कलाकार बेहद समर्पित हैं और मैंने इन सभी के साथ समय-समय पर थिएटर में काम किया है। बहुत से कलाकार अपने साथ करीबी से जुड़ जाते हैं क्योंकि लंबे अरसे तक एक साथ काम करते करते एक ग्रुप बन जाता है और एक दूसरे के प्रति वफादारी भी हो जाती है। लोग आप का सम्मान करते हैं, आपका काम करने का तरीका उन्हें अच्छा लगता है। वे खुश होकर आते हैं एक्टिंग करने के लिए। न वे पैसे की परवाह करते हैं और न ही समय की। यह एक सचाई है कि थिएटर में ज्यादा पैसा नहीं है। जितना पैसा कोई एक फिल्म या एक टीवी सीरियल में एक दिन में कमा सकता है उतना थिएटर में दो महीने में भी नहीं कमा सकता। लेकिन हर अच्छे कलाकार की तमन्ना होती है- अच्छा काम करना। जब उन्हें लगता है कि उन्हें एक् स्पेस में अच्छा काम करने का अनुभव मिलेगा, जिसकी वजह से उनकी ग्रोथ होगी तो वे पूरे उत्साह से, पूरे मन से काम करने आते हैं और हमेशा काम करने के लिए उत्साहित रहते हैं। इसलिए मुझे कभी भी अपने नाटकों के लिए कलाकारों का कोई अभाव महसूस नहीं हुआ।

इंडियन थिएटर पर लंबे समय से पुरुष डायरेक्टरज़ का वर्चस्व रहा है, लेकिन पिछले कुछ दशकों से अमाल अमाना, उषा गांगुली, नादिरा बब्बर और आप जैसे फीमेल डायरेक्टर्स ने इंडियन थिएटर को एक नई दिशा, एक नई ऊँचाई प्रदान की है। इस बारे में आप क्या सोचती हैं?

आज नहीं बल्कि लंबे समय से कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं है जो पुरुष प्रधान है। दूसरी बात मुझे यह लगता है कि बहुत ही फीमेल डायरेक्टरज़ अपने-अपने इंडिविजुअल तरीके, इंडिविजुअल सेंसिबिलिटी और इंडिविजुअल इमेजिनेशन के आधार पर काम कर रही हैं। इसलिए जाहिर है कि जितनी भी फीमेल डायरेक्टर्स हैं, सबका काम एक निजी विशेषता लिए हुए है। इसलिए किसी की किसी के साथ तुलना नहीं की जा सकती। ठीक है ऐसे ही मेल डायरेक्टर्स के साथ भी फीमेल डायरेक्टर्स के काम की तुलना नहीं की जानी चाहिए। जब भी कोई थिएटर का प्रोफेशन चुनता है तो उसे मालूम होता है कि उसने बहुत मुश्किल प्रोफेशन का चुनाव किया है। इस प्रोफेशन में आगे बढ़ने में बहुत साल लगते हैं, बहुत पैसा चाहिए और बहुत मेहनत भी। आपको मालूम नहीं होता कि सालों बाद भी आप सफल होंगे भी या नहीं। तो यह एक बहुत ही अकेलेपन की लंबी यात्रा है। यह कोई चिर परिचित राह नहीं बल्कि एक अनजान रास्ता है जिस पर आपको मीलों बस चलते ही जाना है। उस अनजाने रास्ते को आप कैसे एक चिर परिचित रास्ते बनाते हैं और कैसे एक चिर परिचित को एक अनजानी राह। यह किसी भी व्यक्ति की निजी विशेषता पर निर्भर करता है। इसलिए थिएटर की दुनिया एक नितांत निजी यात्रा है। वैसे भी मैं लंबे समय से चंडीगढ़ शहर में हूं और दिल्ली मुंबई जैसे महानगर से दूर हूं। मेरा बाकी थिएटर ग्रुप्स के साथ ज्यादा इंटरेक्शन नहीं होता। महानगरों में थिएटर के बहुत से ग्रुप्स बन जाते हैं, आर्टिस्ट्स की कम्युनिटीज बन जाती हैं। कई तरह की खींचतान भी चलती रहती है, लेकिन मैं बरसों से चंडीगढ़ में एक बहुत ही आइसोलेटेड स्पेस में हूं। (हंसते हुए) मैं और मेरी कल्पना, मेरे कलाकार, कहीं कोई खींचतान नहीं है। इसलिए इस माहौल में काम करना बहुत ही सकून देता है। और यह बात सच है कि आज बहुत सी फीमेल डायरेक्टर बहुत अलग किस्म का और बहुत उम्दा किस्म का काम कर रही हैं और निश्चित तौर पर जिससे इंडियन थिएटर में एक नया बदलाव आया है जो कि जगजाहिर है।

पिछले कुछ वर्षों में भारतीय साहित्य लेखन में महिलाओं ने अपनी महत्वपूर्ण उपस्थिति दर्ज की है। वे एक चुनौती की तरह उभरी हैं। क्या इसके समानांतर कुछ ऐसा ही परिवर्तन इंडियन थिएटर की दुनिया में भी हुआ है?

निश्चित तौर पर फीमेल डायरेक्टर्स ने थिएटर की एक नई भाषा ईजाद की है, उसे एक नई दिशा दी है। वे टेक्स्ट को भी बहुत अपने तरीके से गढते और गुनते हैं। उसे कई तरह के नए नज़रिए से देखते हैं। लेकिन फीमेल डायरेक्टर्स की सबसे महत्वपूर्ण बात यह है उन्होंने हर काम को कोलैबोरेटिव बनाया है, जहां एक्टरज़, डायरेक्टर, डिजाइनर और सिनोग्राफर का एक डेमोक्रेटिक स्पेस क्रिएट होता है। जहां हर आवाज़ सुनाई देती है जबकि डायरेक्टर शब्द कुछ पुलिंग शब्द सा प्रतीत होता है। डायरेक्टर शब्द एक 'अथॉरिटी', एक 'मेलनस' की तरह ध्वनित होता है। फीमेल डायरेक्टर्स ने इस 'हयरार्की' को तोड़ा है।

क्या इसका अर्थ यह है कि आज पुरुष डायरेक्टर्स फीमेल डायरेक्टर्स के लिए चुनौती नहीं रह गए हैं?

नहीं, मैं ऐसा कोई स्टेटमेंट नहीं देना चाहती, पर यह ज़रूर कहना चाहती हूं कि बहुत से फीमेल डायरेक्टर्स ने बहुत ही महत्वपूर्ण काम किया है जैसे अनामिका हक्सर, अमान अलाना, अनुराधा कपूर, माया कृष्णा राव इत्यादि ने बहुत हद तक बहुत सारे स्टीरिओ टाइप्स को तोड़ा है। क्योंकि जब फीमेल डायरेक्टर्स थिएटर के प्रोफेशन में आई थी, उनसे कोई अपेक्षा ही नहीं थी। जिस वजह से इनके पास बहुत ही खुला स्पेस था। कुछ भी नया और अलग करने का और मुझे लगता है कि उन्होंने वास्तव में बहुत कुछ अलग और कुछ नया करके दिखाया है।

आपने कहा कि थिएटर की दुनिया एक बेहद

निजी अकेली यात्रा है।

(प्रश्न को तुरंत विराम देते हुए) सच में यह एक निजी व अकेली यात्रा है। जैसे कि हेनरी मिलर ने कहा है 'वेन यू क्रिएट, यू वेयर द रोब ऑफ़ अ प्रीस्ट' थिएटर एक बहुत ही प्राइवेट और बहुत ही साइलेंट प्रोसेस है। परंतु चूँकि थिएटर एक परफॉर्मिंग आर्ट है, इसलिए हम यह प्राइवेसी और यह साइलेंस कलाकारों के साथ एक बहुत ही सीक्रेट स्पेस में सांझा करते हैं। यह थिएटर का स्पेस है, रिहर्सल का स्पेस है जहां हम एक दूसरे को सुनते हैं, एक दूसरे की सांस तक की आवाज सुनते हैं। एक दूसरे का स्पर्श महसूस करते हैं। तो यह एक बहुत ही प्राइवेट स्पेस बन जाता है, जिसमें क्रिएटिविटी जन्म लेती है और कला निखार पाती है।

एक डायरेक्टर के तौर पर आपको निश्चित तौर पर संघर्षों से गुजरना पड़ा होगा। क्या आप इस बारे में कुछ सांझा करना चाहेंगी?

हर कलाकार का अपना संघर्ष होता है। मैं अपने स्ट्रग्लस को रोमांटिसाइज या ड्रामाटाइज्ड भी नहीं करना चाहूंगी। अपने प्रोफेशन में एक ऊँचाई पर पहुंचने की यात्रा में, भीड़ में कहीं भी अपनी एक निजी पहचान बनाना, अपनी एक जगह बनाने में संघर्ष तो होगा ही। और यह व्यक्ति की निजी क्षमता पर भी निर्भर करता है। हर बार जब हम कोई नया नाटक शुरू करते हैं तो यह एक खाली डायरी लिखने जैसा होता है। उसमें आप क्या रंग भरते हैं, क्या विजुअल्स बनाते हैं, कौन से मेटाफर्ज़ भरते हैं। वहां सिर्फ आप होते हो और आपकी कल्पना होती है। आपके कलाकार होते हैं और कलाकारों को गढ़ने की आपकी अपनी क्षमता होती है। क्योंकि कलाकार एक रॉ मैटेरियल की तरह होते हैं, टैलेंट को तराशना एक लंबी यात्रा है। इसमें वर्षों लग जाते हैं। मुझे कई बार यह मालूम नहीं होता कि मुझे क्या करना है लेकिन मुझे यह जरूर पता होता है कि मुझे क्या नहीं करता है। सेट पर, स्टेज पर, एक्टर्स के साथ, क्योंकि काम के, परफॉरमेंस के, अपने थिएटर ग्रुप को एक साथ बनाए रखने के अपने कुछ एथिक्स भी होते हैं। थिएटर के प्रति आपकी ईमानदारी भी एक महत्वपूर्ण आयाम है क्योंकि कुछ लोग बहुत कुछ कॉपी करते हैं, कुछ यहां से उठाया, कुछ वहां से उठाया और प्रस्तुत कर दिया। तो बहुत सी बातों का ध्यान रखना पड़ता है।

जब आप किसी नाटक का रूपांतरण करवाती हैं तो क्या उसमें कभी कुछ सेंसर भी किया जाता है या आप उसे मूल रचना की तरह हूबहू प्रस्तुत करती हैं?

नहीं नहीं, सेंसर क्यों किया जाए। आपका अपने एस्थेटिक्स सेंस है। अपने भाव व संवेग हैं। सेंसरशिप एक बेहद प्रॉब्लमैटिक टर्म है। यह पुलिसिंग की तरह है। अपनी कल्पना पर पहरे लगाने की या उसे बांधने की क्या जरूरत है? अब गलती कर सकते हो लेकिन आप स्वयं को उस रास्ते पर जाने से नहीं रोक

हर कलाकार का अपना संघर्ष होता है। मैं अपने स्ट्रग्लस को रोमांटिसाइज या ड्रामाटाइज्ड भी नहीं करना चाहूंगी। अपने प्रोफेशन में एक ऊँचाई पर पहुंचने की यात्रा में, भीड़ में कहीं भी अपनी एक निजी पहचान बनाना, अपनी एक जगह बनाने में संघर्ष तो होगा ही। और यह व्यक्ति की निजी क्षमता पर भी निर्भर करता है। हर बार जब हम कोई नया नाटक शुरू करते हैं तो यह एक खाली डायरी लिखने जैसा होता है।

सकते। नए रास्ते तलाशना ही तो क्रिएटिविटी का मकसद है। और यह समझने में बहुत समय लगता है कि क्या चल सकता है और क्या नहीं।

आपके डायरेक्शन के कुछ खास स्किल्स होंगे और कुछ सिद्धांत भी। आप उनको बनाए रखने के लिए कहां से प्रेरित लेती हैं?

हम हर समय संसार को देखते, समझते, पढ़ते रहते हैं। जीवन के प्रति हर पल जिज्ञासा बनी रहती है। हर पल, हर अनुभव अपने आप में अद्भुत है। जब हम कोई किताब पढ़ते हैं, किसी को सुनते हैं, कोई फिल्म यह थिएटर देखते हैं, लोगों से मिलते हैं तो हमें वहां से बहुत सी ऐसी चीज़ें मिलती हैं जो हम अपने भीतर देर तक सहेज कर रखते हैं। हम सबके भीतर एक आर्काइव्स है, जिसमें से आप कुछ न कुछ समय समय पर निकालकर इस्तेमाल करते रहते हैं। एक ज़माने में जब मैं सुनती थी कि कहीं कोई अच्छा नाटक हो रहा है तो मैं ट्रेन से जाकर मैं नाटक देख कर रात को लौट आती थी। वह थिएटर के प्रति एक भूख थी, एक जिज्ञासा थी। मैं समय-समय पर अपने साथ के डायरेक्टर्स का काम देखती हूं, उन्हें सुनती हूं। क्योंकि उनका काम देखना उन्हें सुनना स्वयं को चुनौती देने जैसा है। मैं कई बार पंजाब यूनिवर्सिटी, चंडीगढ़ के अपने इंडियन थिएटर डिपार्टमेंट में दिल्ली से बुलाए गए एन.एस.डी. के काफी जूनियर टीचर सी क्लास में भी बैठ जाती थी। उन्हें मेरे वहां होने से कई बार हिचक होती तो मैं उसे कहती थी कि मैं उनसे कुछ सीख रही हूं। सीखने-सिखाने की कोई उम्र नहीं होती। बस! जिज्ञासा बनी रहनी चाहिए। इस वजह से इंसान जीवन भर सीखता चला जाता है। जब आप कोई खराब नाटक देखते हो तो आप यह अवश्य सीखते हो कि आपको थियेटर करते हुए यह गलतियां नहीं करनी है। इसलिए रिजेक्शन भी सीखने का ही एक हिस्सा है।

ओ.ओ.टी. प्लेटफार्म के आने से आजकल ज्यादातर लोग घर बैठे स्क्रीन पर ही सब कुछ देखना पसंद करते हैं। आपके दृष्टि में इसने थिएटर को किस हद तक प्रभावित किया है?

आप चंडीगढ़ में कहीं भी थिएटर देखने जाओ हॉल भरा होता है। आज भी बड़ी संख्या में लोग नाटक देखने देखने आते हैं। जब कोविड आया तो हम सब लोग ओ.ओ.टी प्लेटफॉर्म के ओर गए, क्योंकि हम सब गुम नहीं होना चाहते थे। किसी भी प्रोफॉर्मइंग आर्टिस्ट में विजिबिलिटी की इच्छा बहुत सशक्त होती है। तो मैं भी ओ.टी.टी प्लेटफॉर्म अपनाया। मेरे द्वारा निर्देशित दो नाटक 'ट्रंक टेल' और 'ब्लैक बॉक्स' भी ओ.टी.टी पर प्रस्तुत गए। लेकिन वह सब उस समय की परिस्थिति के अनुरूप था। और यह एक मायने में जरूरी भी था क्योंकि आप महामारी के बावजूद जीवन की धड़कन को महसूस करना चाहते थे। लेकिन मैं जब समय-समय पर एनएसडी में या और कहीं लेक्चर देने जाती हूं तो देखती हूं कि युवा विद्यार्थी बड़ी शिद्दत से एक्टिंग सीखना चाहते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि फिल्म जगत में टेलीविजन की दुनिया में बहुत कंपटीशन है। जब तक वे अपने आप को बहुत मंजा हुआ कलाकार नहीं बना पाएंगे उन्हें कोई अवसर नहीं देगा। इसलिए बहुत अच्छे से ट्रेनिंग लेना पसंद करते हैं। पर मुझे लगता है कि आजकल कई इंस्टिट्यूशन विद्यार्थियों को असफल बना रहे हैं। वे विद्यार्थियों को चैलेंज ही नहीं करते। जब मैं अपने अध्यापकों के बारे में सोचती हूं तो मुझे लगता है कि शायद ही अब इतने अच्छे व समर्पित अध्यापक मिलते हों। हमारे जमाने के अध्यापक अपना पूरा जीवन विद्यार्थियों के लिए लगा देते थे। वे जान लगा देते थे कि किस तरह किसी विद्यार्थी को एक अच्छा कलाकार बनाना है और उसे ऊंचाई तक लेकर जाना

है। उस तरह का पैशन और उस तरह के जज्बात आजकल के अध्यापकों में नहीं हैं।

आप बरसों पंजाब यूनिवर्सिटी के इंडियन थिएटर में पढ़ाती रहीं। साथ-साथ आपने अपने थिएटर ग्रुप 'कंपनी' के माध्यम से देश-विदेश में अनेक प्रस्तुतियां दी हैं। आप बहुत यात्रा भी करती हैं। इतना सब किस तरह से मैनेज करती हैं आप?

अगर आप यूनिवर्सिटी में विभाग के अध्यक्ष नहीं होते तो आपकी दो या तीन क्लासेस होती हैं। यह सब टाइम मैनेजमेंट की बात है। कि आपको नौकरी भी करनी है घर देखना है बच्चों का ध्यान रखना है और अपने प्रोफेशन पर भी ध्यान देना है। तो मैंने यह साथ साथ किया और सब कुछ अच्छे से मैनेज हो गया। दूसरी बात यह भी है कि थिएटर का काम लेखन की तरह नहीं होता जिस में आपको रेगुलर लिखना पड़ता है। आप साल में एक नाटक करते हैं जिसकी तीन या चार महीने चलती है और फिर समय-समय पर उसके शो होते रहते हैं। थिएटर लोगों के साथ जुड़ा है, स्पेस के साथ जुड़ा है और वक्त के साथ जुड़ा है। यह एक कम्युनिटी आर्ट है। मुझे भी कई बार मुश्किल है लेकिन मेरे पति ने मेरा बहुत साथ दिया। मैंने अपनी जीवन और कला को अलग-अलग खांचों में नहीं बांटा, बल्कि उन्हें एक दूसरे के साथ जोड़ा इसलिए घर-परिवार, नौकरी और थिएटर सब कुछ साथ साथ चलता रहा और सहजता से संभव होता रहा। मेरे पति को मेरे काम पर, मेरी उपलब्धियों पर बहुत गर्व था। मुझे इस बात से बहुत ताकत मिलती है। इस तरह का जीवन साथी मिलना वास्तव में बड़े सौभाग्य की बात है।

थिएटर में बहुत से नए प्रयोग हो रहे हैं। पत्रों, कहानी व फिर मोनोलॉग के माध्यम से नाटकों की प्रस्तुति के बारे में आपका क्या सोचती है?

ये सभी प्रयोग अपने आप में अद्भुत हैं क्योंकि यह थिएटर की पुरानी परंपराओं को तोड़कर आगे बढ़ रहे हैं। हम सब इस बैरियर से ऊपर उठ रहे हैं कि यह हो सकता है और वह नहीं हो सकता। मैंने भी कोविड के दौरान दो एकल नाटकों का निर्देशन किया था। जरूरी यह है कि काम अच्छा होना चाहिए, उसका फॉर्म कुछ भी हो।

सिनेमा की बढ़ती लोकप्रियता ने थिएटर पर कितना असर डाला है? कभी-कभी। लगता है कि जैसे थिएटर एक खास वर्ग तक सीमित रह गया है। एक जमाने में हर शहर में नुक्कड़ नाटक हुआ करते थे लेकिन अब थिएटर कल्चर खत्म सा हो गया है। आज का थिएटर किस दिशा में जा रहा है?

मुझे लगता है कि थिएटर की कोई एक दिशा नहीं हो सकती। हमारा देश जहां इतनी तरह की जुबानें है, विभिन्न संस्कृतियां हैं। इसलिए कोई एक दिशा हो ही नहीं सकती। आपको अपनी दिशा तय करनी होगी और अपना तरीका ईज़ाद करना होगा। और थिएटर के साथ के साथ जुड़ी क्लास के विषय के बारे में मुझे लगता है कि जो लोग थिएटर देखते हैं वे सब एक जैसे लोग नहीं होते। आपने चंडीगढ़ के रॉक गार्डन में मेरे नाटक देखे हैं। वहां अलग-अलग पृष्ठभूमि के लोग आते हैं। अत्यधिक शिक्षित दर्शकों के साथ-साथ मेरे घर के काम करने वाले और उनके दोस्त लोग भी मेरे नाटक देखने आते हैं। आज का दर्शक बहुत सजग है, चाहें वह किसी भी क्लास का क्यों न हो। वास्तव में थिएटर समाज में क्लास कांसेप्ट को तोड़ता है। अलग-अलग तरह के दर्शक अपनी-अपनी तरह से नाटक का आनंद लेते हैं और उसे ग्रहण करते हैं। कोई कहानी की वजह से नाटक को पसंद करता है तो कोई संगीत की वजह से और कोई इमेजेज़ की वजह से। दर्शकों की पसंद या नापसंद की अपनी व्यक्तिगत वजह होती है। इससे नाटक में मेरे द्वारा अपेक्षित या अभिव्यक्त अर्थ कहीं बाधित नहीं होता बल्कि उसका विस्तार होता है। इसलिए मुझे नहीं लगता कि थिएटर किसी वर्ग विशेष से जुड़ा हुआ है। इसमें हर व्यक्ति अपने तरीके से, अपने हिसाब से अपने लिए कुछ न कुछ जरूर हासिल करता है।

अगर आप यूनिवर्सिटी में विभाग के अध्यक्ष नहीं होते तो आपकी दो या तीन क्लासेस होती हैं। यह सब टाइम मैनेजमेंट की बात है। कि आपको नौकरी भी करनी है घर देखना है बच्चों का ध्यान रखना है और अपने प्रोफेशन पर भी ध्यान देना है। तो मैंने यह साथ साथ किया और सब कुछ अच्छे से मैनेज हो गया। दूसरी बात यह भी है कि थिएटर का काम लेखन की तरह नहीं होता जिस में आपको रेगुलर लिखना पड़ता है। आप साल में एक नाटक करते हैं जिसकी तीन या चार महीने चलती है और फिर समय-समय पर उसके शो होते रहते हैं। थिएटर लोगों के साथ जुड़ा है, स्पेस के साथ जुड़ा है और वक्त के साथ जुड़ा है।

आप कुछ देर पहले ही कहा कि थिएटर की दुनिया में आर्थिक संघर्ष का सामना करना पड़ता है?आप अपने नाटकों के लिए बजट कहां से क्रिएट करती हैं?

मैंने तो जबसे थिएटर शुरू किया, मैं भारत सरकार के सांस्कृतिक मंत्रालय से मिलने वाली ग्रांट पर निर्भर करती आई हूँ और मुझे कोई खास दिक्कत नहीं आई लेकिन पिछले छह सालों में मुझे सरकारी ग्रांट से कोई पैसा नहीं मिला।

कारण?

इसके बहुत से कारण हैं। (हंसते हुए) इस मुद्दे पर चर्चा होगी तो एक और लंबा इंटरव्यू हो जाएगा। लेकिन मैंने पिछले जो तीन नाटक किए हैं उसके लिए मुझे 'रंगशंकरा' (बंगलूरु), गोएथे इंस्टिट्यूट-मैक्समूलर भवन (नई दिल्ली) और 'हयवदन' जैसी बहुत बड़ी प्रोडक्शन के लिए मुझे बिड़ला ग्रुप ऑफ़ इंडस्ट्रीज़ ने ग्रांट दी है।

आपने इतनी अच्छी-अच्छी प्रस्तुतियां दी हैं? आप डायरेक्टर के तौर पर अपनी प्रोफेशन से पूरी तरह संतुष्ट हैं या अभी कुछ और बाकी है जिसे करने की ललक शेष है?

मैं जब कोई काम करती हूं तो उसे करने के बाद उसे भूल जाती हूँ। जब कोई नया काम शुरू करती हूं तो लगता है जैसे किसी खाली स्टेट पर लिखना है। इसलिए बहुत कुछ और करने की इच्छा शेष है। क्योंकि हर नया काम अपने आप में अलग होता है।

हमारे यहां विदेशों की तरह बड़े-बड़े थियेटर फेस्टिवल का अभी भी अभाव है। आपको क्या लगता है?

हमारे यहां कला के प्रति सरोकार कुछ उदासीन सा है। एक जमाने में एनएसडी का थिएटर फेस्टिवल 'भारंगम' बहुत ही महत्वपूर्ण हुआ करता था। जहां चीन, जापान, फ्रांस, जर्मनी जैसे देशों से आए थिएटर ग्रुप के नाटकों का मंचन होता था। लेकिन अब वह माहौल नहीं रहा। पहले मैं हाल ही में त्रिचूर गई थी जहां एक बहुत ही बहुत बड़ा थियेटर फेस्टिवल हुआ। वहां बहुत ही सुंदर माहौल था। उससे कुछ समय पहले मैं मशहूर डायरेक्टर दीपन शिवनाथन का नाटक' लीजेंड ऑफ़ कसक' देखने केरल गयी थी। इतनी गज़ब की प्रस्तुति थी कि बयान करना मुश्किल है। एक गाँव में खुली जगह पर नाटक का मंचन हुआ और लगभग तीन हज़ार दर्शकों से एक साथ नाटक देखा। यह एक वर्ल्ड क्लास परफॉरमेंस थी। थिएटर के प्रति ऐसी एक्साइटमेंट, ऐसा उत्साह केरल में अभी है, लेकिन उत्तर भारत में ऐसा कुछ खास देखने को नहीं मिलता। यहाँ हर चीज़ में राजनीति का दखल है। ऐसे माहौल में आप क्या कर सकते हो। बिना सपोर्ट के आप कुछ भी नहीं केर सकते। ऐसी स्थिति पर बहुत खेद होता है। ●

रंगमंच से युग की चेतना का निर्माण होता है

(डॉ. राधाकृष्णन ने यह बात एनएसडी के लिये कहीं थी)

अमिताभ श्रीवास्तव

क्या आपको पता है कि आज जिस एनएसडी का इतना बड़ा रुतबा है वह कभी दिल्ली के निजामुद्दीन और कैलाश कालोनी के एक मकान में चलता था और उसका नाम पहले राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय एवम एशियन थिएटर इंस्टीटूट था। उसके पहले निदेशक सातु सेन थे। पहले बैच में 15 छात्र थे जिनमें एक बिहार के प्यारे मोहन सहाय भी थे और उनमें से कई लोग तो आज दुनिया में नहीं हैं और कई लोगों को हम जानते भी नहीं।

1959 में नेमिचन्द्र जैन, डी एन ठाकर, शीला भाटिया, गोवर्धन पांचाल, पंचानन पाठक, कोकिला मवानी, इंदु भूषण घोष और जी एन दासगुप्ता, तरसेम लाल शर्मा जैसे लोग शिक्षक नियुक्त हुए थे जिनमें से अधिकतर के बारे में लोग नहीं जानते। बाद में शांता गांधी और रीता गांगुली भी जुड़ी। 1964 में जब रंगमंडल शुरू हुआ तो पहले प्रमुख ओम शिवपुरी थे। और पहले संस्कार रंग टोली के प्रमुख बैरी जॉन थे। एनएसडी सोसाइटी के पहले अध्यक्ष पी वी राजमन्नार थे। बाद में महाराज जया चामराज वाडियार इंदिरा गांधी, के पी एस मेनन, कमला देवी चट्टोपाध्याय, शांता गांधी, सुरेश अवस्थी, विजया मेहता और पी सी जोशी जैसे लोग अध्यक्ष बने।

इसी एनएसडी ने ओम शिवपुरी, नसरुद्दीन शाह, ओम पुरी, अनुपम खेर, पंकज कपूर, मनोहर सिंह जैसे अभिनेताओं को पैदा किया तो रोहिणी हट्टगड़ी, उत्तरा बावरकर सुरेखा सीकरी, सुधा शिवपुरी, हिमानी शिवपुरी, हेमा सिंह, सीमा विश्वास जैसी अभिनेत्रियों को राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित किया। शांता गांधी, शीला भाटिया ब. व करन्त, बृजमोहन शाह, मोहन महर्षि, रामगोपाल बजाज, रतन थियम, भानु भारती, कीर्ति चौधरी और देवेंद्र राज अंकुर, अनुराधा कपूर जैसे लोग राष्ट्रीय स्तर के निर्देशक बने। आज यह सब एक इतिहास बन चुका है। उस एनएसडी का यह इतिहास कम दिलचस्प और रोचक नहीं है बल्कि वह एक ऐसा इतिहास है जिसके बिना आजादी के बाद भारत का सांस्कृतिक इतिहास लिखा नहीं जा सकता।

पुराने किले पर अलका जी निर्देशन में अंधा युग का मंचन

एन एस डी ने अब अपने स्वर्णिम गौरवशाली 50 साल के इतिहास को लिपिबद्ध किया है। एनएसडी के छात्र रहे संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार से सम्मानित अमिताभ श्रीवास्तव के संपादन में एक महत्वपूर्ण किताब आई है जिसमें उनका श्रम झलकता है। अमाल अल्लाना ने उन्हें इस दस्तावेजीकरण की जिम्मेदारी दी थी जिसे उन्होंने बखूबी निभाया। यह अलग बात है कि यह किताब समय पर नहीं आई बल्कि विलंब से आई पर देर आई दुरुस्त आयी वाली कहावत इसने चरितार्थ की।

जो लोग भारतीय रंगमंच में रुचि रखते हैं और अगर वे कुछ शोध कार्य करना चाहते हैं तो यह उनके लिए एक अनिवार्य पुस्तक है और देश के हर पुस्तकालय में इस किताब की एक प्रति रहनी चाहिए ताकि देश के नाटक प्रेमी इस संस्था के गौरवशाली इतिहास से परिचित हो सकें। इस किताब से हम कई तरह की नई जानकारियों से भी रूबरू होते हैं जो आज लोगों को मालूम नहीं है, यहां तक की एनएसडी के लोगों को भी उसकी जानकारी नहीं है। अमिताभ श्रीवास्तव को इस किताब लिखने में काफी भाग दौड़ और छानबीन करनी पड़ी है क्योंकि एनएसडी से जुड़ी कई बातों को पहले कहीं दर्ज नहीं किया गया था और बहुत लोगों ने स्मृति के आधार पर इधर उधर बातें लिखी थीं। उन सारी बातों को आधार सामग्री बनाकर अमिताभ जी ने इस किताब को लिखा है जिसमें करीब 500 फोटोग्राफ है और कई चित्र तो बहुत ही दुर्लभ हैं। इसमें तत्कालीन प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू का भी एक चित्र है जब वह एनएसडी आए थे। अगर उसे जमाने में बहुत सारे चित्रों को संकलित किया जाता है तो आज हमारे पास एनएसडी का जीता जागता इतिहास मौजूद होता है। एक जमाने में जब रंग यात्रा प्रदर्शनी हुई थी तो उसमें कई दुर्लभ फोटोग्राफ दिखाए गए थे। वह भी

एनएसडी के छात्रों के साथ पंडित जवाहरलाल नेहरू

एनएसडी का एक चित्रमय इतिहास था जिसमें उस दौर के पोशाक और मंचन से जुड़ी चीजें भी दिखाई गई थीं। इस किताब से पता चलता है कि हिंदी के प्रख्यात लेखक सदानंद हीरानंद वात्स्यान "अज्ञेय" ने दूसरे दीक्षांत समारोह की अध्यक्षता की थी। अगर उसे दीक्षांत समारोह का कोई चित्र होता तो आज उसकी ऐतिहासिकता और बढ़ जाती।

इस किताब से यह भी पता चलता है कि एनएसडी की स्थापना के समय सरकार रू० 200 की छात्रवृत्ति भी देती थी और पेड सीट के लिए साल में रू० 300 लगते थे। बाद में इंदिरा गांधी ने इसकी छात्रवृत्ति 200 से बढ़कर 250 कर दी थी। 1972 में गणतंत्र दिवस के परेड में एनएसजी के छात्रों ने भी एक बार भाग लिया था लेकिन उसके बाद से ऐसी परंपरा खत्म हो गई। एक जमाने में सरकार की प्राथमिकता में संस्कृति अधिक थी तो इस तरह की गतिविधियां काफी हुई लेकिन धीरे-धीरे देश की राजनीति के बदलने के कारण संस्कृत में सत्ता की रुचि कम होती गई और इस तरह के संस्थान राजनीति के अखाड़े बनते गए। कई बार तो ऐसा भी हुआ कि एनएसडी के कार्यक्रमों के उद्घाटन के लिए संस्कृति मंत्रियों ने समय तक भी

पुस्तक से पता चलता है कि इसके रंगमंडल की स्थापना कब हुई उससे कौन कौन लोग शुरू में जुड़े थे संस्कार रंग टोली, भारत रंग महोत्सव, श्रुति, रंग प्रसंग पुस्तक प्रश्न कब कैसे शुरू हुआ।

एनएसडी का नेमाजुद्दीन में दफ्तर

नहीं दिया हालांकि इस तरह के प्रसंग एनएसडी के दस्तावेज से संबंधित नहीं है क्योंकि यह दस्तावेज तो एक औपचारिक इतिहास है लेकिन एनएसडी के इतिहास से जुड़ी ऐसी कई घटनाएं हैं जिन्हें अगर उसके इतिहास की किसी दूसरी किताब में दर्ज किया जाए तो उसे एक और तस्वीर सामने आएगी कि आखिर एनएसडी बाद में किस तरह की राजनीति का शिकार हो गया और उसमें किस तरह की अव्यस्था तथा अराजकता भी पैदा हुई और धीरे-धीरे उसका उसमें गिरावट भी आई। बहरहाल इस किताब से पता चलता है कि पहले बैच से लेकर 50 वें बैच तक के छात्रों की कौन कौन सी प्रस्तुतियां हुई। इसकी एक पूरी सूची अंत मे दी गयी है जिससे मालूम होता है कि करीब 300 से अधिक नाटकों का मंचन इन छात्रों ने किया।

पुस्तक से पता चलता है कि इसके रंगमंडल की स्थापना कब हुई उससे कौन कौन लोग शुरू में जुड़े थे संस्कार रंग टोली, भारत रंग महोत्सव, श्रुति, रंग प्रसंग पुस्तक प्रश्न कब कैसे शुरू हुआ। कब तक एनएसडी रवींद्र भवन में काम करता रहा कब बहावलपुर हाउस में आया, कब यह एक स्वायत्त संस्था बनी कब पूरा परिसर इसे सौंपा गया। यह सारी जानकारी इस किताब में दी गयी है।

किस किस बैच में कौन कौन लोग आए और बाद में कैसे बड़े सितारे बन गए। किन किन लोगों की आपस में शादियां भी हुईं। किन किन लोगों ने इस्तीफे भी दिए। एक बार एनएसडी जीरो ईयर भी घोषित हुआ। लेकिन देक के छात्रों की समस्याओं का उनकी हड़ताल और धरने प्रदर्शन का भी इतिहास है। अब तो सरकार ने नियंत्रण और दवाब का भी इतिहास है। फिर भी यह एक महत्वपूर्ण दस्तावेज हमारे सामने आया है। हर संस्थान को अपना एक इतिहास लिखना लिखवाना चाहिए। अमिताभ जी निसंदेह बधाई के पात्र हैं। ●

स्वर मुद्रा में कुमार गन्धर्व जी

युवा कवि पीयूष दहिया ने "स्वर मुद्रा" पत्रिका का कुमार गन्धर्व पर करीब 1100 पृष्ठों का महाविशेषांक निकाला है जिसमें कुमार जी से जुड़े 111 लेख इंटरव्यू कविताएं आदि हैं। देश के किसी भी कलाकार पर इतना विशाल अंक आज तक नहीं निकला होगा। इसमें कुमार जी पर अंग्रेजी और मराठी में लिखे गए लेखों का पहली बार हिंदी अनुवाद भी शामिल किये गये हैं।

पिछले दिनों मंडला में रज़ा स्मृति समारोह में इसका विमोचन किया गया। कुमार जी के जन्मशती वर्ष में रज़ा फाउंडेशन ने कई कार्यक्रम भी किये। ध्रुव शुक्ल ने कुमार जी पर सुंदर जीवनी भी लिखी जिसे फाउंडेशन ने छापा है। इसके अलावा कुमार मेरा सखा शीर्षक से डॉक्टर चंद्रशेखर लेले की मराठी में लिखी गयी पुस्तक का हिंदी अनुवाद भी फाउंडेशन ने छापा।

दो खंडों में प्रकाशित स्वर मुद्रा के अंक में रविशंकर, विजय तेंदुलकर, अमजद अली खान, निर्मल वर्मा, अरुण खोपकर, राहुल बारपुते, प्रभाष जोशी के अलावा अशोक वाजपेयी, मृणाल पांडेय, कुलदीप कुमार, मंजरी सिन्हा के लेख हैं। साथ में जे. स्वामीनाथन और सितांशु यशचन्द्र की कविताएं भी।

"कुमार गन्धर्व के संगीत पर विचार करते समय पहली बात जो ध्यान में आती है वह यह है कि उसमें विरोधों का सहज सामंजस्य हो पाता है। उसके वितान में विलाप, उल्लास, प्रार्थना, पुकार, चीख, एकान्त, सामुदायिकता, उड़ान और ठहराव, खोज, भटकाव आदि सब समाहित हैं। वे एक ऐसे संगीतकार थे जिनके लिए आसपास दैनिक जीवन, उसकी घटनाएँ और छवियों, पड़ोस आदि सब संगीत का उपजीव्य थे या हो सकते थे। नये रागों की उनकी रचना, एक तरह से, शास्त्रीयता का बन्द दरवाजा अपने मुहल्ले-पड़ोस पर खोलने जैसा था। उनकी कई नयी बन्दिशें किसी गाँव के नाम, स्टेशन पर कुली की दशा, किसी मित्र से आए उलाहने आदि को लेकर रची गयी हैं। संगीत कुमारजी के यहाँ भरे-पूरे जीवन का रूपक है, ऐसे कि जैसे वे जीवन का कुछ भी अनगाया नहीं छोड़ना चाहते। स्वयं भौतिक रूप से कठिन जीवन संघर्ष में फँसे कुमारजी के लिए संगीत लगभग शब्दशः जिजीविषा था। वे जीने के लिए गाते थे और गाने के लिए जीते थे। वे अपने जीवन में मृत्यु के बहुत नज़दीक पहुँचे थे। इसलिए उनका बाद का संगीत नश्वरता और काल की छाया में रचा-गाया संगीत है। अपनी और स्वयं संगीत की अनिवार्य भंगुरता का बहुत गहरा और तीखा अहसास उन्हें था।

अपने समय की शास्त्रीयता का एक बेहद मूल्यवान विस्तार कुमारजी ने उसके अहाते में लोक-संगीत की उपस्थिति करा कर किया। यह बात याद करने की है कि अपने समय में, बल्कि उसके पहले और बाद के समय में भी, कुमारजी ऐसे एकमात्र शास्त्री संगीतकार हैं, जिन्होंने मालवी लोक-संगीत की पूरी-पूरी संगीत सभाएँ प्रस्तुत की, वह दुस्साहसिक तो था ही उससे अधिक यह शास्त्रीयता को उसके मूल और उद्गम की याद दिलाना भी था"

---अशोक वाजपेयी ●

कुमार गन्धर्व के प्रति जे. स्वामीनाथन

अधर में खिलता चला गया
क्षितिज का मौन

रात अपनी चादर में तारों को समेट

बन गयी

एक धवल बादल की फुई
तिर आया आँखों में

पूजा का सजल थाल :

'आनन्दाच्या डोही आनन्द तरंग,
आन्दचि अंग आनन्दाचे'

(20 सितम्बर, 1976)
(साभार: पूर्वग्रह, अंक: 16.)

निर्भय निर्गुन गुन रे गाऊँगा

पण्डित कुमार गन्धर्व: संगीत का एक निर्भीक आलिंगन

अंग्रेज़ी से अनुवाद : मदन सोनी

विद्या शाह

कभी-कभी हम उन संगीतकारों के बहुत निकट महसूस करते हैं जिन्होंने अपना पूरा जीवन संगीत के इर्दगिर्द खड़ा किया होता है। वे धीरे-धीरे आपको एक आलिंगन में बाँधते जाते हैं और अपने संगीत से निःसृत होने वाली विशुद्ध ऊर्जा, जीवन्तता तथा आवेग से आपको अभिभूत कर लेते हैं। ज़रूरी नहीं कि आपने उन्हें देखा हो या प्रत्यक्ष तौर पर सुना हो। यह चीज़ मैं बेग़म अख़्तर के बारे में, और सर्वाधिक निश्चित तौर पर पण्डित कुमार गन्धर्व के बारे में महसूस करती हूँ। कुछ वर्ष पहले, जब मैं बेग़म अख़्तर की जन्मशती के अवसर पर उन्हें श्रद्धांजलि के तौर पर एक लेख पर काम कर रही थी, मुझे उनके मुरीदों और परिवार के लोगों से एक क़िस्सा सुनने मिलता था कि किस तरह वे कई वर्षों तक गाने से दूर रही थीं और किस तरह इस चीज़ का उनकी सेहत पर गहरा असर हुआ था। यह विडम्बना ही कही जाएगी कि अन्ततः यह संगीत ही था जिसने उन्हें अपने अवसाद से उबरने में मदद की थी, जब उन्होंने "बेग़म" अख़्तर के रूप में अपनी दूसरी पारी शुरू करते हुए अपनी मर्मस्पर्शी रचना "कोयलिया मत कर पुकार करेजवा लागे कटार" गायी थी। उनकी आवाज़, उनका संगीत-कोष, गाने की उनकी शैली, तमाम चीज़ों में ज़बरदस्त बदलाव आ गया था। एक भिन्न सन्दर्भ में किन्तु कमोबेश वैसी ही स्थिति कुमार जी (जैसाकि दुनिया उन्हें स्नेहपूर्वक पुकारती है) की भी रही थी, जिन्हें एक ऐसे समय में स्वास्थ्य सम्बन्धी गम्भीर समस्या का सामना करना पड़ा था जब वे अपने सांगीतिक जीवन के शिखर पर थे। वे अत्यन्त दुखदायी पाँच वर्ष, जो संयोग से उन्हें देवास भी ले आये थे जो उसके बाद से आजीवन उनका घर बना रहा, उनकी सांगीतिक प्रतिभा के लिए एक नया दृष्टिकोण का कारण बनते हैं, जो पारम्परिक की व्याख्या के लिए एक ऐसा नया साँचा रचते हैं जो एक साथ कई चीज़ों को उद्बुद्ध करता है- एक गहन पुनरावलोकन, अपरिमित आनन्द, उन्मुक्तता, चिन्तन, और यहाँ तक कि विक्षिप्तता। जिस तरह बेग़म अख़्तर ने ग़ज़ल गायकी को एक स्वतन्त्र सांगीतिक विधा के स्तर पर पहुँचाया था, ठीक वही काम ख़याल के उस्ताद पण्डित कुमार गन्धर्व ने भजन, विशेष रूप से निर्गुण भजन के साथ किया।

युग प्रवर्तक लोग शायद यही करते हैं। वे आपको अपने संगीत की आत्मीय दुनिया के निकट लाते हुए उस परम्परा की बुनियाद को तहस-नहस कर देते हैं जिसका वे अनुसरण कर रहे होते हैं। वे आपके लिए संगीत की भावनात्मक सम्भावनाओं का द्वार खोल देते हैं। लेकिन संगीत की जड़ें व्यक्ति के जीवन के अनुभवों में गहरे फैली होती हैं और हर ख़याल या भजन या ठुमरी या टप्पा का एक गहरा प्रभाव होता है और कभी-कभी उससे कोई स्मृति जुड़ी होती है। कुमारजी का संगीत मेरे जीवन में मेरी युवावस्था के दिनों में आया था, जब मैं दो दशक से भी ज़्यादा पहले अपने जीवन-साथी, पार्थिव से मिली थी और मेरा परिचय उत्तर भारतीय संगीत- मुख्यतः ख़याल और निर्गुण- से हुआ था और कुमार गन्धर्व का संगीत इस परिचय के केन्द्र में था। हिरन और हंस ने एक नया अर्थ हासिल कर लिया था, और मैं विशेष रूप से बालू की भीत पवन का खम्भा और अड़सठ तीरथ हैं घट भीतर जैसे विचारों से चकरायी हुई थी। ये विलक्षण रूपक थे। तब मुझे अहसास हुआ कि वे अपने गीतों और रागों से जो अनेक मनःस्थितियाँ उत्पन्न करते थे, वे सिर्फ़ उनके निर्गुण और सगुण भजनों की ही नहीं बल्कि उनकी ख़याल बन्दिशों की भी अनूठी विशेषताएँ थीं।

जब मैंने ख़याल गायकी सीखने की शुरुआत की, तो मुझे कुमारजी का संगीत बहुत ही रोमांचक प्रतीत हुआ दृ जहाँ एक ओर पूर्वानुमेयता की पुस्तक के अनेक नियमों को तोड़ने वाला, वहीं इसी के साथ-साथ उसके व्याकरण का सख़्ती के साथ पालन करता हुआ। यह बहुत जटिल प्रक्रिया थी। मैंने कर्नाटक संगीत की बुनियादी तालीम प्राप्त की थी जहाँ कृति वह मूल चीज़ होती है जिसके इर्दगिर्द उपज की जाती है। जैसाकि हिन्दुस्तानी संगीत के जानमाने अध्येता और लेखक राघव मेनन ने कहा है, "पूरी तरह से स्वरलिपिबद्ध, संयोजित की गयी कृतियों की विरासत, यथावत रीति से अंशाकित गमकों का प्रयोग और बोलचाल की भाषा तथा बोलियों के संवेगों से सापेक्षिक स्वतन्त्रता कर्नाटक संगीत की उभरती हुई शक्ल के सौम्य निरीक्षण के एक निश्चित मान को क़ायम रखने में मदद करते हैं।" यानी, इस संगीत की संरचनाबद्ध प्रकृति से इसके विकास को ज़्यादा बेहतर ढंग से समझा जा सकता है। यह स्थिति हिन्दुस्तानी संगीत से भिन्न है जिसे अपने इतिहास के अभिलेखन में एक ख़ास द्वैध और मौखिकता पर निर्भरता की चुनौती का सामना करना पड़ता है। (लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि कर्नाटक संगीत में उपज के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। उदाहरण के लिए इसके एक तरीक़े के तौर पर नेरावल, उपजपरक तात्कालिक संगीत है, जहाँ रचना से कोई पद या पंक्ति चुन ली जाती है और उसे उसके राग में स्वतन्त्र ढंग से अलंकरण के साथ बरता जाता है और इस तरह राग के विशिष्ट पहलुओं और उन्हीं के साथ-साथ गीत के साथ उसके घुलने के ढंग को विशिष्ट रूप से दर्शाया जाता है। इसे मनोधर्मा संगीतम के नाम से जाना जाता है। यह एक अर्थ में बन्दिश की बढ़त जैसा है।) इसलिए, मेरे लिए, राग के विस्तार में बन्दिश हमेशा केन्द्रीय रही है। पारम्परिक अर्थ में, ख़याल गायकी में बन्दिश का महत्त्व बदल जाता है। कई घरानों में और कई ख़याल गायकों के लिए भी यह प्रस्तुति का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष नहीं है। लेकिन कुमारजी के मामले में बन्दिश बढ़त के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण थी। उनकी महान रचना अनूप रागविलास, जो दो खण्डों में बन्दिशों का संग्रह है, में शामिल कई बन्दिशें इसका प्रमाण हैं, जहाँ यह बन्दिश ही है जो राग में बढ़त और उपज को निर्धारित करती है। उदाहरण के लिए, "सब सुर साधे जब भयो पार" में निबद्ध उनका भीमपलासी हमें मुखड़े में एक असामान्य तार षडज में ले जाता है या श्रीकल्याण के मुखड़े के प्रक्षेप में, "देखो रे उत फूलन लागी" में जहाँ उसमें खिलते हुए फूलों की ओर देखने को आग्रह किया गया है। यह चीज़ हमें मूल मुद्दे की ओर ले जाती है- शब्द की प्रासंगिकता की ओर। कुमारजी की गायकी में राग, ताल और शब्द के परस्पर जुड़ाव में एक जैविक अखण्डता है। उन्होंने अपनी बन्दिशों में कई विषय-वस्तुओं की खोज की है। मसलन, हमीर की उनकी बन्दिश : "अजब दुनिया, जारिए

कहाँ रे! जान पड्बो न मैका, आगे कि पीछे रे!"

फिर भीमपलासी जो पतंग उड़ाने को लेकर दो लड़कों के बीच की बातचीत जैसी प्रतीत होती है :

उड़ाय दो पतंग म्हारे दो बीरा
नी रे उड़ाइ आवे है माने

या मुल्तानी जिसमें ग़ज़ल जैसा ज़ायका है :

दिल बेकरार है गावो
अब तक नी आयो

या अपराह्न के राग मधमाद सारंग की एक असामान्य बन्दिश, जो एक पेड़ तले सुस्ता रहे थके हुए खेतिहर मज़दूरों के साथ उनकी बातचीत से प्रेरित है :

रुखवा तलेय आया, आया तले आया

कुमारजी के संगीत की विविधता भी विस्मयकारी थी। बेशक, उन्होंने ख़याल और भजन गाये थे, जिनमें से कई उनकी अपनी रचनाएँ थीं, कुछ ख़ूबसूरत जोड़ के राग- जिनमें मेरा प्रिय राग है सोहिनी-भटियार, लेकिन उन्होंने ठुमरी, टप्पा, मराठी भावगीत, नाट्यगीत भी गाये थे और गाँधी मल्हार समेत अनेक नये रागों की रचना भी की थी।

मुझे कुमारजी के बेटे पण्डित मुकुल शिवपुत्र जी से कुछ समय तक सीखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। मुझे आज भी याद है कि किस तरह उन्होंने अद्भुत गौड सारंग "पिया बसेरा घर आली" में कई तरह से उपज की थी। वे जिस तरह शब्दों और राग से खेलते थे वह किसी रहस्यमय अक्षय पात्र के खुलने जैसा महसूस होता था। 2006–7 के आसपास का यही वह समय था जिसके दौरान जब वे अक्सर घर आया करते थे, मेरे बच्चों के साथ समय बिताते थे, उन्होंने गुड़ी पड़वा के अवसर पर बच्चों के लिए तिल-गुड़ के लड्डू बनाये थे। इस दौरान उन्होंने बन्दिशों का अपना संचयन तैयार किया था जिसका आकल्पन और प्रकाशन पार्थिव ने किया था। यह ललित, भीमपलासी, श्याम कल्याण, छाया कल्याण, शहाना बहार आदि रागों की पेचीदा बन्दिशों का दुर्लभ संग्रह था। मुकुलजी का यह सान्निध्य ही था, जिस दौरान मुझे उनकी असाधारण प्रतिभा को देखने-सुनने का और उनके संगीत को समझने का अवसर मिला था, जब मैंने स्वयं को कुमारजी की आवाज़ के सबसे निकट पाया था। वह वाकई अभिभूत कर लेने वाला अनुभव था।

पण्डित सत्यशील देशपाण्डे जी कुमार जी के शिष्य थे। उनका उनके परिवार के साथ लम्बा सम्बन्ध रहा था। जब वे मुझे राग मधुवन्ती की ख़ूबसूरत बन्दिश, "बैरन बरखा रुत आयी" सिखा रहे थे, तब उन्होंने कुमार जी के काम के महत्त्वपूर्ण संगीतशास्त्रीय पक्ष पर प्रकाश डाला था। कुमार जी की गायकी इतनी सशक्त है कि वह हमारे मानस में जैसे उत्कीर्ण हो जाती है और और गायक को भरसक उस मार्ग का अनुसरण करने को आकर्षित करती है। लेकिन एक ख़याल गायक के रूप में यह अनिवार्य है कि बन्दिश की दूसरे द्वारा की गयी व्याख्या की निरी अनुगूँज बन जाने से ऊपर उठा जाए और उस बन्दिश में ऐसा कुछ अनूठा खोजने की कोशिश में लगा जाए कि वह बन्दिश उसकी अपनी बन जाए, जैसाकि कुमार जी ने स्वयं ख़याल में हासिल किया था। मैंने कहीं पढ़ा था कि उनकी पत्नी और सहगायिका वसुन्धरा जी ने कहीं कहा था कि उन्होंने मध्य लय को इसलिए अपनाया था क्योंकि उनका मानना था कि वह जीवन की सहज लय (गति) है! एक बार फिर, मानकीकृत संगीत से ऐसा निजी और मूलगामी विचलन ध्यान देने योग्य है।

लब्धप्रतिष्ठ संगीतविद् और पण्डित भीमसेन जोशी के जीवनीकार मोहन नादकर्णी ने इलस्ट्रेटेड वीकली ऑफ़ इण्डिया में 1984 में लिखे गये अपने एक लेख में कहा था कि कुमार जी का संगीत "अपने रूप, आकल्पन और ग़ैरपारम्परिक दृष्टिकोण में अनूठा है; उसने घराने की अवधारणा-मात्र को अस्वीकार करने की कोशिश की थी, उस परम्परा को अस्वीकार करने की कोशिश जिसने कभी उनकी असाधारण प्रतिभा का पोषण किया था, उसे प्रोत्साहित किया था। संगीत के अध्येता एस. कालिदास के साथ अपनी एक अनौपचारिक बातचीत में उन्होंने कहा था कि दो ऐसे कलाकार हैं जो "घराना" की "डिस्कूलिंग" में गहरे संलग्न रहे हैं। ऐसा करने वाले पहले कलाकार थे उस्ताद अमीर ख़ाँ। और दूसरे थे कुमार जी जिन्होंने सुनियोजित ढंग से और संकल्पपूर्वक यह काम किया था। इन दोनों ने अपनी शैलियाँ पुराने घरानों से ली थीं लेकिन उन्होंने उन्हीं घरानों के बुनियादी मानदण्डों का विधिवत वि-सर्जन किया जिनका उन्होंने अनुसरण किया था। और ऐसा करते हुए उन्होंने संगीत के परिदृश्य में अत्यन्त सफलतापूर्ण हस्तक्षेप किया। इस लिहाज़ से इन दोनों संगीतकारों की शैलियों ने पारम्परिक उत्तर भारतीय संगीत को गहरे प्रभावित किया। जहाँ अमीर ख़ाँ साहेब को विद्रोही के रूप में नहीं देखा गया, वहीं जाने-माने संगीतविद् अशोक रानाडे और वामनराव देशपाण्डे, दोनों ही कुमार जी को विद्रोही के रूप में देखते हैं। कुमार जी के संगीत की जड़ें ग्वालियर घराने की परम्परा में और आंशिक रूप से पंजाब की परम्परा में गहरे फैली हुई थीं। उन्होंने पण्डित बी.आर. देवधर से सीखा था जो राजा भैया पूछवाले और रहमत ख़ाँ साहेब के प्रशंसक थे। अपने निजी गायन को उन्होंने तीन महत्त्वपूर्ण गायकों की बुनियाद पर खड़ा किया था- ग्वालियर घराना के ओंकारनाथ ठाकुर तथा रहमत ख़ाँ और किराना घराना के अब्दुल करीम ख़ाँ।

वे उस बहती हुई नदी की तरह थे जो जलधाराओं को अपने प्रवाह में शामिल होने की गुंजाइश देती थी और महासागर की दिशा में बढ़ती हुई बाढ़ का रूप ले लेती थी। और यह चीज़ संगीत से परे दूसरे सृजनात्मक क्षेत्रों तक फैली थी। एन.एस. बेन्द्रे और जे. स्वामीनाथन जैसे कलाकार उनकी मित्रमण्डली में शामिल थे जो अपने-अपने काम में प्रयोग कर रहे थे और सम्बन्धित कला की सीमाओं का विस्तार कर रहे थे। भारत भवन भोपाल (जिसकी शुरुआत और आकल्पन कुमार जी के क़रीबी दोस्त श्री अशोक वाजपेयी ने किया था) के निर्माण के दौरान जे. चर्चाओं ने अड्डों का रूप ले लिया था। यह उनका अवाँगार्द दृष्टिकोण और ताज़गी से भर देने वाले विचार ही थे जिन्हें उन्होंने अपने उस संगीत में जगह दी जिसने अनेक कलाकारों को प्रेरणा प्रदान की। मेरे श्वसुर और प्रसिद्ध चित्रकार हक्कू शाह इन कलाकारों में शामिल थे। मैंने एक बार उनसे पूछा था कि वह कौन-सी प्रेरणा है जिसके चलते आप चित्र बनाते हुए अक्सर कुमार जी को सुनते हैं। उन्होंने इसके जवाब में बड़ी साधारण-सी प्रतीत होती किन्तु गम्भीर और प्यारी बात कही थी, जिसे मैं उद्धरित कर रही हूँ :

जब मैंने इस कविता को सुनते हुए रंगों और रेखाओं के साथ खेलना शुरू किया, मैंने उस कविता के प्रति गहरा आकर्षण अनुभव किया क्योंकि उसे पढ़ते हुए मुझे अपरिमित सौन्दर्य और आनन्द का अनुभव हुआ। जब मैं उन्हें सुनता हूँ, तो मुझे यक़ीन हो जाता है कि शब्द श्वास लेते हैं। मेरा विश्वास है कि इस अनुभूति के मर्म में सत्य छिपा हुआ है। और इसलिए चाक्षुष माध्यम से इस सत्य को व्यक्त करना अद्भुत होगा। और इसलिए मैंने विभिन्न कविताओं पर काम करना शुरू किया, और विशेष रूप से "झीनी झीनी" की व्याख्या करने में मुझे बहुत आनन्द आया। ऐसा करते हुए मैं यह देखने की कोशिश भी कर रहा था कि हम विभिन्न कला-रूपों को एक-दूसरे के सान्निध्य में कैसे ला सकते हैं। रूढ़ स्तर पर उन्हें एक-दूसरे से अलग माना जाता है लेकिन अगर वे एक-दूसरे के साथ हों तो उन्हें रचने वाले का और उनका रस लेने वाले का अनुभव बहुत समृद्ध हो सकता है। कभी-कभी कविता अमूर्त होती है, रूपकों से भरी हुई, लेकिन इसके साथ तो हम हमेशा जीते हैं। मुमकिन है कि उन्होंने भी ऐसा ही महसूस किया हो। मेरा विश्वास है कि जब चीज़ें सत्य, सरलता और मासूमियत के साथ रची जाएँगी। उदाहरण के लिए जैसा लोक और आदिवासी कला के साथ होता है, तो वे हमेशा सम्प्रेषित होंगी।

सबसे महत्त्वपूर्ण उनका यह उदाहरण था कि यहाँ तक कि पारम्परिक साँचे के भीतर भी व्यक्ति ख़ुद को उन बन्धनों से मुक्त होने की कामना कर सकता है जो सृजनात्मक सम्भावनाओं को कुन्द करते हैं। यह एक अनिवार्य सचाई है कि हिन्दुस्तानी संगीत अपने में कोटियों और स्तरों में बँधा हुआ है। इस सन्दर्भ में देखें तो कुमार जी ने अपने संगीत के माध्यम से इन विभाजनों का ख़ूबसूरत ढंग से अतिक्रमण किया, वे उसके कोष से बाहर निकले और अन्ततः उन्होंने ऐसी उड़ान भरी कि उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत की एक नयी परिभाषा कर दी। वे शायद संगीत की सघन और रहस्यमय दुनिया के बीच उसी तरह चले होंगे जैसे कबीर दास अपने हिरन से आग्रह करते हैं : "समझ-बूझ बन चरना", लेकिन वे स्पष्ट ही "ज्ञान की जड़ियों" के धनी थे, उस चीज़ के धनी जो उन्हें असाधारण संगीतकार बनाती है।

इस अविश्वसनीय मनुष्य को मेरा प्रणाम। ●

देवानंद के साथ काम करने वाली प्रमुख अभिनेत्रियाँ

देवानंद की स्त्रियाँ: शोखी, चंचलता और उल्लास से भरी

यशस्विनी पांडेय
मो० 8306396839

19 जुलाई 1943 को जब धर्मदेव पिशोरीमल देवानंद बीस साल की उम्र में फ्रंटियर मेल से मुम्बई आये तो उनकी जेब में केवल 30 रुपए थे। वह लाहौर के गवर्नमेंट कॉलेज से अंग्रेजी साहित्य में बी.ए. करके आये थे। छात्र के रूप में वे अशोक कुमार और लीला चटनीस से मिल चुके थे जो उनके कालेज में एक बार आये थे। युवा देव की आंखों में एक बड़ा स्टार बनने का सपना था क्योंकि वह तब अशोक कुमार की लोकप्रियता देख चुके थे। वह जमाना सोहराब मोदी, मोतीलाल, श्याम और चंद्र मोहन का था तब राज कपूर दिलीप कुमार जैसे लोग अभी फिल्मों की दुनिया में नहीं आए थे और किसी ने तब यह सोचा नहीं था कि इन तीनों की तिकड़ी कई दशकों तक बॉलीवुड पर राज करेगी। इन तीनों नायकों ने मुस्लिम लड़की से प्यार किया जो अपने समय की बड़ी स्टार थीं पर दुर्भाग्य से किसी का प्रेम सफल नहीं हुआ और उनकी उनसे शादियाँ नहीं हुई। राजकपूर-नरगिस, दिलीप-मधुबाला और देवानंद-सुरैया उस दौर की तीन असफल प्रेम कहानियां थीं। तब समाज इतना खुला और उदार नहीं था लेकिन सबसे दुखद जीवन सुरैया का रहा देव साहब से शादी न होने पर आजीवन कुंवारी रही।

कॉलेज के दिनों में देव साहब का पहला प्यार उषा चोपड़ा थीं जिन्हें वे अपनी कक्षा में चूम लेना चाहते थे। यह घटना इस बात का संकेत देती है कि देव साहब शुरू से ही बेहद रोमांटिक व्यक्तिव के धनी थे। उन्होंने एक इंटरव्यू में स्वीकार किया है उनके जीवन में स्त्रियों का कितना महत्व रहा है। देवसाहब विवाह के बाद भी स्त्रियों के साथ अपनी मित्रता को उतनी ही महत्वपूर्ण मानते थे जितना अपनी पत्नी के साथ सम्बन्धों को महत्वपूर्ण मानते रहे। यही नहीं उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि उनका विवाह के बाद भी दूसरों से प्रेम संबंध बना रहा और इस बात की जानकारी उनकी पत्नी को भी रही है। शुरू में पत्नी ने आपत्तियां भी जताई पर बाद में धीरे-धीरे वह देवानंद के व्यक्तिव को समझ गयीं और उन्होंने इसे स्वीकार कर लिया। पर माला सिन्हा ने कहा है कि देव साहब का स्त्रियों के साथ बड़ा सम्मानजनक रिश्ता रहा है और वह कहीं से अशिष्ट और अश्लील नहीं थे। वहीदा रहमान ने भी देव साहब की सज्जनता की चर्चा की है और कहा है कि उस ज़माने में देव साहब जैसी हैंडसम पर्सनालिटी से स्त्रियों का आकर्षित होना भी स्वाभाविक था। आशा पारिख ने बताया है कि "महल" शूटिंग के दौरान इतनी लड़कियां उनको देखने आ गईं की भीड़ मच गई और शूटिंग रद्द करनी पड़ी।

1945 से लेकर 2011 तक देव साहब ने 66 वर्षों तक बिना रुके, बिना थके फिल्मों में अभिनय किया। देव आनंद ने 114 फिल्में कीं। इनमें से 20 सुपर हिट हैं और 20–22 हिट सफल रेंज में हैं। इस लिस्ट में गाइड, ज्वेल थीफ, जॉनी मेरा नाम, नौ दो ग्यारह, पेइंग गेस्ट, काला पानी, हम दोनो, तेरे घर का सामने, बाजी, टैक्सी ड्राइवर, हाउस नंबर 44, सीआईडी, काला बाजार, जाली नोट, जब प्यार किसी से होता हैं, असली नकली, ज़िद्दी, जाल, पतिता, मुनीमजी, फंटूश, सोलवा साल, लव मैरिज, माया, तीन देवियाँ, तेरे मेरे सपने, हरे रामा हरे कृष्णा, देस-परदेस, अमीर गरीब, वारेंट आदि जैसी फिल्में शामिल हैं।

देव आनंद को पहला ब्रेक 1945 में, प्रभात फिल्म स्टूडियो द्वारा निर्मित फिल्म "हम एक है" में मिला, जो 1946 में रिलीज़ हुई थी। उन्हें तीन साल के लिए 400 रुपये प्रति माह अनुबंधित किया गया। उसमे अभिनेत्री कमला कोटनिश थी जो डॉक्टर कोटनिश की बहन थी। वही कोटनिश जिन पर वी शान्ताराम ने "डॉक्टर कोटनिश की अमर कहानी" फ़िल्म बनाई थी।

उन्होंने 1948 में फिल्म "विद्या" में सुरैया के साथ बॉलीवुड में अपना पहला प्यार किया। यह सफल नही हुआ और इसकी कथा सब जानते हैं। लेकिन इससे देव आनंद को आगे बढ़ने की सीख मिली। बड़े भाई चेतन ने उन्हें यह कहते हुए शांत किया कि इस घटना से वह मजबूत होंगे। चेतन आनंद द्वारा निर्देशित उनकी पहली फिल्म अफसर 1950 में रिलीज हुई थी।

1954 में "नवकेतन" ने टैक्सी ड्राइवर बनायी। इसकी कहानी और संवाद उनके छोटे भाई विजय आनंद और भाभी यानी चेतन आनंद की पत्नी उमाजी ने लिखे थे। सेट पर रहते हुए उन्होंने एक छोटा ब्रेक लिया, और चुपके से मोना उर्फ कल्पना कार्तिक से कोर्ट में शादी कर ली। कल्पना कार्तिक उमा जी की मौसी की बेटी थी और लाहौर से थी पर शिमला में पढ़ती थी और मिस शिमला रह चुकी थीं।

उन्होंने 88 नायिकाओं के साथ काम किया जिनमें 26 चर्चित वरिष्ट अभिनेत्रियाँ थीं। उनका सभी के

साथ एक सहज मैत्रीपूर्ण, सम्मानजनक रिश्ता था। उन्होंने किसी का शोषण हो इसकी जानकारी नहीं मिलती।

उन्होंने हेमा मालिनी के साथ–9 फिल्मों में काम किया तो मधुबाला–8, वहीदा रहमान–8, जीनत अमान–8, और सुरैया–7 तथा गीता बाली के साथ–7 फिल्मों में काम किया। कल्पना कार्तिक–6, राखी–5, नलिनी जयवंत–4, नूतन–4, निरुपम राय–3, मीना कुमारी–3, वैजयंती माला–3, साधना–3, रागिनी–3, आशा पारिख–3, कामिनी कौशल–दो, नरगिस–दो, निम्मी–दो, उषा किरण–दो, शीला रमानी–दो, माला सिन्हा–दो, मुमताज–दो, सुचित्रा सेन–दो तथा अमिता, बीना राय, शर्मिला टैगोर, शकीला, हेमवती, खुर्शीद, रहमान, सायरा बानो, रामदा, शबाना, स्मिता पाटिल, रेखा, तनुजा, सिम्मी ग्रेवाल, परवीन बॉबी के साथ एक-एक फिल्म में काम किया। करीब 26 नई अभिनेत्रियों को उन्होंने फिल्मों में अवसर दिए।

बॉलीवुड में शायद ही कोई ऐसा होगा जिसने इतनी स्त्रियों के साथ इंटरैक्ट किया और इतनी स्त्रियाँ

देवानंद और कल्पना कार्तिक

मधुबाला के साथ

पर्ल पक और कल्पना कार्तिक

कल्पना कार्तिक के साथ

उनकी दीवानी रहीं फिर भी उन्हें सच्चा प्यार नहीं मिला। पत्नी के साथ रिश्तों में तनाव भी रहा पर वे एक पति की भूमिका आजीवन निभाते रहे।

देव साहब एक आधुनिक रूमानी अभिनेता थे। उन्हें तेज़ तर्रार साहसी कर्मठ और पॉजिटिव स्त्रियाँ पसंद रहीं। वे सबसे मित्रता करते थे। रोमांस उनके जीवन का मूलमंत्र था। लेकिन वह हल्का नहीं था, छिछला नहीं था। शायद यही कारण है कि उनसे इतनी बड़ी संख्या में स्त्रियाँ जुड़ीं। वे स्त्रियों को आगे देखना चाहते थे। वे विचारों से दकियानूस नहीं थे। वे स्त्री की आज़ादी के पक्षधर थे। "तीन देवियां" फिल्म एक तरह से उनके जीवन की भी फिल्म थी। उस फिल्म में जिस तरह तीन स्त्रियों में अपना सच्चा प्रेम खोजते रहे। उनके जीवन में भी यह खोज जारी रही।

उन्होंने जोकर, आइसक्रीम विक्रेता, सरदार, विदूषक, पुलिस और जासूस, सैनिक या अन्य सैन्य भूमिकाएँ, क्राइस्ट, डॉक्टर, लेखक, गायक, ब्लैक-मेलर, स्मगलर, पाकिटमार आदि की भूमिका निभाई।

कहा जाता है कि उन्होंने बॉलीवुड की करीब 1300 हस्तियां और व्यक्तियों साथ काम किया। लेकिन स्त्रियाँ उनके जीवन में हर कदम पर रही और उनका साथ फिल्मों में दिया। देव साहब पर उनका अटूट विश्वास था। स्त्रियों का विश्वास जीतना आसान काम नहीं। देव साहब में एक सच्चाई थी। काम और लगन तथा जीवटता की सच्चाई। जीवन की सच्चाई। वह अपने प्रेम को जीना चाहते थे।

देव साहब की जोड़ी हेमा मालिनी और वहीदा रहमान के साथ अधिक सफल रही। पर जवेल्थीफ और दुनिया में वैजयंती माला के साथ फिल्म चर्चित हुई। सुरैया, मधुबाला, नूतन, साधना, आशा पारिख के साथ उनकी फिल्में काफी पसंद की गईं। वैसे गाइड में देव और वहीदा की जोड़ी आदर्श एवं सफलतम जोड़ी मानी गयी। गाइड का टक्कर केवल तीसरी कसम ही दे सकती थी। दोनों साहित्यिक कृतियों पर बनी थीं और दोनों में वहीदा थीं।

देव की रुमानियत और आधुनिकता दिलीप और राजकपूर से अलग थी। दिलीप और राजकपूर ग्रामीण पृष्ठभूमि के पात्रों का भी अभिनय करते हैं धोती बंडी भी पहन लेते हैं पर देव साहब अक्सर पतलून कोर्ट टाई में ही नजर आते हैं। वे शहरी युवक की तरह दिखते हैं जो हमेशा हंसता रहता है। वह दिलीप की तरह ट्रेजडी किंग नहीं बनते न राजकपूर की तरह चार्ली चैपलिन की तरह अनाड़ीपन लिए। इसलिए उनकी नायिकाओं में एक अल्हड़पन शोखी चंचलता रुमानियत और उल्लास दिखाई देता है। अगर देवसाहब की नायिकाओं के किरदारों का अध्ययन किया जाए तो वह दिलीप राजकपूर की नायिकाओं के किरदारों से अलग होगा। उनके अध्ययन से भारतीय समाज में स्त्रियों की बदलती स्थिति का विश्लेषण किया जा सकता है। ●

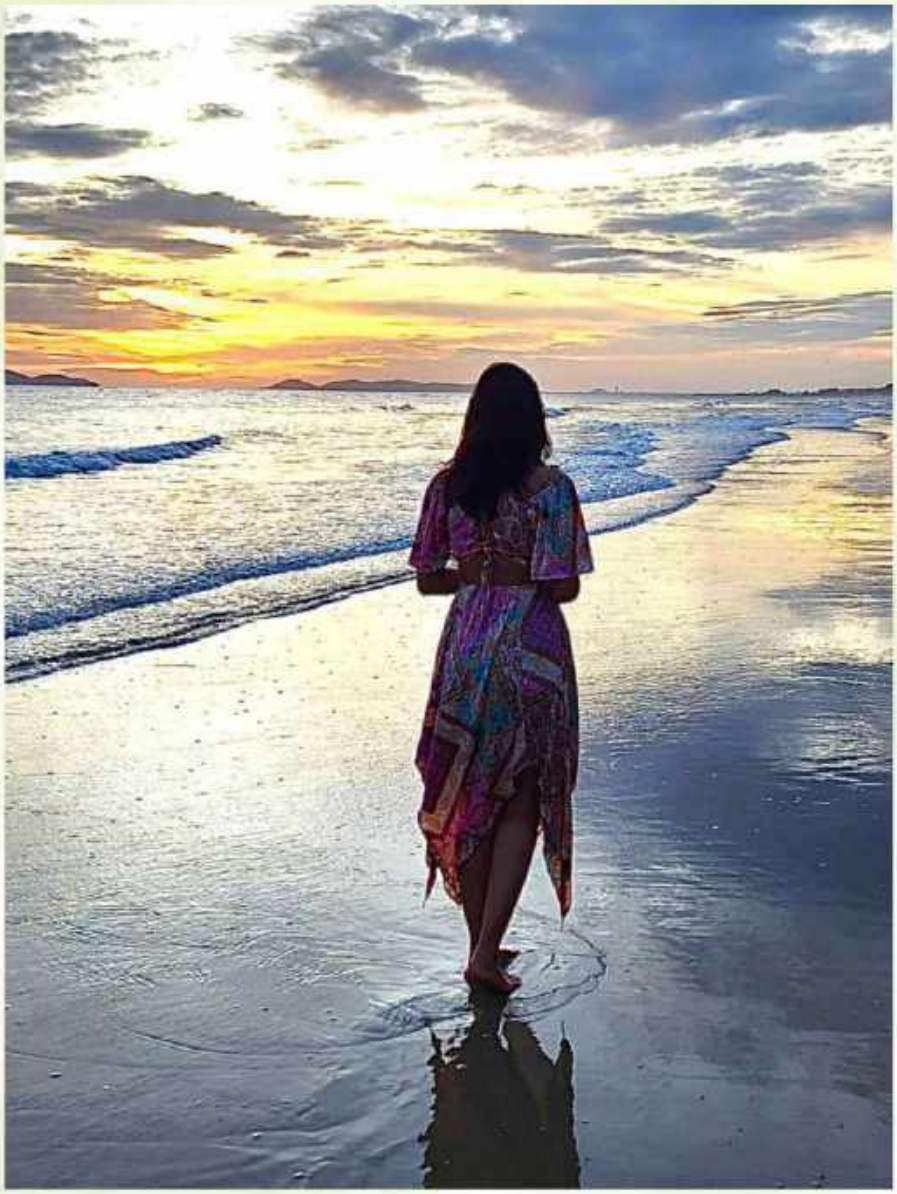

ओ तट! तुम यूँ भी बुदबुदाये

''हिंदी की युवा कथाकार और रंगकर्मी दिव्या विजय ने पिछले कुछ वर्षों में राष्ट्रीय स्तर पर अपनी पहचान बनाई है। वह आजकल काफी यात्राएँ भी करती हैं। उनका एक यात्रा संस्मरण दे रहे हैं।''

दिव्या विजय
मो० 7728822940

था ईलैंड के पूर्वी तट पर स्थित रेयोंग प्रांत का एक छोटा-सा ज़िला क्लेंग। यहीं पर है 'दंग केओ बीच'। समुद्र के इस किनारे पर मैं कितनी बार आयी, इसकी गिनती भूल चुकी हूँ पर हैरत की बात है कि हर बार यह उतना ही आकर्षक और मन के क़रीब लगता है, जितना पहली बार लगा था। घनिष्ट मित्र-सा निरापद और आरामप्रद। इस बार जब मैं यहाँ आ रही थी, गुड़िया ने कहा- ''कितनी बार जा चुकी हो यहाँ। इस बार किसी नयी जगह जाओ।'' हर महीने नयी जगह की खोज में निकल जाने वाली वह.. बात तो उसकी सही थी। नवीनता का रोगन, जीवन की जीर्णता को चमकीला कर देता है। किंतु इस बार नयी जगह खोजने की, यात्रा की योजना बनाने जितनी ऊर्जा नहीं थी। बस ठहराव चाहिए था। ऐसे दिन जिनमें न सैलानियों वाले स्थान देखने की अकुलाहट हो न कुछ छूट जाने की निराशा। रोज़ के दिनों की मुस्तैदी को अलसाए दिनों का अंतराल चाहिए था, अर्द्धविराम की तरह। एक छोटी मनचाही रुकावट के बाद फिर से भागने का उत्साह प्राप्त करने के लिए। छोटे, पड़ोसी क़स्बे ऐसे ही होते हैं। ज्ञात की बोझिलता और अज्ञात की आशंका, दोनों से परे। ज़रूरत पड़ने पर जो उँगली थाम लें और हाथ छुड़ाने पर नाराज़ भी न होने पाएँ।

कुछ स्थानों का सम्मोहन और सुगमता हमें बार-बार वहाँ खींच ले जाती है। यह वैसी ही एक जगह है। कुछ साल पहले जब पहली बार मैं यहाँ आयी थी तब यहाँ के सुबोध सौंदर्य से आबद्ध हो गयी थी, विस्मित भी। किसी चलचित्र में देखा गया या किसी उपन्यास में पढ़ा हुआ, जादुई-सा महसूस हुआ था यह तट। जहाँ लोग वक़्त काटने नहीं बल्कि प्रतीक्षा में भरकर आते हैं.. हर गर्मी 'समर हाउस' जाने की उत्कंठा में बिताए गए साल की-सी प्रतीक्षा। इसी दुनिया का हिस्सा होकर भी दुनियावी बातों से कटा हुआ। समय ज्यों किसी दूसरे काँटे से नियंत्रित, धीरे-धीरे गुज़र कर भी जल्दी बीत जाए। यहीं जाना था कि समंदर अथाह, विशाल फैलाव लिए होकर भी अपनी सीमाओं के नियंत्रण में रहता है। समझदार प्रेमी की तरह धरती को वहीं तक छूता है जितनी वह उसे अनुमति देती है। एक-एक कर यहाँ बिताये गए कुछ दिन जीवन भर की स्मृतियाँ मेरे हिस्से रख गये थे। इसके पश्चात् कुछ दिन या दिन के कुछ हिस्से बिताने मैं यहाँ आती रही। कभी-कभी हम अपने प्रिय व्यक्ति को खो बैठते हैं। कभी बाहरी कारकों की बजाय भीतर की पेचीदगियों के कारण। मुझे भी संशय होता कि अगर मैं यहाँ से ऊब गयी तो फिर कभी इस जगह नहीं आ सकूँगी। लेकिन इस बार यहाँ आने पर मेरा 'इनलाइटेनिंग मोमेंट' आया जब मुझे महसूस हुआ कि मुझे इस जगह से कभी ऊब नहीं होगी। घर से बाहर भी एक घर की लालसा सदा हमें घेरे रहती है, यह मेरे लिए वही जगह है। नये कोनों का उल्लास और पुरानी जगह की पहचान एक साथ समेटे हुए। कुछ लोग और कुछ जगह यथावत् रहती हैं हमारे मन में। मुझे मालूम है, मैं लौटती रहूँगी बार-बार यहाँ।

यहाँ बिताए गए दिन वे दिन हैं जब रोज़मर्रा के कामों में से कुछ नहीं करना। इस कुछ न करने के सुख में बहुत कुछ पा लेने का सुख है। पानी, धूप और रेत में से अपने मन का कुछ भी चुन लेना या कुछ न चुनकर खुद को चुन लेना। समंदर के गर्भ से निकले पहाड़ों को रात का कंबल ओढ़े देखना या समंदर पर अपनी झाईं डालते आसमान को देखना। हैमक पर लेटे हुए अरसे से पढ़ने के लिए रखी कोई किताब पढ़ना या तरणताल में उल्टे तैरते हुए घंटों गुज़ार

देना। रोज़ सुबह समंदर के आग़ोश में जागना और दिन उसी के आग़ोश में बिता देना। प्रेम हो तो वह स्पर्श कभी नीरस प्रतीत नहीं होता बल्कि हर बार उतना ही उद्दीप्त करता है।

आज तड़के टहलने गई तो कल शाम दिखे कुछ चेहरों ने अदब से सिर झुकाया। उत्तर में मैंने भी। एक छोटी पहचान जन्म लेने लगी है जो अगले कुछ दिनों तक रहेगी। फिर यह पहचान धुँधला जाएगी। इस पहचान में कोई ढकी-छिपी अपेक्षा नहीं। बस मुस्कुराहटों का आदान-प्रदान या आवश्यकता पड़ने पर मदद की तत्परता। समंदर से मित्रता को आतुर कुछ लोग सर्फ़िंग बोर्ड की मदद से लहरों से जूझ रहे थे पर लहरों की रफ़्तार बहुत तेज़ है ज्यों किसी दौड़ में शामिल हों। मिनट भर भी वे लोग उस रफ़्तार के आगे नहीं टिक पाए।

कुछ मछुआरे मंत्रणा करते हुए दिखे कि समंदर के भीतर जाएँ अथवा नहीं। उनकी नावें कुछ दूरी पर प्रतीक्षा में हैं। पर समंदर तो इन दिनों सुबह से रात तक करवटें बदल रहा है.. ज्वरग्रस्त बेचैन व्यक्ति की तरह जो किसी को खुद पर हाथ तक नहीं धरने देता। मछुआरे भी पानी में जाने का इरादा त्याग देते हैं।

दो लोग कुर्सी लगाए बैठे हैं.. एक जैसी टी शर्ट पहने। उनके कपड़ों पर किसी कम्पनी का नाम है। वे शायद किसी सेमिनार में आए हैं। एक उम्रदराज़ आदमी और कोंपल-सी लड़की। शर्माती हुई, सिर झुकाए धीरे-से कुछ कहकर रेशमी हँसी हँसती हुई। मैंने यहाँ इतनी लजीली लड़कियाँ नहीं देखीं कि संकोच में उनकी आँखें तक न उठने पाएँ। पर उसकी मुस्कुराहट कह रही है कि कुछ नया पनप रहा है उनके बीच। यहाँ उम्र का अंतर अधिक मायने नहीं रखता। एक पीढ़ी तक का अंतर सामान्य है पर कमउम्र हमेशा लड़की ही होती है।

दो छोटे बच्चे जो अपने माता-पिता के साथ मिट्टी के महल बनाने के लालच में जल्दी जाग गए हैं। आँखें मसलते हुए वे प्लास्टिक की छोटी बाल्टी में मिट्टी भरकर ला रहे हैं। नींद की दीवारों से टकराकर, उनका उत्साह छलके जा रहा है। उनके माता-पिता अपना अनुभव उन छोटे अनगढ़ हाथों को सौंप रहे हैं। मिट्टी-पानी सही अनुपात में मिलाते हुए वे अल्पकालीन इमारतें खड़ी कर रहे हैं। उन्हीं के पीछे नए बनते भवन में तत्परता से काम करते मज़दूर हैं। कल भी देर शाम तक उन्हें काम करते मैंने देखा था। अपने काम के प्रति अलस भाव उनमें नहीं है।

एक बूढ़ा आदमी धीरे-धीरे चलता हुआ। उसकी कमर पिछली बार से अधिक झुकी हुई प्रतीत हुई, उसकी गति भी पहले से धीमी हो गयी है पर वह रोज़ तीन से चार किलोमीटर टहलता है। बिना टी-शर्ट के भागता कसरती बदन वाला एक युवा भी है जिसे वह बूढ़ा आदमी ललक से देख रहा है। समय सभी के यौवन को पी जाता है।

यह तट शहर की टीम-टाम से बहुत दूर है। तट के ठीक सामने हैं कुछ होटल और कई ढाबे। होटलों में रहने वाले अक्सर खाने के लिए इन ढाबों पर चले आते हैं। सामान्यतः वही इनके ग्राहक होते हैं। इन

यह तट शहर की टीम-टाम से बहुत दूर है। तट के ठीक सामने हैं कुछ होटल और कई ढाबे। होटलों में रहने वाले अक्सर खाने के लिए इन ढाबों पर चले आते हैं। सामान्यतः वही इनके ग्राहक होते हैं। इन दिनों बारिश का मौसम है, ऑफ़-सीज़न है इसलिए लोगों की आवाजाही कम है। होटल न के बराबर भरे हैं लेकिन फिर भी ढाबे रोज़ खुलते हैं। ढाबे के पीछे बिस्तर डाल कर सोने वाले दुकानदार, सुबह उठते ही मंडी जाकर मछलियाँ और सब्ज़ियाँ जुटा लेते हैं। हालाँकि दिन भर में इक्का-दुक्का ग्राहक ही मिल पाते हैं पर इनकी आँखों की उम्मीद कभी नहीं मरती। इन्हीं में से एक ढाबा दो लड़कियाँ चलाती हैं जिन्हें पिछले कुछ सालों में मैंने एक बार भी मुस्कुराते नहीं देखा।

दिनों बारिश का मौसम है, ऑफ़-सीज़न है इसलिए लोगों की आवाजाही कम है। होटल न के बराबर भरे हैं लेकिन फिर भी ढाबे रोज़ खुलते हैं। ढाबे के पीछे बिस्तर डाल कर सोने वाले दुकानदार, सुबह उठते ही मंडी जाकर मछलियाँ और सब्ज़ियाँ जुटा लेते हैं। हालाँकि दिन भर में इक्का-दुक्का ग्राहक ही मिल पाते हैं पर इनकी आँखों की उम्मीद कभी नहीं मरती। इन्हीं में से एक ढाबा दो लड़कियाँ चलाती हैं जिन्हें पिछले कुछ सालों में मैंने एक बार भी मुस्कुराते नहीं देखा। सामने वाले की मुस्कुराहट के उत्तर में भी नहीं जैसे अपने ही किसी भाव की वे बंदी हो गयी हों।

केप टाउन से आया पुरुष अपनी स्पैनिश गर्लफ्रेंड के साथ उसी ढाबे की आरामकुर्सी पर पसरा है। उनका नवजात रोज़ की तरह आज भी पुरुष की गोद में है। स्त्री अपनी प्रेमिल आँखों से दोनों को देख रही है। वे दोनों लगभग रोज़ मुझे मिल जाते हैं.. बातचीत में सहज और सरल। स्त्री समंदर में तैरती है, फुट मसाज करवाती है, किताब पढ़ती है और सूरज का ताप लेते हुए कुछ देर सो जाती है। पुरुष शिशु को छाती से चिपकाए बीच-बीच में अपनी प्रेमिका को प्यार से छूता है। स्त्री भी स्पर्श में उसका अनुसरण करती है।

इस बार मिट्टी बहुत जगह से कटी हुई है। बारिश के ज़ोर की वजह से भी और नये बन रहे बंगलों के कारण जो पेड़ काटे गये इस वजह से भी। मिट्टी को जकड़े रखने के लिए कुछ बचा ही नहीं। हमारे पास भी कोई पेड़-सा व्यक्ति होना चाहिए जो हमें जकड़े रहे जीवन से। मिट्टी कटने से बड़े-बड़े नाले-से बन गये हैं। उन नालों से बह आता पानी बहुत-सी गंदगी साथ लाकर समंदर में मिला दे रहा है। समंदर जानबूझकर दूसरों की ग़लतियों को नज़रअंदाज़ करते अच्छे आदमी की तरह सब देखते हुए भी आँखें मूँदे रहता है। किसी रोज़ उसका सब्र टूटेगा तब!

एक उल्टी चप्पल पड़ी है। तला घिसा हुआ, पट्टियों का रंग उड़ा हुआ। अपने होने को लेकर हिचक से भरी हुई। शायद रात कोई नीमबेहोशी में छोड़ गया हो। एक मन होता है उसे सीधा कर दूँ कि बचपन से यही सीख मिली है। अवचेतन में यह संस्कार इस तरह पैठा है कि चप्पल उल्टी देखते ही उसे सीधा करने के लिए खुद-ब-खुद पैर आगे बढ़ जाते हैं। उल्टी चप्पलों के साथ कितनी किंवदंतियाँ जुड़ी हैं शायद इसीलिए कि हम उन्हें सीधा कर दें लेकिन मैं उसे ऐसे ही छोड़ आगे बढ़ जाती हूँ। आख़िर रास्ते में पड़ी-गिरी चीज़ों से दूर रहने की सीख भी तो बचपन से ही साथ आयी है।

एक मरा हुआ पक्षी, एक मरी हुई मछली.. समंदर उन्हें यहाँ लाकर पटक गया है। अपनी देह की सुंदरता को मिट्टी करते वे पड़े हैं उदासीन। देह का, दुनिया का जाल साँस रहने तक ही तो है। फिर न जीवन रहता है, न उस से संबंधित जद्दोजहद। न आनंद प्राप्त करने की चाहना, न किसी तक पहुँचने की.. किसी से दूर जाने की अभिलाषा।

इस बार यहाँ की मिट्टी कीटों से अटी पड़ी है। वे जो मिट्टी में छेद कर अपना घर बना लेते हैं। पूरा तट इन्हीं से भरा है, लाखों की संख्या में। हालाँकि वे नुक़सान नहीं पहुँचाते। कदमों की आहट आते ही उन छेदों में जा दुबकते हैं। क्या वे अपने बनाए घर में ही जाते होंगे या किसी भी घर में! शायद यहाँ अपने-पराये का गणित नहीं होता।

एक होटल के पूल में स्त्री तैरती दिखाई पड़ रही है। दो छोटे और एक बहुत छोटे बच्चे की माँ। छोटा वाला भूख से कुलबुलाता है तो आया से बच्चे को लेकर, कंधे से लगा पूल में ही दूध पिला देती है। झिझक, संकोच से परे। कुछ ही मिनटों में बच्चा संतुष्ट हो किलकारियाँ मारने लगता है। बाक़ी दोनों बच्चे भी माँ

के पास सिमट आते हैं। तीनों खिलखिलाने लगते हैं। ऐसा अनमेल दृश्य.. भारत में कभी नहीं देखा। यहाँ अलग-अलग प्रकार से कई बार देखा है। किसी भी प्रश्न से परे, स्त्रियाँ अपने बच्चों को जहाँ चाहे स्तनपान करवा सकती हैं। महल में, अस्पतालों में, इमारतों में इसके लिए सुविधाएँ भी हैं फीडिंग रूम के रूप में और जहाँ यह सुविधा नहीं वहाँ कम-से-कम घूरती हुई आँखें और मज़ाक उड़ाती हँसी नहीं हैं।

उसी होटल में काम करने वाली दो लड़कियाँ सजावट के काम में लीन हैं। तीन बाँसों को टिका कर चंदोवा तान दिया है। उस पर चारों तरफ फूल लगेंगे। रेशम का महीन लाल कपड़ा जिसे मेज और दोनों कुर्सियों पर कसकर बाँधा जाएगा। एक साइकिल, वह भी फूलों से सजी अपनी जगह टिकाये जाने के लिए क्यू में है। 'विल यू मैरी मी' का बोर्ड जो कुछ देर बाद किसी के हाथ में होगा, किसी के हामी भरने के इंतज़ार में। समंदर ऐसी कितनी ही मुहब्बतों का, बनते-बिगड़ते रिश्तों का गवाह होता होगा। एक लड़का उगते सूरज की रोशनी में लड़की की तस्वीरें उतार रहा है। ये दोनों कल भी थे पर शाम को लड़की की बिकिनी का रंग जुदा था।

आज सुबह चार बजे से तेज़ बारिश थी। इतनी तेज़ कि नींद ही टूट गयी थी। बालकनी में आकर प्रकृति की वाचालता देखते हुए सोच रही थी कि आज शायद टहलने नहीं जा सकूँगी। बारिश रुक भी गयी तो मिट्टी चिपचिपी होगी जिस पर चलने में तकलीफ़ आएगी लेकिन तटों की मिट्टी पानी पीना जानती है। मिट्टी सख़्त और चलने लायक थी। कहीं से भी धँसी हुई नहीं। उस पर से बारिश के बिछ इस तरह धुल चुके थे ज्यों पहले की लिखाई डस्टर से मिटा डाली गयी हो।

फिनलैंड से आकर यहाँ बस गए दो अधेड़ पुरुष, पिछले दो सालों से मिल रहे हैं। छाती तक की दाढ़ी और भी सफ़ेद और चमकीली हो गयी है। प्रेम ऐसी ही खिलावट ले आता है। उनका घर इस बार पूरी तरह बन चुका है और वे बरामदे में बैठे सुबह की चाय पी रहे हैं। दोनों की आँखों में एक-दूसरे के साथ का मान था और देखा गया स्वप्न पूरा होने की खुशी भी। उन्होंने देखते ही उचक कर आवाज़ दे डाली। उन्हें मेरा नाम याद था। मैंने हाथ उठा कर उन्हें हेलो कहा। वापसी में मिलूँगी उनसे। नहीं तो वे ही मिलने चले आएँगे। बातों के शौकीन ठहरे वे।

दो दिन से टहलते समय कुत्ते नहीं मिल रहे। मुझे यही आशंका थी कि कुत्तों का आतंक पिछले दो दिनों की तरह रहा तो क्या ही वॉक हो सकेगी। सप्ताह के अंत में जाने कहाँ से कुत्ते आ जुटते हैं। क्या कुत्ते भी मनुष्य की संगत में वीकेंड मनाना सीख गए हैं? या वीकेंड पर आने वाले लोगों के साथ आये कुत्तों को देख आसपास के कुत्ते भी इस उत्सव में शामिल हो जाते हैं। अपनी टेरिटरी मार्क करने के लिये ज्यों भौंक-भौंक कर नये आने वाले कुत्तों को युद्ध का निमंत्रण देते हों लेकिन नये कुत्ते अपने मालिकों के इशारे पर एक तय सीमा से आगे नहीं बढ़ते। बस दूर से भौंक कर उन्हें जवाब देते रहते हैं। हारना दोनों में से कोई नहीं चाहता। गोवा के तटों के मुकाबले यहाँ

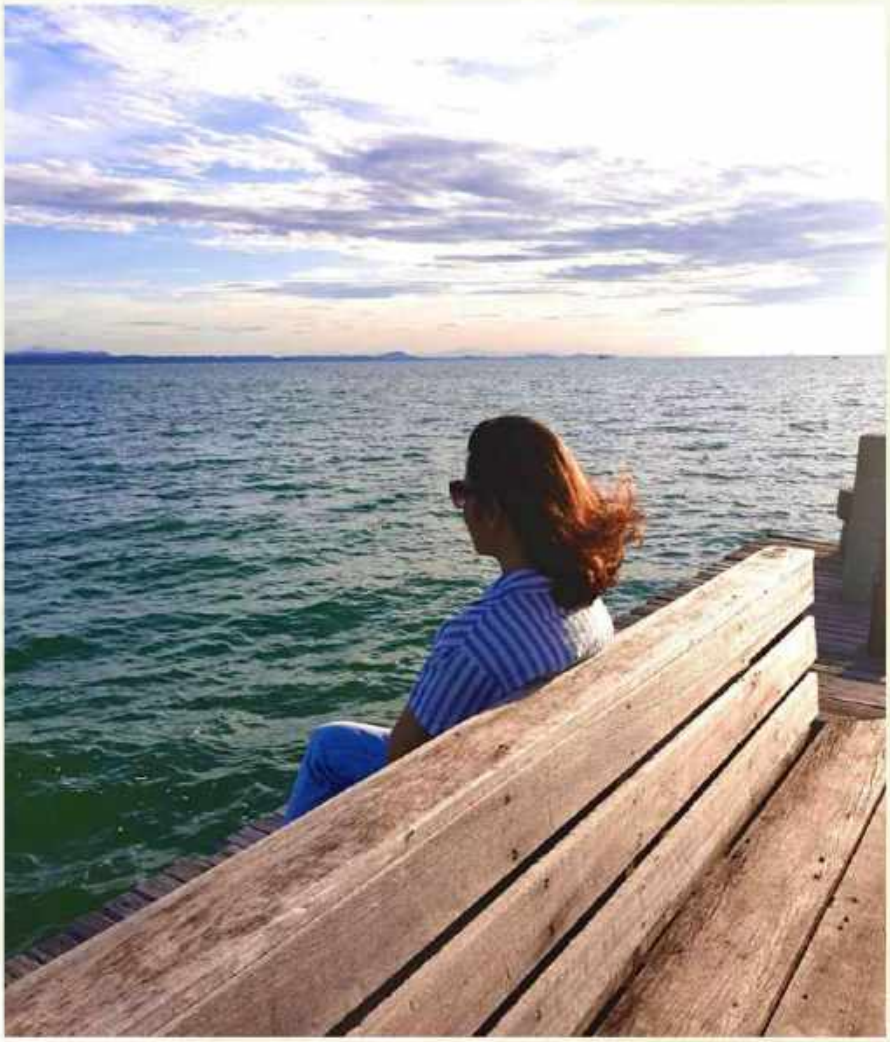

फ़िनलैंड से आकर यहाँ बस गए दो अधेड़ पुरुष, पिछले दो सालों से मिल रहे हैं। छाती तक की दाढ़ी और भी सफ़ेद और चमकीली हो गयी है। प्रेम ऐसी ही खिलावट ले आता है। उनका घर इस बार पूरी तरह बन चुका है और वे बरामदे में बैठे सुबह की चाय पी रहे हैं। दोनों की आँखों में एक-दूसरे के साथ का मान था और देखा गया स्वप्न पूरा होने की खुशी भी।

कुत्ते न के बराबर हैं पर मनुष्यों के पीछे भागने, उन्हें सूँघने और भौंकते चले जाने का शौक एकदम वही है।

एक दोस्त का फ़ोन आया। इन दिनों अक्सर उसका स्वर डूबा रहता है। मैंने उस से पूछा क्या वह सारा समय ऐसा ही रहता है। उसने कहा सबके सामने उदास नहीं रहा जा सकता पर मुझसे बात करते हुए उसकी उदासी उभर आती है। उसे रात भर नींद नहीं आती। वह कई दिनों से नहीं सोया। उसे डर है वह पागल न हो जाये। वह नींद की गोलियाँ निगल कर भी ठीक से नहीं सो पाता। अब अपनी डोज़ बढ़ाना चाहता है। मुझे उसके लिए डर लगता है। हम दवाई के विकल्पों पर बात करते हैं लेकिन किसी समाधान तक नहीं पहुँच पाते। फ़ोन रखते समय उसने कहा उसका आज का दिन ख़राब हो गया। "क्या इसका हुआ?", मैंने उस से पूछा। उसने कहा अब सारा दिन उस पर उदासी तारी रहेगी। मैंने हँस कर पूछा, "अब क्या?" उसने कहा चाहे तो मैं कल फिर से उसका दिन ख़राब कर सकती हूँ। हम दोनों हँसने लगे। किसी भी रिश्ते में एक समय बाद ग़लतफ़हमियों की जगह नहीं रहती। उसकी रोज़मर्रा की एकरस ज़िंदगी में समंदर की चहकती आवाज़ दिनों बाद घटी एक सुंदर घटना है। मुझे बेसाख़्ता ही कल रात बादलों में बुकमार्क की तरह अटका चाँद याद आया।

लौटते हुए नोटिस करती हूँ हर बड़े पेड़ पर झूला बँधा हुआ है। ख़ाली पड़े घरों के आगे, बंद पड़े छोटे होटलों के आगे। कभी कोई आता होगा, उस झूले पर बैठता होगा, कुछ लम्हों के लिए वह पेड़ गुलज़ार होता होगा। फिर वह अकेला पड़ जाता होगा। अगली बार किसी के आने तक के इंतज़ार में। ●